

फरवरी, 2018

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका



विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

प्रस्तावित संपादक-मंडल

डा. जी. नारायण राजू, सचिव, विधायी विभाग	श्री कृष्ण गोपाल अग्रवाल, सेवानिवृत्त संपादक, वि.सा.प्र.
डा. रीटा वशिष्ठ, अपर सचिव, विधायी विभाग	श्री अनुराग दीप, एसोसिएट प्रोफेसर, भारतीय विधि संस्थान
श्री एस. आर. ढलेटा, सेवानिवृत्त संयुक्त सचिव एवं विधायी परामर्शी, विधायी विभाग	डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय, प्रधान संपादक
डा. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रिन्सिपल, विधि विभाग, डी आई आर डी, गुरु गोविंद सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय	श्री कमला कान्त, संपादक
श्री ए. के. अवस्थी, सेवानिवृत्त प्रोफेसर एवं डीन लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ	श्री अविनाश शुक्ला, संपादक
श्री एल. आर. सिंह, प्रोफेसर एवं डीन इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद	श्री असलम खान, संपादक

सहायक संपादक : श्री पुण्डरीक शर्मा

उप-संपादक : सर्वश्री महीपाल सिंह और जसवन्त सिंह

ISSN- 2457-0494

कीमत : डाक-व्यय सहित

एक प्रति : ₹ 195/-

© 2018 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

प्रकाशन और विक्रय प्रबंधक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय (विधायी विभाग),
भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा..... द्वारा मुद्रित ।

संपादकीय

श्रीमद् भागवत में यह कहा गया है – ‘वेद प्रणहितो धर्मो अर्धस्त द्विपर्ययः’ अर्थात् वेद में जो कहा गया है वहीं धर्म है उसके विपरीत अधर्म है। हिंदू यह मानते हैं कि वेद ईश्वर की ओर से मनुष्य को प्राप्त हुए तथा वेद प्राचीनतम हैं। हिंदू वेद को पूर्ण ईश्वरी ज्ञान के रूप में मानते हैं। कालांतर में, हिंदू धर्म की विकृतियों, अंधविश्वासों और खराबियों को दूर करने और सुधार करने के लिए स्वतंत्रता के पश्चात् भारत की विधायिका ने हिंदू धर्म की सामाजिक संस्थाओं को नियमबद्ध बनाने के लिए हिंदू विवाह अधिनियम, 1955, हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 आदि अनेक अधिनियम अधिनियमित किए और लागू किए।

विवाह एक सामाजिक संस्था है। समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिए पुरुष और स्त्री को एक वैवाहिक बंधन में बांधा जाता है जिससे अनेक धार्मिक और सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति हो सके। विवाह-विच्छेद की घटनाएं बढ़ती जा रही हैं। विवाह के दोनों पक्ष क्रूरता के आधार पर एक दूसरे से अलग होने के लिए मनगढ़ंत बहाने खोज रहे हैं। इसी संदर्भ में, माननीय उच्चतम न्यायालय ने **सुमन सिंह बनाम संजय सिंह** [2018] 1 उम. नि. प. 161 वाले मामले में यह निर्णय दिया कि हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13(1)(i) के अधीन पति द्वारा विवाह-विच्छेद की अर्जी फाइल करने की तारीख से 8-10 वर्ष पूर्व घटित ऐसी इक्का-दुक्का घटना, जिन्हें पक्षकारों के समझौतावादी व्यवहार के आधार पर माफ कर दिया गया हो, क्रूरता गठित नहीं करती।

राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2016 एक ऐसा कल्याणकारी विधान है जिसका उद्देश्य अंतरराष्ट्रीय बहुपक्षीय संधियों के प्रति भारत की प्रतिबद्धता को पूरा करना और देश में विद्यमान अनियंत्रित कुपोषण की स्थिति का उन्मूलन करना है। अनेक राज्य सरकारों द्वारा उक्त अधिनियम का तत्परतापूर्वक पालन किए जाने के कारण उद्भूत हुए **स्वराज अभियान (v)** बनाम **भारत संघ और अन्य** [2018] 1 उम. नि. प. 187 वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि भारत में लागू सांविधानिक स्कीम के अनुसार केंद्रीय सरकार, राज्य सरकार और अन्य अभिकरण सहकारी संघवाद के पोषित सांविधानिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निरंतर बैठकें करते हैं और समस्याओं का निराकरण करते हैं। उच्चतम

(ii)

न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि अभिलेख से यह उपदर्शित होता है कि अधिनियम के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए विशेषकर सूखाग्रस्त क्षेत्रों में, केंद्र और राज्य, दोनों द्वारा एक संयोजित प्रयास करने की आवश्यकता है जिससे कि लोगों को अत्यंत गरीबी और खराब जीवन स्तर से बचाया जा सके। राज्यों को इस मामले पर अधिक गंभीरता से विचार करना चाहिए और अधिनियम की भाषा और भाव की दृष्टि से कार्यान्वित करना चाहिए।

राजेश शर्मा बनाम उत्तर प्रदेश राज्य [2018] 1 उम. नि. प. 222 वाले एक अन्य महत्वपूर्ण निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने भारतीय दंड संहिता, 1860 की 498क के अधीन इस धारा का दुरुपयोग करते हुए की जाने वाली अनावश्यक गिरफ्तारी या असंवेदनशील अन्वेषण के विरुद्ध कतिपय रक्षोपायों पर विचार किया। इस मामले में न्यायालय ने कतिपय निदेश दिए हैं जो इस धारा के अधीन पीड़ितों के लिए बहुत फायदाप्रद होंगे।

इसके अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय द्वारा अनेक महत्वपूर्ण मुद्दों का समाधान किया गया है। इस अंक में लोगों के ज्ञान के लिए वैयक्तिक क्षति (प्रतिकर बीमा) अधिनियम, 1963 का हिंदी पाठ प्रकाशित किया गया। प्रिवी काउंसिल के 1.4.1938 से 14.7.1938 तक निर्णयों के हिंदी पाठ और शीर्ष टिप्पण आम जानकारी के लिए प्रकाशित किए जा रहे हैं। आपके द्वारा इस अंक या अन्यथा के संबंध में भेजे गए सुझावों पर गहनता से विचार किया जाएगा।

आपका
डा. मिथिलेश चंद्र पांडेय
प्रधान संपादक

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

फरवरी, 2018

निर्णय-सूची

पृष्ठ संख्या

कर्मचारी राज्य बीमा निगम और एक अन्य बनाम मंगलम पब्लिकेशन्स (इंडिया) प्रा. लि.	241
नगर पालिका, रायसिंहनगर बनाम रामेश्वर लाल और एक अन्य	280
पंकजभाई रमेशभाई जलवादिया बनाम जेथाभाई कालाभाई जलवादिया	259
बिमल किशोर पालीवाल और अन्य बनाम धन-कर आयुक्त	298
राजेश शर्मा और अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य	222
राम नाथ साव उर्फ राम नाथ साहू मृत, विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत बनाम गोबर्धन साव, मृत, विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत और अन्य	173
सुमन सिंह बनाम संजय सिंह	161
स्वराज अभियान (V) बनाम भारत संघ और अन्य	187
हिमांगी इंटरप्राइजेज बनाम कमलजीत सिंह अहलूवालिया	287
संसद् के अधिनियम	
वैयक्तिक क्षति (प्रतिकर बीमा) अधिनियम, 1963	1 – 22
प्रिवी काँसिल के निर्णय	1 – 96

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 (1948 का 34)

— धारा 2(22) — मजदूरी दरों के पुनरीक्षण के लंबित रहने के दौरान नियोजक (प्रत्यर्थी) द्वारा अपने कर्मचारियों को अंतरिम राहत की रकम का संदाय — कर्मचारी राज्य बीमा अभिदाय का संदाय न किया जाना — अंतरिम राहत का संदाय निश्चित रूप से धारा 2(22) में अंतर्विष्ट “मजदूरी” की परिभाषा के अंतर्गत आता है और नियोजक कर्मचारी राज्य बीमा अभिदाय का संदाय करने के लिए दायी है ।

कर्मचारी राज्य बीमा निगम और एक अन्य बनाम मंगलम पब्लिकेशन्स (इंडिया) प्रा. लि.

241

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45)

— धारा 498क — पति और नातेदारों द्वारा क्रूरता — धारा 498क का दुरुपयोग — 498क के अधीन परिवाद में केवल पति को समन करने पर परिवादी द्वारा पति के नातेदारों को भी समन करने के लिए पुनरीक्षण — उच्चतम न्यायालय द्वारा धारा 498क के दुरुपयोग को रोकने के लिए कतिपय निदेश जारी किए गए ।

राजेश शर्मा और अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य

222

धन-कर अधिनियम, 1957 (1957 का 27)

— धारा 7 और 16क — चालू कारबार के मामलों में संपत्ति का मूल्यांकन — निर्धारण अधिकारी द्वारा विभागीय मूल्यांकन अधिकारी को निर्देश — धन-कर अधिकारी चालू कारबार के मामलों में धारा 7(1) में उपबंधित आस्तियों के प्राक्कलित मूल्य के आधार पर मूल्यांकन की प्रसामान्य पद्धति के बजाय धारा 7(2)(क) में यथा उपबंधित संपूर्ण कारबार

की आस्तियों के शुद्ध मूल्य का अवधारण करके मूल्यांकन करने की शक्ति एक वैवेकिक और सामर्थ्यकारी शक्ति है तथा धन-कर अधिकारी सभी मामलों में आज्ञापक रूप से इस पद्धति को अपनाने के लिए आबद्धकर नहीं है, अतः निर्धारण अधिकारी द्वारा चालू सिनेमा कारबार की आस्तियों का उक्त पद्धति के आधार पर निर्धारण करना उचित था ।

बिमल किशोर पालीवाल और अन्य बनाम धन-कर आयुक्त

298

राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 (2013 का 20)

— धारा 1, 14, 15, 16, 28 और 29 — अधिनियम का कार्यान्वयन — चूंकि अधिनियम के अधिनियमित किए जाने से चार वर्ष व्यतीत हो जाने के बावजूद अनेक राज्य सरकारों द्वारा क्रियाशील राज्य खाद्य आयोग की स्थापना न किए जाने और धारा 28 के अधीन न तो सामाजिक संपरीक्षा कराए जाने और न ही धारा 29 के अधीन कोई सतर्कता समिति स्थापित किए जाने से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि राज्य सरकारों को अधिनियम के उपबंधों को कार्यान्वित करने की चिन्ता नहीं है इसलिए अधिनियम के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए निदेश जारी किए गए ।

स्वराज अभियान (V) बनाम भारत संघ और अन्य

187

संविधान, 1950

— अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 का आदेश 39 का नियम 1] — सिविल अपील — व्यादेश — बेकब्जा करने की आशंका — वादी के पक्ष में वाद भूमि का पट्टा और कब्जा साबित होना — उसे उससे बेकब्जा करने की कोशिश करने की आशंका होना —

बेकब्जा करने के विरुद्ध व्यादेश के लिए वाद फाइल करना
— वाद डिक्री होना — यदि वाद भूमि पर वादी का कब्जा है
और उसे उसने विधिपूर्ण तरीके से पट्टे पर प्राप्त किया है
तो अन्यायोचित तरीके से उसे उससे बेकब्जा नहीं किया जा
सकता है और बेकब्जा के विरुद्ध उसके पक्ष में पारित
व्यादेश की डिक्री युक्तियुक्त और विधिमान्य होगी ।

**नगर पालिका, रायसिंहनगर बनाम रामेश्वर लाल और
एक अन्य**

280

— अनुच्छेद 133 [सपठित माध्यस्थम् और सुलह
अधिनियम, 1996 की धारा 8 और संपत्ति अंतरण
अधिनियम, 1882] — सिविल अपील — किसी करार से
उद्भूत होने वाले विवादक — करार में माध्यस्थम् खंड
अंतर्विष्ट होना — करार की विधिमान्यता समाप्त होना — यदि
करार करते समय भविष्य में उससे उद्भूत होने वाले
विवादक के बारे में, कोई माध्यस्थम् खंड अंतर्विष्ट है तो
उस विवादक को मध्यस्थ के पास तभी तक निर्दिष्ट किया
जा सकता है जब तक कि ऐसे करार की विधिमान्यता बनी
रहती है, अन्यथा नहीं ।

**हिमांगी इंटरप्राइजेज बनाम कमलजीत सिंह
अहलूवालिया**

287

— अनुच्छेद 256 — राज्यों की और संघ की बाध्यता
— संसद् द्वारा पारित विधियां — राज्य सरकारों/संघ-राज्यक्षेत्रों
द्वारा संसदीय विधियों का अनुपालन — संघ सरकार राज्य
सरकारों से संसदीय विधियों के अनुपालन की अपेक्षा करने
के संबंध में अपनी विवशता का अभिवाक् नहीं कर सकती ।

स्वराज अभियान (V) बनाम भारत संघ और अन्य

187

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5)

— आदेश 22, नियम 4 और आदेश 1, नियम 10 —

पक्षकार बनाया जाना — जहां वाद फाइल करने के पूर्व ही प्रतिवादी की मृत्यु हो गई हो वहां प्रतिवादी के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार बनाए जाने के लिए आदेश 22, नियम 4 का अवलंब नहीं लिया जा सकता बल्कि आदेश 1, नियम 10 का अवलंब लेकर मृतक प्रतिवादी के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों को न्यायहित में पक्षकार बनाया जा सकता है ।

पंकजभाई रमेशभाई जलवादिया बनाम जेथाभाई
कालाभाई जलवादिया

259

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 (1956 का 30)

— धारा 6, स्पष्टीकरण 1 और परंतुक [संपठित हिंदू वूमेन्स राइट्स टू प्रापर्टी ऐक्ट, 1937 की धारा 3(2)] — मिताक्षरा अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति का विभाजन — हिस्सों का आबंटन — मूल वंशज की वर्ष 1940 में मृत्यु हो जाने पर उसकी विधवा का अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति में विभाजन होने तक उतना हित बना रहा जितना उसके पति का था और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका आधा हिस्सा उसकी पुत्री को और अन्य आधा हिस्सा मूल वंशज के पुत्र को तथा वर्ष 1961 में उसकी मृत्यु के पश्चात् विल के अभाव में निर्वसीयती उत्तराधिकार के अनुसार उसकी शाखा के उत्तराधिकारों में विभाजित होगा ।

राम नाथ साव उर्फ राम नाथ साहू, मृत, विधिक
प्रतिनिधियों की मार्फत बनाम गोबर्धन साव, मृत,
विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत और अन्य

173

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 (1955 का 25)

— धारा 9 — दांपत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन — चूंकि पति विवाह-विघटन के लिए पत्नी के विरुद्ध अपने मामले को

सिद्ध करने में असफल रहा है और परिणामस्वरूप पक्षकारों के बीच विवाह अस्तित्वशील है, इसलिए, दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए पत्नी की अर्जी मंजूर करने योग्य है ।

सुमन सिंह बनाम संजय सिंह

161

— धारा 13(1)(i-क) — विवाह-विच्छेद — क्रूरता — पति द्वारा विवाह-विच्छेद की अर्जी फाइल करने की तारीख से 8-10 वर्ष पूर्व घटित ऐसी इक्का-दुक्का घटनाएं जिन्हें पक्षकारों के समझौतावादी व्यवहार के कारण माफ कर दिया गया हो, धारा 13(1)(i-क) के अर्थातर्गत क्रूरता गठित नहीं करती और इस आधार पर विवाह-विच्छेद की डिग्री पारित नहीं की जा सकती है ।

सुमन सिंह बनाम संजय सिंह

161

[2018] 1 उम. नि. प. 161

सुमन सिंह

बनाम

संजय सिंह

8 मार्च, 2017

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 (1955 का 25) – धारा 13(1) (i-क) – विवाह-विच्छेद – क्रूरता – पति द्वारा विवाह-विच्छेद की अर्जी फाइल करने की तारीख से 8-10 वर्ष पूर्व घटित ऐसी इक्का-दुक्का घटनाएं जिन्हें पक्षकारों के समझौतावादी व्यवहार के कारण माफ कर दिया गया हो, धारा 13(1)(i-क) के अर्थातर्गत क्रूरता गठित नहीं करती और इस आधार पर विवाह-विच्छेद की डिक्री पारित नहीं की जा सकती है ।

हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 – धारा 9 – दांपत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन – चूंकि पति विवाह-विघटन के लिए पत्नी के विरुद्ध अपने मामले को सिद्ध करने में असफल रहा है और परिणामस्वरूप पक्षकारों के बीच विवाह अस्तित्वशील है, इसलिए, दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए पत्नी की अर्जी मंजूर करने योग्य है ।

मामले के तथ्यों के अनुसार, अपीलार्थी-पत्नी और प्रत्यर्थी-पति के बीच हिंदू रीति-रिवाज के अनुसार तारीख 26 फरवरी, 1999 को विवाह अनुष्ठापित हुआ था । प्रत्यर्थी-पति राष्ट्रीय राजधानी राज्यक्षेत्र दिल्ली सरकार में “केयर टेकर” के रूप में कार्यरत है जबकि अपीलार्थी एक गृहणी है । इस विवाह-बंधन से दो पुत्रियां पैदा हुईं । प्रत्यर्थी ने विवाह के पश्चात् की कुछेक घटनाओं के आधार पर तारीख 11 जुलाई, 2010 को अपीलार्थी के विरुद्ध विवाह के विघटन के लिए कुटुम्ब न्यायालय, रोहिणी, दिल्ली में हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 13 के अधीन एक अर्जी फाइल की । प्रत्यर्थी ने विवाह के विघटन की डिक्री की ईप्सा सारभूत रूप से “क्रूरता” के आधार पर की । प्रत्यर्थी ने अपनी अर्जी में कुछ ऐसे दृष्टांतों

का अभिवाक् किया जो, उसके अनुसार, अपीलार्थी के विरुद्ध उसे विवाह के विघटन के दावे का हकदार बनाते हुए धारा 13(1)(i-क) के अर्थातर्गत “क्रूरता” का गठन करते हैं। अपीलार्थी (पत्नी) ने अपना लिखित कथन फाइल किया और इन अभिकथनों से इनकार किया। अपीलार्थी ने उन्हीं कार्यवाहियों में अधिनियम की धारा 9 के अधीन अर्जी फाइल करके प्रत्यर्थी के विरुद्ध दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए भी आवेदन किया और अपनी अर्जी में अन्य बातों के साथ-साथ यह अभिकथन किया कि प्रत्यर्थी ही था जिसने अपने को किसी युक्तियुक्त प्रतिहेतु के बिना उसके साहचर्य से प्रत्याहृत कर लिया था। उसने प्रत्यर्थी द्वारा गठित किए गए मामले से इनकार करते हुए दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के अपने मामले को न्यायोचित ठहराया। कुटुम्ब न्यायालय ने तारीख 14 दिसंबर, 2012 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी द्वारा फाइल की गई अर्जी मंजूर की। यह अभिनिर्धारित किया गया कि प्रत्यर्थी द्वारा अभिकथित आधार अधिनियम की धारा 13(1)(i-क) के अर्थातर्गत मानसिक क्रूरता की कोटि में आते हैं और प्रत्यर्थी द्वारा इन आधारों को साबित किया गया है, इसलिए वह अपीलार्थी के विरुद्ध विवाह विघटन की डिक्री के लिए दावा करने का हकदार है। तदनुसार, विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी के पक्ष में विवाह विघटन की डिक्री प्रदान की और विवाह को विघटित कर दिया। चूंकि अपीलार्थी के विरुद्ध विवाह के विघटन की डिक्री पारित की गई थी, इसलिए अपीलार्थी द्वारा दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की ईप्सा करते हुए प्रत्यर्थी के विरुद्ध फाइल की गई अर्जी खारिज कर दी गई। अपीलार्थी ने उपर्युक्त आदेश से व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष प्रथम अपीलें फाइल कीं। उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा अपीलों को खारिज कर दिया और विचारण न्यायालय के निर्णय/डिक्री की अभिपुष्टि की। अपीलार्थी पत्नी ने उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर विशेष इजाजत लेकर उच्चतम न्यायालय में अपीलें फाइल कीं। उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित — इस न्यायालय का यह मत है कि जो घटनाएं वर्ष 2006 से पूर्व घटी थी, उनका क्रूरता के दृष्टांतों को साबित करने के लिए अवलंब नहीं लिया जा सकता है क्योंकि उन्हें पक्षकारों के कृत्यों द्वारा माफ कर दिया गया समझा जाएगा। जहां तक वर्ष 2006 के पश्चात् के अभिकथित दृष्टांतों का संबंध है, वे इक्का-दुक्का दृष्टांत होने के कारण उनसे क्रूरता का कृत्य गठित नहीं होता है। ऐसी कुछ इक्का-

दुक्का घटनाओं के आधार पर विवाह-विच्छेद की ईप्सा करते हुए फाइल की गई अर्जी, जो अभिकथित रूप से अर्जी फाइल करने की तारीख से 8-10 वर्ष पूर्व घटी थी, ऐसी घटनाओं के घटने के 10 या अधिक वर्षों के पश्चात् विवाह-विच्छेद की ईप्सा करने के लिए अस्तित्वशील वादहेतुक प्रस्तुत नहीं हो सकता है। अभिकथित घटनाओं की प्रकृति, आवृत्ति या सतत प्रकार की होनी चाहिए और वे अर्जी फाइल करने के निकट में घटित हुई होनी चाहिए। बहुत पहले की कुछेक घटनाओं से और वह भी जब यह पाया गया है कि पक्षकारों के समझौतावादी व्यवहार के कारण उनके लिए माफी दे दी गई थी, अधिनियम की धारा 13(1)(i-क) के अर्थातर्गत क्रूरता का कृत्य गठित नहीं हो सकता है। इस न्यायालय की सुविचारित राय में, दोनों निचले न्यायालय मामले के इस तात्त्विक पहलू पर विचार करने में असफल रहे हैं और इस प्रकार विवाह के विघटन की डिक्री पारित करके अधिकारिता संबंधी गलती की है। अतः, यह न्यायालय उच्च न्यायालय के दृष्टिकोण का समर्थन नहीं कर सकता है क्योंकि उसने, सर्वप्रथम, अर्जी में लिए गए आधारों की यह पता लगाने के लिए परीक्षा नहीं की कि क्या ऐसे आधारों से मानसिक क्रूरता का गठन होता है या नहीं? इसलिए यह न्यायालय उसके निष्कर्ष से, यद्यपि वह समवर्ती हैं, आबद्धकर नहीं है। (पैरा 27, 28, 29, 30 और 31)

अगला प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या अपीलार्थी दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए प्रत्यर्थी के विरुद्ध कोई मामला बनाने में समर्थ हुई है। अपीलार्थी की अर्जी और उसके साक्ष्य का परिशीलन करने के पश्चात् इस न्यायालय का यह मत है कि वह प्रत्यर्थी के विरुद्ध दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की डिक्री की हकदार है। इस न्यायालय के सुविचारित मत में, जैसा कि साक्ष्य के परिशीलन से प्रतीत होता है, प्रत्यर्थी ने ही अपीलार्थी के साहचर्य से किसी युक्तियुक्त प्रतिहेतु के बिना व्यपहत किया था। चूंकि इस न्यायालय ने तथ्यों के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया है कि प्रत्यर्थी, अपीलार्थी के विरुद्ध क्रूरता का कोई मामला सिद्ध करने में असफल रहा है, इसलिए यह स्पष्ट है कि प्रत्यर्थी ने ही किसी युक्तियुक्त प्रतिहेतु के बिना अपीलार्थी के साहचर्य से व्यपहत किया था न कि अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी के साहचर्य से। पूर्वगामी चर्चा को दृष्टिगत करते हुए, ये अपीलें सफल होती हैं और मंजूर की जाती हैं। आक्षेपित निर्णय अपास्त किया जाता है। परिणामतः, प्रत्यर्थी (पति) द्वारा अधिनियम की धारा 13(1) के अधीन विवाह के विघटन की ईप्सा करते हुए फाइल की गई अर्जी

खारिज की जाती है। इसके परिणामस्वरूप, यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि पक्षकारों के बीच विवाह अस्तित्वशील रहेगा जबकि अपीलार्थी द्वारा प्रत्यर्थी के विरुद्ध दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की ईप्सा करते हुए अधिनियम की धारा 9 के अधीन फाइल की गई अर्जी मंजूर की जाती है। तदनुसार, प्रत्यर्थी के विरुद्ध दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए डिक्री पारित की जाती है। (पैरा 36, 37, 38 और 39)

अवलंबित निर्णय

पैरा

[2007] (2007) 4 एस. सी. सी. 511 :

समर घोष बनाम जया घोष ।

23, 25

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2014 की सिविल सं. 7114-7115.

2013 के एफ. ए. ओ. सं. 108 और एफ. ए. ओ. सं. 109 में दिल्ली उच्च न्यायालय के तारीख 23 मई, 2013 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से

श्री डी. एन. गोवर्धन और सुश्री पल्लवी चोपड़ा

प्रत्यर्थी की ओर से

सर्वश्री गौरव गोयल और राजेश कुमार (श्री ई. सी. अग्रवाल की ओर से)

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे ने दिया ।

न्या. सप्रे — ये अपीलें अपीलार्थी (पत्नी) द्वारा 2013 के एफ. ए. ओ. सं. 108 और एफ. ए. ओ. सं. 109 में दिल्ली उच्च न्यायालय, नई दिल्ली द्वारा तारीख 23 मई, 2013 को पारित उस अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई हैं, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी द्वारा फाइल की गई अपीलें खारिज कर दीं और प्रधान न्यायाधीश, कुटुम्ब न्यायालय, रोहिणी के तारीख 14 दिसंबर, 2010 के निर्णय की पुष्टि की, जिसे प्रत्यर्थी (पति) के पश्चात् “अधिनियम” कहा गया है) की धारा 13 के अधीन एक अर्जी फाइल की। प्रत्यर्थी ने विवाह के विघटन की डिक्री की ईप्सा सारभूत रूप से “क्रूरता” के आधार पर की।

2. इन अपीलों में अंतर्वलित संविवाद का मूल्यांकन करने के लिए तथ्यों का संक्षेप में नीचे उल्लेख करने की आवश्यकता है।

3. अपीलार्थी और प्रत्यर्थी के बीच विवाह तारीख 26 फरवरी, 1999 को दिल्ली में हिंदू रीति-रिवाज के अनुसार अनुष्ठापित हुआ था। प्रत्यर्थी-पति राष्ट्रीय राजधानी राज्यक्षेत्र दिल्ली सरकार में “केयर टेकर” के रूप में कार्यरत है जबकि अपीलार्थी एक गृहणी है। इस विवाह-बंधन से एक पुत्री तारीख 15 जून, 2002 को और दूसरी पुत्री तारीख 10 फरवरी, 2006 को पैदा हुई। दोनों पुत्रियां अपीलार्थी के साथ रह रही हैं।

4. प्रत्यर्थी (पति) ने तारीख 11 जुलाई, 2010 को विवाह के विघटन के लिए अपीलार्थी (पत्नी) के विरुद्ध कुटुम्ब न्यायालय, रोहिणी, दिल्ली में हिंदू विवाह अधिनियम, 1955 (जिसे इसमें इसके पश्चात् “अधिनियम” कहा गया है) की धारा 13 के अधीन एक अर्जी फाइल की। प्रत्यर्थी ने विवाह के विघटन की डिक्री की ईप्सा सारभूत रूप से “क्रूरता” के आधार पर की।

5. सारतः, प्रत्यर्थी ने अपनी अर्जी में नौ ऐसे दृष्टांतों का अभिवाक् किया जो, उसके अनुसार, अपीलार्थी के विरुद्ध उसे विवाह के विघटन के दावे का हकदार बनाते हुए धारा 13(1)(i-क) के अर्थातर्गत “क्रूरता” का गठन करते हैं।

6. क्रूरता का प्रथम आधार विवाह के अगले ही दिन अर्थात् तारीख 27 फरवरी, 1999 को पत्नी के व्यवहार के संबंध में था। यह अभिकथन किया गया कि जब प्रत्यर्थी के घनिष्ठ नातेदार घर में बैठे हुए थे तब अपीलार्थी शयनकक्ष से रात्रि-परिधान में बाहर आई और वह भी बहुत देर से। यह अभिकथन किया गया कि उसने बड़ों के प्रति सम्मान नहीं दिखाया और नमस्ते नहीं की। (वादपत्र का पैरा 9)

7. क्रूरता का द्वितीय आधार पुनः अपीलार्थी का नव वर्ष पर प्रत्यर्थी के साथ व्यवहार के बारे में था। तथापि, वर्ष का उल्लेख नहीं था। प्रत्यर्थी के अनुसार, वह नया वर्ष अपीलार्थी के साथ उसके पैतृक घर पर मनाने के लिए सहमत हुआ था क्योंकि अपीलार्थी के माता-पिता ने कई बार बुलाया था। अपीलार्थी अपने पैतृक घर पहुंचने के पश्चात् अधिकांश समय वह अपने परिवार के सदस्यों के साथ व्यस्त रही और उसे बैठक (ड्राइंग-रूम) में अकेला छोड़ दिया। यहां तक कि रात्रि भोजन के समय भी अपीलार्थी के परिवार के सदस्यों ने ठीक से व्यवहार नहीं किया। (पैरा 10)

8. क्रूरता का तृतीय आधार यह था कि प्रत्यर्थी के घर पर जब कभी कोई समारोह आयोजित किया गया या पर्व मनाया गया, अपीलार्थी ने

उसमें सम्मिलित होने की कोई अभिरुचि या उत्साह नहीं दिखाया। तथापि, तारीख और आयोजित समारोह के बारे में कोई ब्यौरे नहीं दिए गए थे। ये अभिकथन साधारण प्रकृति के हैं। (पैरा 11)

9. क्रूरता का चतुर्थ आधार पुनः प्रत्यर्थी के परिवार के सदस्यों के प्रति अपीलार्थी के अशिष्ट व्यवहार के बारे में था। तथापि, साधारण प्रकथन करने के सिवाय कोई ब्यौरे नहीं दिया गया। (पैरा 12)

10. क्रूरता का पांचवां आधार एक घटना के संबंध में था, जो प्रत्यर्थी के अनुसार, जुलाई, 1999 में घटी थी। यह अभिकथन किया गया कि अपीलार्थी ने उस दिन इस बात पर जोर दिया कि पति-पत्नी को प्रत्यर्थी के माता-पिता से अलग रहना चाहिए। (पैरा 13)

11. क्रूरता का छठा आधार पुनः साधारण है और कोई ब्यौरे नहीं है। यह अभिकथन किया गया कि अपीलार्थी कोई घरेलू कार्य करने में रुचि नहीं रखती थी और न ही भोजन बनाने में रुचि थी और प्रत्यर्थी पर जोर देती रहती थी कि वह अपना दोपहर का भोजन बाहर ही खा ले। (पैरा 19)

12. क्रूरता का सातवां आधार एक घटना के संबंध में है, जो, प्रत्यर्थी के अनुसार, वर्ष 2000 में दीपावली के दिन घटी थी। पुनः, यह घटना प्रत्यर्थी के परिवार के सदस्यों के साथ अपीलार्थी के व्यवहार के बारे में है, जो, प्रत्यर्थी के अनुसार, अभद्र था। (पैरा 16)

13. क्रूरता का आठवां आधार एक अलग घटना के संबंध में है, जो प्रत्यर्थी के अनुसार, तारीख 15 अप्रैल, 2001 को घटी थी। पुनः, यह घटना प्रत्यर्थी के मित्रों के साथ अपीलार्थी के व्यवहार के बारे में है, जो प्रत्यर्थी के मकान पर आए थे। प्रत्यर्थी के अनुसार, परिवार के सदस्यों ने इस बात को पसंद नहीं किया। (पैरा 17)

14. क्रूरता का नौवां आधार यह था कि वर्ष 2010 में एक दिन अपीलार्थी, प्रत्यर्थी के कार्यालय में गई और प्रत्यर्थी के साथ अन्य पदधारियों की मौजूदगी में दुर्व्यवहार किया। (पैरा 27)

15. प्रत्यर्थी ने अर्जी में कुछ अन्य दृष्टान्तों का भी अभिकथन किया है। तथापि, वे भी सारभूत रूप से प्रत्यर्थी और उसके परिवार के सदस्यों के साथ अपीलार्थी के व्यवहार के संबंध में हैं।

16. अपीलार्थी ने अपना लिखित कथन फाइल किया और इन अभिकथनों से इनकार किया। अपीलार्थी ने उन्हीं कार्यवाहियों में

अधिनियम की धारा 9 के अधीन अर्जी फाइल करके प्रत्यर्थी के विरुद्ध दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए भी आवेदन किया और अपनी अर्जी में अन्य बातों के साथ-साथ यह अभिकथन किया कि प्रत्यर्थी ही था जिसने अपने को किसी युक्तियुक्त प्रतिहेतु के बिना उसके साहचर्य से प्रत्याहृत कर लिया था । उसने प्रत्यर्थी द्वारा गठित किए गए मामले से इनकार करते हुए दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के अपने मामले को न्यायोचित ठहराया ।

17. विचारण न्यायालय ने मामले में अभिवचनों के आधार पर निम्नलिखित विवाद्यक विरचित किए :-

1. क्या विवाह के अनुष्ठापन के पश्चात् प्रत्यर्थी ने अर्जीदार के साथ क्रूरतापूर्ण व्यवहार किया था ?
2. क्या अर्जीदार जैसी कि प्रार्थना की गई है, विवाह-विच्छेद की डिक्री का हकदार है ?

अधिनियम की धारा 9 के अधीन अर्जी में के अभिवाकों के आधार पर निम्नलिखित विवाद्यक विरचित किए गए :-

1. क्या अर्जीदार दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की हकदार है ?
2. अनुतोष ।

18. पक्षकारों ने साक्ष्य प्रस्तुत किए । कुटुम्ब न्यायालय ने तारीख 14 दिसंबर, 2012 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी द्वारा फाइल की गई अर्जी मंजूर की । यह अभिनिर्धारित किया गया कि प्रत्यर्थी द्वारा अभिकथित आधार अधिनियम की धारा 13(1)(i-क) के अर्थात्तर्गत मानसिक क्रूरता की कोटि में आते हैं और प्रत्यर्थी द्वारा इन आधारों को साबित किया गया है, इसलिए वह अपीलार्थी के विरुद्ध विवाह विघटन की डिक्री के लिए दावा करने का हकदार है । तदनुसार, विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी के पक्ष में विवाह विघटन की डिक्री प्रदान की और विवाह को विघटित कर दिया । चूंकि अपीलार्थी के विरुद्ध विवाह के विघटन की डिक्री पारित की गई थी, इसलिए अपीलार्थी द्वारा दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की ईप्सा करते हुए प्रत्यर्थी के विरुद्ध फाइल की गई अर्जी खारिज कर दी गई ।

19. अपीलार्थी ने उपर्युक्त आदेश से व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष प्रथम अपील फाइल की । अपीलों में प्रश्न यह था कि क्या

विचारण न्यायालय ने प्रत्यर्थी पति को विवाह विघटन की डिक्री प्रदान करके न्यायोचित किया है और इसके परिणामस्वरूप क्या अपीलार्थी (पत्नी) द्वारा दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए फाइल की गई अर्जी को खारिज करके न्यायोचित किया है।

20. उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा अपीलों को खारिज कर दिया और विचारण न्यायालय के निर्णय/डिक्री की अभिपुष्टि की। अपीलार्थी पत्नी ने व्यथित होकर उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाजत लेकर ये अपीलें फाइल कीं।

21. अपीलार्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री डी. एन. गोवर्धन और प्रत्यर्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री गौरव गोयल को सुना।

22. पक्षकारों की ओर से विद्वान् काउंसलों को सुनने और मामले के अभिलेख का परिशीलन करने के पश्चात् हम इन अपीलों को मंजूर करते हैं और आक्षेपित आदेश को अपास्त करते हुए प्रत्यर्थी पति द्वारा अपीलार्थी के विरुद्ध फाइल की गई विवाह-विच्छेद की अर्जी खारिज करते हैं और परिणामतः अपीलार्थी द्वारा दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए प्रत्यर्थी (पति) के विरुद्ध फाइल की गई अर्जी मंजूर करते हैं।

23. अधिनियम की धारा 13(1)(i-क) में प्रयुक्त “क्रूरता” शब्द अधिनियम में परिभाषित नहीं है। तथापि, यह अभिव्यक्ति इस न्यायालय के कई मामलों में निर्वचन की विषयवस्तु रही है। “मानसिक क्रूरता” की कोटि में क्या आता है, इसे **समर घोष बनाम जया घोष**¹ वाले मामले में इस न्यायालय (तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ) द्वारा संक्षिप्त और स्पष्ट रूप से स्पष्ट किया गया था। माननीय न्यायाधीशों ने न्यायमूर्ति दलबीर भंडारी द्वारा लिखे गए निर्णय के माध्यम से यह मत व्यक्त किया कि मार्गदर्शन के लिए कभी कोई सार्वभौम मानक अधिकथित नहीं किया जा सकता, तो भी मानव व्यवहार संबंधी कुछ दृष्टांतों को प्रगणित करना उचित होगा, जिन्हें “मानसिक क्रूरता” के मामलों पर विचार करने में सुसंगत समझा जाए।

24. माननीय न्यायमूर्तियों ने फिर मामलों के 16 ऐसे प्रवर्ग प्रगणित किए, जो इस प्रश्न की परीक्षा करते समय सुसंगत समझे जाते हैं कि क्या अभिकथित और साबित तथ्यों से “मानसिक क्रूरता” का गठन होता है जिससे कि विवाह-विच्छेद की डिक्री प्रदान करने के लिए अधिनियम की

¹ (2007) 4 एस. सी. सी. 511.

धारा 13(1)(i-क) के उपबंधों को लागू किया जा सके ।

25. **समर घोष** (उपरोक्त) वाले मामले में अधिकथित विधि को ध्यान में रखते हुए प्रत्यर्थी द्वारा अपीलार्थी के विरुद्ध विवाह-विच्छेद की डिक्री प्रदान करने के लिए मानसिक क्रूरता को साबित करने हेतु अपनी अर्जी में लिए गए आधारों की परीक्षा करने पर हमारा यह निष्कर्ष है कि इन आधारों में से किसी आधार से न तो अलग-अलग और न ही सामूहिक रूप से **समर घोष** (उपरोक्त) वाले मामले में अधिकथित कसौटी का समाधान होता है जिससे कि प्रत्यर्थी विवाह-विच्छेद की डिक्री का दावा करने के लिए हकदार हो सके ।

26. हमने यह अभिनिर्धारण एक से अधिक कारणों से किया है । प्रथम, प्रत्यर्थी द्वारा अपनी अर्जी में लिए गए लगभग सभी आधार पुराने या/और इक्का-दुक्का हैं और विवाह के विघटन की डिक्री की ईप्सा करने के लिए प्रत्यर्थी को समर्थ बनाने के लिए टिकाऊ नहीं हैं । दूसरे शब्दों में, प्रत्यर्थी के अनुसार, अभिकथित क्रूरता की घटनाएं विवाह के ठीक पश्चात् ही घटित हुई थीं । वे अपीलार्थी के व्यवहार के संबंध में इक्का-दुक्का घटनाएं थीं । द्वितीयतः, यह मान लिया जाए कि एक या एक से अधिक आधारों से क्रूरता का कृत्य गठित होता है, तो भी हमारा यह निष्कर्ष है कि शिकायत किए गए कार्यों के लिए पक्षकारों द्वारा अपने पश्चात्तर्वर्ती आचरण के कारण माफी दे दी गई थी क्योंकि स्वीकृत रूप से दोनों वर्ष 2006 तक एक साथ रहे थे और अपीलार्थी ने वर्ष 2006 में उनकी दूसरी पुत्री को जन्म दिया था । तृतीयतः, अभिकथित क्रूरता की अधिकांश घटनाएं वर्ष 2006 से पूर्व की हैं और कुछ अभिकथित रूप से 2006 के पश्चात् घटी थीं । जो घटनाएं वर्ष 2006 के पश्चात् की हैं, वे साधारण अभिकथनों पर आधारित हैं और उनका कोई ब्यौरा नहीं दिया गया है, जैसे कि ऐसी घटना कब घटी (वर्ष, माह, तारीख आदि), इनकी पृष्ठभूमि क्या थी, किसने देखी, अपीलार्थी ने वास्तव में क्या कहा, आदि ।

27. हमारे मत में, जो घटनाएं वर्ष 2006 से पूर्व घटी थी, उनका क्रूरता के दृष्टांतों को साबित करने के लिए अवलंब नहीं लिया जा सकता है क्योंकि उन्हें पक्षकारों के कृत्यों द्वारा माफ कर दिया गया समझा जाएगा । जहां तक वर्ष 2006 के पश्चात् के अभिकथित दृष्टांतों का संबंध है, वे इक्का-दुक्का दृष्टांत होने के कारण उनसे क्रूरता का कृत्य गठित नहीं होता है ।

28. ऐसी कुछ इक्का-दुक्का घटनाओं के आधार पर विवाह-विच्छेद

की ईप्सा करते हुए फाइल की गई अर्जी, जो अभिकथित रूप से अर्जी फाइल करने की तारीख से 8-10 वर्ष पूर्व घटी थीं, ऐसी घटनाओं के घटने के 10 या अधिक वर्षों के पश्चात् विवाह-विच्छेद की ईप्सा करने के लिए अस्तित्वशील वादहेतुक प्रस्तुत नहीं हो सकता है । अभिकथित घटनाओं की प्रकृति आवृत्ति या सतत प्रकार की होनी चाहिए और वे अर्जी फाइल करने के निकट में घटित हुई होनी चाहिए ।

29. बहुत पहले की कुछेक घटनाओं से और वह भी जब यह पाया गया है कि पक्षकारों के समझौतावादी व्यवहार के कारण उनके लिए माफी दे दी गई थी, अधिनियम की धारा 13(1)(i-क) के अर्थातर्गत क्रूरता का कृत्य गठित नहीं हो सकता है ।

30. हमारी सुविचारित राय में, दोनों निचले न्यायालय मामले के इस तात्त्विक पहलू पर विचार करने में असफल रहे हैं और इस प्रकार विवाह के विघटन की डिक्री पारित करके अधिकारिता संबंधी गलती की है ।

31. अतः, हम उच्च न्यायालय के दृष्टिकोण का समर्थन नहीं कर सकते हैं क्योंकि उसने, सर्वप्रथम, अर्जी में लिए गए आधारों की यह पता लगाने के लिए परीक्षा नहीं की कि क्या ऐसे आधारों से मानसिक क्रूरता का गठन होता है या नहीं ? इसलिए यह न्यायालय उसके निष्कर्ष से, यद्यपि वह समवर्ती है, आबद्धकर नहीं है ।

32. हम प्रत्यर्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल की इस दलील से प्रभावित नहीं हैं कि घटना, जो किसी समय वर्ष 2010 में तब घटी थी जब अपीलार्थी, प्रत्यर्थी के कार्यालय में गई थी और अन्य अधिकारियों के सामने अभिकथित रूप से प्रत्यर्थी के साथ दुर्व्यवहार किया था, उससे प्रत्यर्थी को विवाह-विच्छेद का दावा करने के लिए समर्थ बनाने हेतु अपीलार्थी द्वारा किया गया क्रूरता का कृत्य गठित होता है । पहली बात तो यह कि एक एकाकी घटना के आधार पर विवाह-विच्छेद की डिक्री पारित नहीं की जा सकती है । दूसरी बात यह कि ऐसी एकाकी घटना कारित होने के असंख्य कारण हो सकते हैं । केवल इस कारण कि दोनों के बीच अन्य व्यक्तियों की मौजूदगी में कुछ मौखिक कहा-सुनी हुई थी, यह बात तब तक क्रूरता का कृत्य गठित करने के लिए पर्याप्त नहीं होगी जब तक कि उसी प्रकार की और अन्य घटनाओं से इस बात का समर्थन न होता हो । इस मामले में ऐसा कुछ नहीं हुआ है ।

33. हम प्रत्यर्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल द्वारा दी गई इस दलील

से भी प्रभावित नहीं हैं कि चूंकि अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी के विरुद्ध विवाहेत्तर संबंध होने का अभिकथन किया था और इसलिए ऐसे अभिकथन से भी अपीलार्थी की ओर से क्रूरता का कृत्य गठित होता है और प्रत्यर्थी विवाह-विघटन की डिक्री का दावा करने का हकदार है।

34. इसी प्रकार, हम प्रत्यर्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल द्वारा दी गई इस दलील से भी प्रभावित नहीं हैं कि चूंकि दोनों काफी समय से अलग-अलग रह रहे हैं और इसलिए यह बात विवाह-विच्छेद के लिए एक अच्छा आधार समझा जा सकता है।

35. पहली बात तो यह कि प्रत्यर्थी ने इन आधारों पर विवाह-विघटन की डिक्री की ईप्सा नहीं की है। दूसरी, प्रत्यर्थी द्वारा अपनी अर्जी में लिए गए क्रूरता के आधारों में ये आधार सम्मिलित नहीं हैं। तीसरी, यदि पत्नी द्वारा अपने अभिवचन/साक्ष्य में कुछ छुट-पुट अभिकथन किए गए हैं, जिनका विद्वान् काउंसेल द्वारा अवलंब लिया गया है, तो उनकी कोई संगतता नहीं है क्योंकि, जैसाकि ऊपर उल्लेख किया है, प्रत्यर्थी द्वारा विवाह-विच्छेद की डिक्री की ईप्सा करते हुए दी गई अर्जी में इन आधारों का अभिवाक् नहीं किया गया था और न ही इन्हें विवाह बनाया गया था; और अंतिमतः, साबित करने का भार प्रत्यर्थी पर होने के कारण उसके द्वारा अभिवचन करके और फिर साबित करके इसका निर्वहन किया जा सकता था। ऐसा नहीं किया गया है। इन कारणों से हम विवाह-विच्छेद की डिक्री की अभिपुष्टि करने के लिए दी गई पूर्वोक्त दोनों दलीलों को स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

36. अगला प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या अपीलार्थी दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए प्रत्यर्थी के विरुद्ध कोई मामला बनाने में समर्थ हुई है।

37. अपीलार्थी की अर्जी और उसके साक्ष्य का परिशीलन करने के पश्चात् हमारा यह मत है कि वह प्रत्यर्थी के विरुद्ध दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की डिक्री की हकदार है।

38. हमारे सुविचारित मत में, जैसा कि हमें साक्ष्य के परिशीलन से प्रतीत होता है, प्रत्यर्थी ने ही अपीलार्थी के साहचर्य से किसी युक्तियुक्त प्रतिहेतु के बिना व्यपहत किया था। चूंकि हमने तथ्यों के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया है कि प्रत्यर्थी, अपीलार्थी के विरुद्ध क्रूरता का कोई मामला सिद्ध करने में असफल रहा है, इसलिए यह स्पष्ट है कि प्रत्यर्थी ने

ही किसी युक्तियुक्त प्रतिहेतु के बिना अपीलार्थी के साहचर्य से व्यपहत किया था न कि अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी के साहचर्य से ।

39. पूर्वगामी चर्चा को दृष्टिगत करते हुए, ये अपीलें सफल होती हैं और मंजूर की जाती हैं । आक्षेपित निर्णय अपास्त किया जाता है । परिणामतः, प्रत्यर्थी (पति) द्वारा अधिनियम की धारा 13(1) के अधीन विवाह के विघटन की ईप्सा करते हुए फाइल की गई अर्जी खारिज की जाती है । इसके परिणामस्वरूप, यह अभिनिर्धारित किया जाता है कि पक्षकारों के बीच विवाह अस्तित्वशील रहेगा जबकि अपीलार्थी द्वारा प्रत्यर्थी के विरुद्ध दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन की ईप्सा करते हुए अधिनियम की धारा 9 के अधीन फाइल की गई अर्जी मंजूर की जाती है । तदनुसार, प्रत्यर्थी के विरुद्ध दांपत्य अधिकारों के प्रत्यास्थापन के लिए डिफ्री पारित की जाती है ।

40. हमें आशा और विश्वास है कि पक्षकार अब एक-दूसरे के प्रति अपने कर्तव्यों और आबद्धताओं को महसूस करेंगे और साथ-ही-साथ परिपक्वता की ओर अग्रसर अपनी पुत्रियों के प्रति माता और पिता की अपनी संयुक्त आबद्धताओं को भी महसूस करेंगे । अतः, दोनों अपने-अपने पिछले कार्यों/कृत्यों और कटु अनुभवों को भुलाकर एक-साथ रहना आरंभ करें और इस बात पर ध्यान दें कि उनकी पुत्रियां अपने-अपने जीवन में भली-भांति वास करें । हम महसूस करते हैं कि यह पुनर्मिलन आने वाले समय में परिवार के समस्त सदस्यों के हित में होगा और शांति, सामंजस्य और प्रसन्नता लाएगा । हमने यह पाया है कि प्रत्यर्थी सरकारी विभाग में “केयर टेकर” के रूप में कार्यरत है (उसकी अर्जी का पैरा 4 देखें) । इसलिए उसे अपने स्वयं के परिवार का भी अवश्य “केयर टेकर” बनना चाहिए जो कि उसकी प्राथमिक आबद्धता है और साथ-ही-साथ अपने परिवार की गुजर-बसर करने के लिए अपने शासकीय कर्तव्यों को भी निभाए ।

अपीलें मंजूर की गईं ।

जस.

राम नाथ साव उर्फ राम नाथ साहू, मृत, विधिक प्रतिनिधियों
की मार्फत

बनाम

गोबर्धन साव, मृत, विधिक प्रतिनिधियों की मार्फत और अन्य

6 अप्रैल, 2017

न्यायमूर्ति रंजन गोगोई और न्यायमूर्ति अशोक भूषण

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 (1956 का 30) – धारा 6, स्पष्टीकरण 1 और परंतुक [सपठित हिंदू वूमेन्स राइट्स टू प्रापर्टी ऐक्ट, 1937 की धारा 3(2)] – मिताक्षरा अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति का विभाजन – हिस्सों का आबंटन – मूल वंशज की वर्ष 1940 में मृत्यु हो जाने पर उसकी विधवा का अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति में विभाजन होने तक उतना हित बना रहा जितना उसके पति का था और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका आधा हिस्सा उसकी पुत्री को और अन्य आधा हिस्सा मूल वंशज के पुत्र को तथा वर्ष 1961 में उसकी मृत्यु के पश्चात् विल के अभाव में निर्वसीयती उत्तराधिकार के अनुसार उसकी शाखा के उत्तराधिकारों में विभाजित होगा।

मामले के तथ्यों के अनुसार, पक्षकारों के सामान्य पूर्वज फुचन महतो (1940 में मृत्यु) का एक पुत्र मिथु साव था, जिसकी वर्ष 1961 में मृत्यु हो गई थी। मिथु साव की दो पत्नियां थीं, अर्थात् तेमनी (प्रथम पत्नी) और बिलासो देवी (द्वितीय पत्नी)। विभाजन के लिए वाद फाइल करने के समय तेमनी (प्रथम पत्नी) जीवित नहीं थी। वाद में प्रतिवादी रामनाथ, काशीनाथ और बुचवा मिथु साव और तेमनी (प्रथम पत्नी) के पुत्र और पुत्री हैं, जबकि वादी गोबर्धन, जगदीश, बलदेव और सरिता मिथु साव और बिलासो देवी (द्वितीय पत्नी) के पुत्र और पुत्री हैं, जोकि सह-वादी हैं। वादियों के अनुसार, उन्होंने प्रतिवादियों के साथ एक अविभक्त हिंदू मिताक्षर कुटुम्ब गठित किया था जो गांव लापंगा, जिला हज़ारीबाग के खसरा सं. 19 में अभिलिखित पैतृक भूमि के स्वामी हैं। वादियों का यह पक्षकथन है कि अविभक्त कुटुम्ब ने कई अन्य गांवों में अविभक्त कुटुम्ब के एक या अन्य सदस्यों के नाम में भी भूमियां अर्जित कीं। वादियों के अनुसार, पैतृक और पश्चात्वंती अर्जित दोनों संपत्तियां पक्षकारों के संयुक्त कब्जे में चलती रही। क्योंकि अविभक्त कुटुम्ब के सदस्यों में बढ़ोतरी हो गई, इसलिए

अविभक्त बने रहना असुविधाजनक हो गया । इसलिए विभाजन की डिक्री के लिए वाद फाइल किया गया । प्रतिवादियों ने वाद का अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर प्रतिवाद किया कि पक्षकारों के बीच हक और कब्जे की समरूपता नहीं है । प्रतिवादियों के अनुसार, मिथु साव की वर्ष 1961 में मृत्यु होने के पश्चात् और यहां तक कि उसकी मृत्यु से पूर्व भी कुटुम्ब में इस तथ्य के कारण विभाजन था कि मिथु साव ने दो विवाह किए हैं । कुटुम्ब में गंभीर मतभेद थे और प्रथम पत्नी तेमनी के बालक मिथु साव से अलग हो गए थे । प्रतिवादियों ने यह अभिवाक् किया कि कोई अविभक्त कुटुम्ब अस्तित्व में नहीं है और दोनों पक्षकारों की अलग-अलग कमाई है तथा केवल खसरा सं. 19 की पैतृक भूमियां विभाजन के लिए उपलब्ध हैं और जिनके एक बड़े भाग को सरकार द्वारा अर्जित कर लिया गया है तथा प्रतिकर की रकम पक्षकारों के बीच उनके अपने-अपने अंशों के अनुसार बराबर-बराबर वितरित कर दी गई है । प्रतिवादियों के अनुसार, अनुसूचित संपत्ति की अन्य मदें स्व-अर्जित संपत्तियां हैं, जिनका विभाजन नहीं किया जाना है । विद्वान् विचारण न्यायालय ने पक्षकारों के अंशों को अभिनिर्धारित करते हुए वाद डिक्री किया । उक्त डिक्री की अभिपुष्टि अपील में उच्च न्यायालय द्वारा की गई । प्रतिवादियों ने उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा डिक्री में उपांतरण करके अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित — फुचन महतो की वर्ष 1940 में मृत्यु हुई थी । उसकी मृत्यु के समय हिन्दू स्त्रियों के संपत्ति के अधिकार अधिनियम, 1937 (हिंदू वूमेन्स राइट्स टू प्रापर्टी ऐक्ट 1937) प्रवृत्त था । अधिनियम, 1937 की धारा 3(2) के अधीन फुचन महतो की मृत्यु होने पर उसकी विधवा/पत्नी पुनिया देवी अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति में एक अंश की हकदार बन गई थी । तथापि, पुनिया देवी का अंश उस समय तक अन-अवधारित रहा जब तक कि कुटुम्ब में विभाजन नहीं हुआ । फुचन महतो की मृत्यु की तारीख को उसके पुत्र मिथु साव की कोई पुरुष संतान नहीं थी । तथापि, यह समझा जा सकता है कि मिथु साव के साथ 'कर्ता' के रूप में संयुक्त कुटुम्ब जारी रहा और संपत्ति संयुक्त कुटुम्ब की बनी रही । अतः हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के प्रवर्तित होने से पूर्व की स्थिति यह थी कि फुचन महतो की मृत्यु होने पर अविभक्त कुटुम्ब एकमात्र सहदायिक के रूप में मिथु साव के साथ जारी रहा और अविभक्त कुटुम्ब की संपत्तियां कुटुम्ब की बनी रहीं और पुनिया देवी का भी संपत्ति में एक अंश बना रहा । मिथु साव की वर्ष 1961 में मृत्यु होने के पश्चात्, हिंदू उत्तराधिकार

अधिनियम की धारा 6 के उपबंधों का अनुसरण करते हुए, मिथु साव की मृत्यु के ठीक पूर्व एक काल्पनिक विभाजन किए जाने की उपधारणा करनी होगी। इसलिए अविभक्त कुटुम्ब की संपत्तियों में 8 अंश होंगे। जहां तक मिथु साव की पत्नी बिलासो देवी का संबंध है, वह अविभक्त कुटुम्ब की संपत्तियों में काल्पनिक विभाजन को प्रभावी करने पर 1/8वें अंश की हकदार होगी। (पैरा 9, 10, 11, 12 और 14)

मामले का अगला पहलू मिथु साव के 1/8वें अंश और अविभक्त कुटुम्ब के उत्तरजीवी सदस्यों को उक्त अंश के न्यागमन के बारे में है। इस संबंध में किसी कठिनाई के बिना यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 6 के परंतुक के अधीन अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति में मिथु साव का अंश (1/8वां) किसी विल के अभाव में निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा निम्नलिखित रीति में न्यागत होगा :-

बिलासो देवी	$1/8 \times 9$	=	$1/72$
पुनिया देवी	$1/8 \times 9$	=	$1/72$
रामनाथ	$1/8 \times 9$	=	$1/72$
काशीनाथ	$1/8 \times 9$	=	$1/72$
गोबर्धन	$1/8 \times 9$	=	$1/72$
जगदीश	$1/8 \times 9$	=	$1/72$
बलदेव	$1/8 \times 9$	=	$1/72$
बुचवा देवी	$1/8 \times 9$	=	$1/72$
सरिता	$1/8 \times 9$	=	$1/72$

इस प्रकार, 1961 के पश्चात् पुनिया देवी का फुचन महतो की विधवा होने के कारण अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति में 1/8 जमा 1/72 अर्थात् 10/72 अंश था। पुनिया देवी की वर्ष 1967 में अपनी पुत्री उगनी देवी और अपने पूर्व-मृत पुत्र मिथु साव के बालकों को पीछे छोड़ते हुए मृत्यु हो गई थी। उगनी देवी, पुनिया देवी का आधा अंश अर्थात् 10/72 अंश का आधा अर्थात् 10/144 अंश प्राप्त करने की हकदार होगी। शेष 10/144 अंश, जो मिथु साव की शाखा को जाएगा, मिथु साव के आठ वारिसों अर्थात् विधवा और सात बालकों के बीच विभाजित किया जाएगा। इस प्रकार, पूर्वोक्त 10/144 अंश निम्नलिखित रीति में न्यागत होगा :-

बिलासो देवी	$1/8 \times 10/144 =$	$10/1152$
रामनाथ	$1/8 \times 10/144 =$	$10/1152$
काशीनाथ	$1/8 \times 10/144 =$	$10/1152$
गोबर्धन	$1/8 \times 10/144 =$	$10/1152$
जगदीश	$1/8 \times 10/144 =$	$10/1152$
बलदेव	$1/8 \times 10/144 =$	$10/1152$
बुचवा देवी	$1/8 \times 10/144 =$	$10/1152$
सरिता	$1/8 \times 10/144 =$	$10/1152$

17. परिणामतः, प्रत्येक पक्षकार का अंश निम्नलिखित प्रकार से होगा :-

बिलासो देवी	$1/8 + 1/72 + 10/1152 =$	14.76%
रामनाथ	$1/8 + 1/72 + 10/1152 =$	14.76%
काशीनाथ	$1/8 + 1/72 + 10/1152 =$	14.76%
गोबर्धन	$1/8 + 1/72 + 10/1152 =$	14.76%
जगदीश	$1/8 + 1/72 + 10/1152 =$	14.76%
बलदेव	$1/8 + 1/72 + 10/1152 =$	14.76%
बुचवा देवी	$0/0 + 1/72 + 10/1152 =$	2.25%
सरिता	$0/0 + 1/72 + 10/1152 =$	2.25%
उगनी देवी	$10/144$	

इस प्रकार संगणित करने पर अपीलार्थियों का अंश होगा :

$$14.76 \text{ (रामनाथ)} + 14.76 \text{ (काशीनाथ)} + 2.25 \text{ (बुचवा देवी)} \\ + 6.94 \text{ (उगनी देवी के विधिक प्रतिनिधियों)} = 38.1\%$$

उपरोक्त को दृष्टिगत करते हुए, विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा पारित डिक्री, जिसकी अभिपुष्टि उच्च न्यायालय द्वारा की गई है, को यह अभिनिर्धारित करते हुए उपांतरित करना आवश्यक होगा कि अपीलार्थी-प्रतिवादी अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति में निचले न्यायालयों द्वारा यथा आदेशित 37.5 प्रतिशत अंश के बजाए 38.1 प्रतिशत अंश के हकदार हैं। (पैरा 15, 16, 17 और 18)

अवलंबित निर्णय

पैरा

[1996] [1996] 3 एस. सी. आर. 224 :

गोबली बुदन्ना बनाम आयकर आयुक्त, मैसूर, बंगलौर ; 11

[1979] [1979] 2 उम. नि. प. 646 =
(1978) 3 एस. सी. सी. 383 :
गुरुपद खंडप्पा बनाम हीरा बाई खंडप्पा मगदूम
और अन्य ; 14

[1965] [1965] 1 एस. सी. आर. 26 :
पोट्टी लक्ष्मी पेरुमल्ल बनाम पोट्टी कृष्णा बेनम्मा । 10

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2006 की सिविल अपील सं. 1110.

1989 की मूल डिक्री सं. 307 से उद्भूत अपील में झारखंड उच्च न्यायालय, रांची के तारीख 26 फरवरी, 2003 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

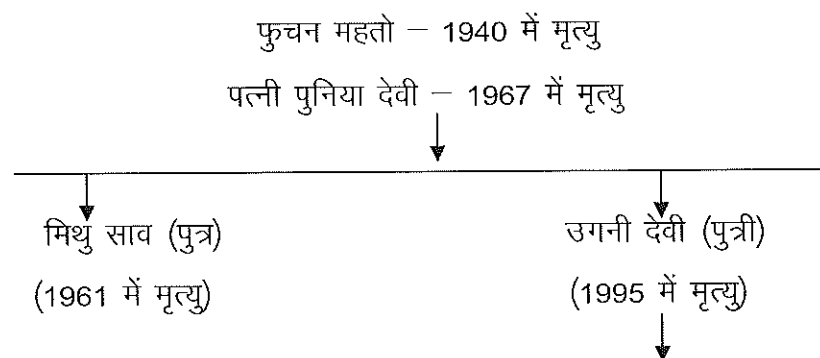
अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री गौरव अग्रवाल, अभिकल्प प्रताप सिंह और प्रशांत कुमार

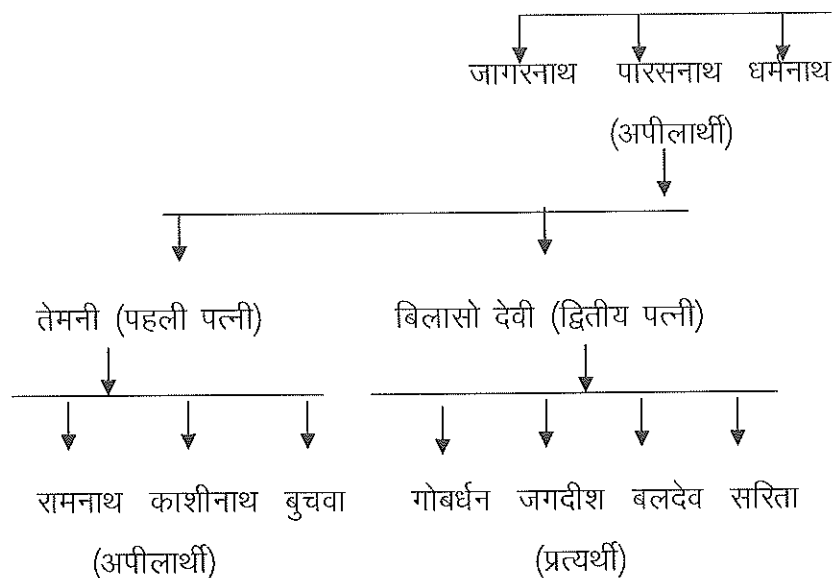
प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री अरूप बनर्जी, एम. के. वर्मा और बृज किशोर मिश्रा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति रंजन गोगोई ने दिया ।

न्या. गोगोई – अपीलार्थी वादपत्र की अनुसूची ‘ख’ और अनुसूची ‘ग’ में विनिर्दिष्ट रूप से वर्णित विभिन्न संपत्तियों के विभाजन की ईप्सा करते हुए प्रत्यर्थियों द्वारा वादियों के रूप में फाइल किए गए एक विभाजन के लिए वाद में प्रतिवादी हैं ।

2. प्रारंभ में, तथ्यों तथा पक्षकारों के हक के विषय में उन निष्कर्षों को, जो विचार-विमर्श के अनुक्रम में निकलेंगे, स्पष्टता और आसानी से समझने में समर्थ बनाने के लिए निम्नलिखित वंशानुक्रमावली सारणी उपवर्णित की जा रही है ।





4. वादियों के अनुसार, उन्होंने प्रतिवादियों के साथ एक अविभक्त हिंदू मिताक्षर कुटुम्ब गठित किया था जो गांव लापंगा, जिला हज़ारीबाग के खसरा सं. 19 में अभिलिखित पैतृक भूमि के स्वामी हैं। वादियों का यह पक्षकथन है कि अविभक्त कुटुम्ब ने कई अन्य गांवों में अविभक्त कुटुम्ब के एक या अन्य सदस्यों के नाम में भी भूमियां अर्जित कीं। वादियों के अनुसार, पैतृक और पश्चात्पूर्ती अर्जित दोनों संपत्तियां पक्षकारों के संयुक्त कब्जे में चलती रहीं। क्योंकि अविभक्त कुटुम्ब के सदस्यों में बढ़ोतरी हो गई, इसलिए अविभक्त बने रहना असुविधाजनक हो गया। इसलिए विभाजन की डिक्री के लिए वाद फाइल किया गया।

5. प्रतिवादियों ने वाद का अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर प्रतिवाद किया कि पक्षकारों के बीच हक और कब्जे की समरूपता नहीं है।

प्रतिवादियों के अनुसार, मिथु साव की वर्ष 1961 में मृत्यु होने के पश्चात् और यहां तक कि उसकी मृत्यु से पूर्व भी कुटुम्ब में इस तथ्य के कारण विच्छिन्नता थी कि मिथु साव ने दो विवाह किए हैं। कुटुम्ब में गंभीर मतभेद थे और प्रथम पत्नी तेमनी के बालक मिथु साव से अलग हो गए थे। प्रतिवादियों का यह पक्षकथन है कि मिथु साव की मृत्यु के पश्चात् प्रथम पत्नी और द्वितीय पत्नी के बालक फिर से अलग हो गए। प्रतिवादियों ने यह अभिवाक् किया कि कोई अविभक्त कुटुम्ब अस्तित्व में नहीं है और दोनों पक्षकारों की अलग-अलग कमाई है तथा केवल खसरा सं. 19 की पैतृक भूमियां विभाजन के लिए उपलब्ध हैं और जिनके एक बड़े भाग को सरकार द्वारा अर्जित कर लिया गया है तथा प्रतिकर की रकम पक्षकारों के बीच उनके अपने-अपने अंशों के अनुसार बराबर-बराबर वितरित कर दी गई है। प्रतिवादियों के अनुसार, अनुसूचित संपत्ति की अन्य मदें स्व-अर्जित संपत्तियां हैं, जिनका विभाजन नहीं किया जाना है।

6. विद्वान् विचारण न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए वाद डिक्री किया कि वादी अनुसूची 'ख' ; अनुसूची 'ग' में गांव लबागा की मद 1 से 8 ; अनुसूची 'ग' में गांव रासदा की मद 1 और 2 और अनुसूची 'ग' में लबागा की मद 1 से 8 ; अनुसूची 'ग' में गांव रासदा की मद 1 और 2 और अनुसूची 'ग' में गांव हफुआ की मद 1 से 8 की संपत्तियों में 63-1/2 पैसे की सीमा तक तथा अनुसूची 'ग' में गांव हफुआ की मद सं. 9 में वर्णित संपत्तियों में 12 पैसे अंश के हकदार हैं। प्रतिवादी-अपीलार्थी अनुसूची 'ख' की संपत्ति में और गांव लबागा की मद 1 से 8 ; गांव रासदा की मद 1 और 2 तथा अनुसूची 'ग' में गांव हफुआ की मद 1 से 8 की संपत्तियों में शेष 37-1/2 पैसे के हकदार पाए गए। उक्त डिक्री, जिसकी अभिपुष्टि अपील में उच्च न्यायालय द्वारा की गई है, द्वारा जहां तक अनुसूची 'ग' की मद सं. 9 में वर्णित संपत्ति का संबंध है, उसमें 12 और 11 पैसे अंश वादियों और प्रतिवादियों को प्रदान किया गया है क्योंकि उक्त संपत्ति अर्थात् अनुसूची 'ग' की मद सं. 9 का संबंध मिथु साव के पांच पुत्रों द्वारा अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर अलग-अलग विक्रय विलेखों द्वारा खरीदी गई संपत्ति में 23 पैसे हैं, इसलिए उक्त संपत्ति, पहले उपदर्शित अनुसार, इसके संक्षिप्त रूप में वर्तमान अपील की विषयवस्तु नहीं है।

7. इस न्यायालय ने वर्तमान अपील में सूचना (नोटिस) जारी करते समय संवीक्षा का क्षेत्र "उन संपत्तियों, जो अविभक्त कुटुम्ब की संपत्तियां होनी पाई गई, के विषय में अंशों के आबंटन" के प्रश्न तक सीमित रखा।

उपर्युक्त परिसीमित सूचना को दृष्टिगत करते हुए, वर्तमान अपील में केवल अविभक्त कुटुम्ब की संपत्तियों में अलग-अलग पक्षकारों के अंशों से संबंधित विवाद्यक का अवधारण किया जाएगा और अविभक्त कुटुम्ब की विद्यमानता और संयुक्त रूप से संपत्तियों को धारण करने के संबंध में विद्वान् निचले न्यायालयों के समवर्ती निष्कर्षों पर पुनः विचार करने का प्रश्न उद्भूत नहीं हो सकता है।

8. हमने पक्षकारों के विद्वान् काउंसेलों को सुना।

9. फुचन महतो की वर्ष 1940 में मृत्यु हुई थी। उसकी मृत्यु के समय हिन्दू स्त्रियों के संपत्ति के अधिकार अधिनियम, 1937 (हिंदू वूमेन्स राइट्स टू प्रापर्टी ऐक्ट 1937) (जिसे इसमें इसके पश्चात् “अधिनियम, 1937” कहा गया है) प्रवृत्त था। अधिनियम, 1937 की धारा 3(2), जो वर्तमान मामले के लिए सुसंगत है, निम्नलिखित रूप में उपबंधित है :-

“3(2) हिन्दू विधि की दाय भाग शाखा या रूढ़िजन्य विधि से भिन्न किसी अन्य शाखा द्वारा शासित किसी हिंदू की मृत्यु जब किसी हिंदू अविभक्त संपत्ति में उसकी मृत्यु के समय हित रखते हुए हो जाती है, तो उसकी विधवा को, उपधारा (3) के उपबंधों के अधीन रहते हुए, उस संपत्ति में वही हित होगा, जो स्वयं उसका था।”

10. अधिनियम, 1937 की धारा 3(2) के अधीन फुचन महतो की मृत्यु होने पर उसकी विधवा/पत्नी पुनिया देवी अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति में एक अंश की हकदार बन गई थी। तथापि, पुनिया देवी का अंश उस समय तक अन-अवधारित रहा जब तक कि कुटुम्ब में विभाजन नहीं हुआ। **पोट्टी लक्ष्मी पेरुमल्ल बनाम पोट्टी कृष्णा बेनम्मा**¹ वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा ऐसा ही अभिनिर्धारित किया गया है। उपरोक्त आशय का उक्त निर्णय में सुसंगत पैरा नीचे उद्धृत किया जाता है :-

“हिंदू विधि में अंतर्निहित सिद्धांत के अनुसार, मृत हिंदू की विधवा उसकी उत्तरजीवी अर्धांगिनी है और इसलिए जितने समय तक वह जीवित है उसके मृत पति को उसके शरीर में विद्यमान रहना समझा जाना चाहिए। इस उत्तरजीवी अर्धांगिनी को हिंदू विधि के शास्त्र वाक्यों के अधीन उस कुटुम्ब की संपत्ति के विभाजन का दावा करने का कोई अधिकार नहीं है जिस कुटुम्ब का उसका पति था। किंतु अधिनियम, 1937 ने उसे यह अधिकार प्रदत्त किया है। जब

¹ [1965] 1 एस. सी. आर. 26.

अधिनियम यह कहता है कि उसे वही अधिकार होगा जो उसके पति को था, तब इसका स्पष्टतः यह अर्थ है कि वह उतना ही अंश आबंटित किए जाने की हकदार होगी जितने का उसका पति हकदार होता, यदि वह उस तारीख को जीवित होता जिस तारीख को उसने विभाजन के लिए दावा किया था ।”

11. फुचन महतो की मृत्यु की तारीख को उसके पुत्र मिथु साव की कोई पुरुष संतान नहीं थी । तथापि, यह समझा जा सकता है कि मिथु साव के साथ “कर्ता” के रूप में संयुक्त कुटुम्ब जारी रहा और संपत्ति संयुक्त कुटुम्ब की बनी रही । गोबली बुदन्ना बनाम आयकर आयुक्त, मैसूर, बंगलौर¹ वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय से उपरोक्त मत का समर्थन होता है, जिसका सुसंगत भाग नीचे उद्धृत किया जाता है :-

“अतः अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति का कुटुम्ब से संबंध केवल इस कारण समाप्त नहीं हो जाता है कि कुटुम्ब का प्रतिनिधित्व एकल सहदायिक द्वारा किया गया है, जिसके पास ऐसे अधिकार हैं जो संपत्ति के स्वामी के पास होते हैं । प्रस्तुत मामले में, संपत्ति जो आय का स्रोत है, मूल रूप से हिंदू अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति है । बुड्डप्पा की मृत्यु होने पर कुटुम्ब, जिसमें एक विधवा और कुटुम्ब में जन्मी महिलाएं थीं, का प्रतिनिधित्व अकेले बुड्डप्पा द्वारा किया गया था किंतु फिर भी संपत्ति उस अविभक्त कुटुम्ब की बनी रही थी और उस संपत्ति से प्राप्त आय हिंदू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में कराधेय थी ।”

12. अतः हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के प्रवर्तित होने से पूर्व की स्थिति यह थी कि फुचन महतो की मृत्यु होने पर अविभक्त कुटुम्ब एकमात्र सहदायिकी के रूप में मिथु साव के साथ जारी रहा और अविभक्त कुटुम्ब की संपत्तियां कुटुम्ब की बनी रहीं और पुनिया देवी का भी संपत्ति में एक अंश बना रहा ।

13. इस प्रक्रम पर, हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 6 के उपबंधों की विनिर्दिष्ट अवेक्षा की जानी आवश्यक है, जिसे नीचे उद्धृत किया जाता है :-

“6. सहदायिकी संपत्ति में के हित का न्यागमन — जबकि कोई

¹ [1996] 3 एस. सी. आर. 224.

हिंदू पुरुष अपनी मृत्यु के समय मिताक्षरा संपत्ति में हित रखते हुए इस अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात् मरे, तब उस संपत्ति में उसका हित सहदायिकी के उत्तरजीवी सदस्यों पर उत्तरजीविता के आधार पर न्यागत होगा, इस अधिनियम के अनुसार नहीं :

परंतु यदि मृतक अनुसूची के वर्ग-1 में विनिर्दिष्ट किसी नारी संबंधिनी को या उस वर्ग में विनिर्दिष्ट ऐसे पुरुष संबंधी को, जो ऐसी संबंधिनी के माध्यम से दावा करता हो, अपना उत्तरजीवी छोड़े तो मिताक्षरा सहदायिकी संपत्ति में मृतक का हित इस अधिनियम के अधीन, यथास्थिति, वसीयती या निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा न्यागत होगा, उत्तरजीविता द्वारा नहीं ।

स्पष्टीकरण 1 — इस धारा के प्रयोजनों के लिए हिंदू मिताक्षरा सहदायिकी का हित संपत्ति में का वह अंश समझा जाएगा, जो उसे बांट में मिलता, यदि उसकी अपनी मृत्यु से अव्यवहित पूर्व संपत्ति का विभाजन किया गया होता, इस बात पर विचार किए बिना कि वह विभाजन का दावा करने का हकदार था या नहीं ।

स्पष्टीकरण 2 — इस धारा के परंतुक में अंतर्विष्ट किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह उस व्यक्ति को, जिसने मृतक की मृत्यु से पूर्व सहदायिकी से अपने को पृथक् कर लिया हो, उसे या उसके किन्हीं वारिसों को निर्वसीयती की दशा में उस हित में अंश पाने का दावा करने के लिए योग्य बनाती है जिसके प्रति उस परंतुक में निर्देश किया गया है ।”

14. मिथु साव की वर्ष 1961 में मृत्यु होने के पश्चात्, हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम की धारा 6 के उपबंधों का अनुसरण करते हुए, मिथु साव की मृत्यु के ठीक पूर्व एक काल्पनिक विभाजन किए जाने की उपधारणा करनी होगी । इसलिए अविभक्त कुटुम्ब की संपत्तियों में 8 अंश होंगे और उनमें से प्रत्येक का अंश निम्नलिखित रूप में होगा :—

“मिथु साव	1/8
बिलासो देवी (पत्नी)	1/8
पुनिया देवी (माता)	1/8
रामनाथ (पुत्र)	1/8
काशीनाथ (पुत्र)	1/8

गोबर्धन (पुत्र)	1/8
जगदीश (पुत्र)	1/8
बलदेव (पुत्र)	1/8”

जहां तक मिथु साव की पत्नी बिलासो देवी का संबंध है, वह अविभक्त कुटुम्ब की संपत्तियों में काल्पनिक विभाजन को प्रभावी करने पर 1/8वें अंश की हकदार होगी। **गुरुपद खंडप्पा बनाम हीरा बाई खंडप्पा मगदूम और अन्य¹** वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा काल्पनिक विभाजन के उपरांत हिंदू पुरुष की विधवा के अंश को मान्यता दी गई है। **गुरुपद खंडप्पा** (उपरोक्त) वाले मामले के पैरा 9 और 14 का इसमें नीचे उपयोगी रूप से उल्लेख किया जा सकता है :—

“अगला कदम जो कि उतना ही महत्वपूर्ण है, यद्यपि जिसे क्रियान्वित करना इतना सरल नहीं है, वह अंश ज्ञात करना है जो मृतक का सहदायिकी संपत्ति में था क्योंकि कुछ भी हो वादी का उस अंश में 1/6 हित था। स्पष्टीकरण 1, जिसमें मृतक का अंश अवधारित करने के लिए सूत्र अन्तर्विष्ट है, यह उपबंधित करके एक कल्पना सृजित करता है कि हिन्दू मिताक्षरा सहदायिकी का हित सम्पत्ति में का वह अंश समझा जाएगा जो उसे बांट में मिलता, यदि उसकी अपनी मृत्यु के ठीक पूर्व संपत्ति का विभाजन किया गया होता। अतः ऐसी वस्तुस्थिति की कल्पना की जा सकती है जिसमें खंडप्पा की मृत्यु के कुछ पूर्व उसके तथा सहदायिकी के अन्य सदस्यों के बीच सहदायिकी संपत्ति का विभाजन किया गया होता। यद्यपि वादी, जो कि सहदायिक नहीं था, विभाजन की मांग करने की हकदार नहीं थी, तथापि, यदि उसके पति और 2 पुत्रों के बीच विभाजन होना होता तो वह अपने पुत्र के बराबर अंश प्राप्त करने की हकदार होती। (मुल्ला कृत हिन्दू ला, 14वां संस्करण, पृष्ठ 403 देखिए)। खंडप्पा और उसके दो पुत्रों के बीच विभाजन में सहदायिकी संपत्ति में के चार अंश होंगे। जिसमें चौथा अंश खंडप्पा की पत्नी-वादी का होगा। अतः खंडप्पा को उसके तथा उसके पुत्रों के बीच काल्पनिक विभाजन पर सहदायिकी संपत्ति में 1/4 अंश प्राप्त हुआ होता।

*

*

*

¹ [1979] 2 उम. नि. प. 646 = (1978) 3 एस. सी. सी. 383.

12. हम जो निर्वचन धारा 6, उसके परन्तुक और उसके स्पष्टीकरण-1 के उपबंधों का करना चाहते हैं, वह नारी वारिसों के अंश को गुणात्मक दृष्टि और मात्रा की दृष्टि दोनों से ही अभिवृद्धि की बाबत विधायी आशय को अग्रसर करेगा । हिन्दू ला आफ इनहेरिटेन्स (अमेण्डमेन्ट) ऐक्ट, 1929 द्वारा पुत्र की पुत्री, पुत्री की पुत्री और बहन को उन सब क्षेत्रों में जिनमें कि मिताक्षरा विधि विद्यमान थी, दायदता के अधिकार प्रदत्त किए गए थे । हिन्दू वूमेन्स राइट्स टू प्रापर्टी ऐक्ट, 1937 की धारा 3 द्वारा मौटे तौर पर हिन्दू विधवा को अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति में अंश का अधिकार और साथ ही कुटुम्ब के किसी पुरुष सदस्य की तरह ही विभाजन की मांग करने का अधिकार भी प्रदत्त किया गया था । हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 14(1) द्वारा यह उपबंध किया गया है कि हिन्दू नारी के कब्जे में कोई भी सम्पत्ति चाहे वह इस अधिनियम के प्रारंभ से पूर्व या पश्चात् अर्जित की गई हो, उनके द्वारा पूर्ण स्वामी के तौर पर न कि परिसीमित स्वामी के तौर पर धारित की जाएगी । स्पष्टीकरण-1 द्वारा सृजित कल्पना के प्रवर्तन को अपीलार्थी द्वारा सुझायी गई रीति से निर्बन्धित करने का अर्थ यह होगा कि हम उस सामाजिक सुधार की स्थिति को पीछे की ओर लाकर जिसके द्वारा हिन्दू नारी को संपत्ति के मामलों में पुरुष के समान ही हैसियत अर्जित करने में समर्थ बनाया गया था, एक प्रतिगामी कदम उठा रहे हैं । यह उपधारणा करने पर भी कि स्पष्टीकरण-1 के दो निर्वचन युक्तियुक्त रूप से संभव हैं, में उसी निर्वचन को अधिमान देना होगा जो विधान-मंडल के आशय को अग्रसर करता हो और उस अन्याय को दूर करता हो जो कि हिन्दू नारियों ने कई वर्षों तक सहन किया है ।”

(जोर देने के लिए रेखांकित किया गया है)

15. मामले का अगला पहलू मिथु साव के 1/8वें अंश और अविभक्त कुटुम्ब के उत्तरजीवी सदस्यों को उक्त अंश के न्यागमन के बारे में है । इस संबंध में किसी कठिनाई के बिना यह अभिनिर्धारित किया जा सकता है कि हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 की धारा 6 के परंतुक के अधीन अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति में मिथु साव का अंश (1/8वां) किसी विल के अभाव में निर्वसीयती उत्तराधिकार द्वारा निम्नलिखित रीति में न्यागत होगा :-

$$\text{“बिलासो देवी} \quad 1/8 \times 9 = 1/72$$

पुनिया देवी	$1/8 \times 9 = 1/72$
रामनाथ	$1/8 \times 9 = 1/72$
काशीनाथ	$1/8 \times 9 = 1/72$
गोबर्धन	$1/8 \times 9 = 1/72$
जगदीश	$1/8 \times 9 = 1/72$
बलदेव	$1/8 \times 9 = 1/72$
बुचवा देवी	$1/8 \times 9 = 1/72$
सरिता	$1/8 \times 9 = 1/72$ ।”

16. इस प्रकार, 1961 के पश्चात् पुनिया देवी का फुचन महतो की विधवा होने के कारण अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति में $1/8 + 1/72$ अर्थात् $10/72$ अंश था । पुनिया देवी की वर्ष 1967 में अपनी पुत्री उगनी देवी और अपने पूर्व-मृत पुत्र मिथु साव के बालकों को पीछे छोड़ते हुए मृत्यु हो गई थी । उगनी देवी, पुनिया देवी का आधा अंश अर्थात् $10/72$ अंश का आधा अर्थात् $10/144$ अंश प्राप्त करने की हकदार होगी । शेष $10/144$ अंश, जो मिथु साव की शाखा को जाएगा, मिथु साव के आठ वारिसों अर्थात् विधवा और सात बालकों के बीच विभाजित किया जाएगा । इस प्रकार, पूर्वोक्त $10/144$ अंश निम्नलिखित रीति में न्यागत होगा :-

बिलासो देवी	$1/8 \times 10/144 = 10/1152$
रामनाथ	$1/8 \times 10/144 = 10/1152$
काशीनाथ	$1/8 \times 10/144 = 10/1152$
गोबर्धन	$1/8 \times 10/144 = 10/1152$
जगदीश	$1/8 \times 10/144 = 10/1152$
बलदेव	$1/8 \times 10/144 = 10/1152$
बुचवा देवी	$1/8 \times 10/144 = 10/1152$
सरिता	$1/8 \times 10/144 = 10/1152$

17. परिणामतः, प्रत्येक पक्षकार का अंश निम्नलिखित प्रकार से होगा :-

बिलासो देवी	1/8	+ 1/72	+ 10/1152	= 14.76%
रामनाथ	1/8	+ 1/72	+ 10/1152	= 14.76%
काशीनाथ	1/8	+ 1/72	+ 10/1152	= 14.76%
गोबर्धन	1/8	+ 1/72	+ 10/1152	= 14.76%
जगदीश	1/8	+ 1/72	+ 10/1152	= 14.76%
बलदेव	1/8	+ 1/72	+ 10/1152	= 14.76%
बुचवा देवी	0/0	+ 1/72	+ 10/1152	= 2.25%
सरिता	0/0	+ 1/72	+ 10/1152	= 2.25%
उगनी देवी	10/144			

इस प्रकार संगणित करने पर अपीलार्थियों का अंश होगा :

$$\begin{aligned}
 & 14.76 \text{ (रामनाथ)} + 14.76 \text{ (काशीनाथ)} + \\
 & 2.25 \text{ (बुचवा देवी)} + 6.94 \text{ (उगनी देवी के विधिक प्रतिनिधियों)} \\
 & = 38.1\%
 \end{aligned}$$

18. उपरोक्त को दृष्टिगत करते हुए, विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा पारित डिक्री, जिसकी अभिपुष्टि उच्च न्यायालय द्वारा की गई है, को यह अभिनिर्धारित करते हुए उपांतरित करना आवश्यक होगा कि अपीलार्थी-प्रतिवादी अविभक्त कुटुम्ब की संपत्ति में निचले न्यायालयों द्वारा यथा आदेशित 37.5% अंश के बजाए 38.1% अंश के हकदार हैं।

19. परिणामतः, यह अपील ऊपर उपदर्शित सीमा तक और विद्वान् विचारण न्यायालय द्वारा पारित डिक्री, जिसकी उच्च न्यायालय द्वारा अभिपुष्टि की गई है, के उपर्युक्त उपांतरण के साथ मंजूर की जाती है।

अपील मंजूर की गई।

जस.

[2018] 1 उम. नि. प. 187

स्वराज अभियान (V)

बनाम

भारत संघ और अन्य

21 जुलाई, 2017

न्यायमूर्ति मदन बी. लोकुर और न्यायमूर्ति एन. वी. रमना

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 256 – राज्यों की और संघ की बाध्यता – संसद् द्वारा पारित विधियां – राज्य सरकारों/संघ-राज्यक्षेत्रों द्वारा संसदीय विधियों का अननुपालन – संघ सरकार राज्य सरकारों से संसदीय विधियों के अनुपालन की अपेक्षा करने के संबंध में अपनी विवशता का अभिवाक् नहीं कर सकती ।

राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 (2013 का 20) – धारा 1, 14, 15, 16, 28 और 29 – अधिनियम का कार्यान्वयन – चूंकि अधिनियम के अधिनियमित किए जाने से चार वर्ष व्यतीत हो जाने के बावजूद अनेक राज्य सरकारों द्वारा क्रियाशील राज्य खाद्य आयोग की स्थापना न किए जाने और धारा 28 के अधीन न तो सामाजिक संपरीक्षा कराए जाने और न ही धारा 29 के अधीन कोई सतर्कता समिति स्थापित किए जाने से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि राज्य सरकारों को अधिनियम के उपबंधों को कार्यान्वित करने की चिन्ता नहीं है इसलिए अधिनियम के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए निदेश जारी किए गए ।

प्रस्तुत मामला संसद् द्वारा पारित राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 द्वारा आदिष्ट निकायों और प्राधिकरणों को राज्य सरकारों और संघ-राज्यक्षेत्रों द्वारा क्रियाशील करने के संबंध में है । आरंभ में, राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अध्यादेश, 2013 राष्ट्रपति द्वारा तारीख 5 जुलाई, 2013 को प्रख्यापित किया गया था । इसके पश्चात्, राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा विधेयक, 2013, अन्य उद्देश्यों के साथ-साथ इन उद्देश्यों के साथ संसद् में पुरःस्थापित किया गया था कि – राज्य सरकारों पर यह बाध्यता अधिरोपित करना कि वे ऐसा आंतरिक शिकायत निवारण तंत्र, जिसके अंतर्गत काल सेंटर, हैल्पलाइनें, नोडल अधिकारियों का पदाभिहित किया जाना आ सकेगा या ऐसा अन्य तंत्र, जो संबंधित सरकारों द्वारा विहित किया जाए,

स्थापित करें और राज्य सरकार द्वारा प्रत्येक जिले के लिए प्रस्तावित विधान के अध्याय 2 के अधीन हकदार खाद्यान या भोजन के वितरण से संबंधित विषयों में व्यथित व्यक्ति की शिकायतों के शीघ्र और प्रभावी निवारण के लिए इन हकदारियों के प्रवर्तन और शिकायतों का अन्वेषण और निवारण करने के लिए अपेक्षित कर्मचारिवृन्द सहित एक जिला शिकायत निवारण अधिकारी की नियुक्ति की जाए ; प्रत्येक राज्य सरकार द्वारा प्रस्तावित विधान के कार्यान्वयन को मानीटर करने और उसका पुनर्विलोकन करने के प्रयोजन के लिए राज्य खाद्य आयोग गठित किए जाने के लिए उपबंध करना ; प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी, या ऐसे किसी अन्य प्राधिकारी या निकाय द्वारा, जिसे राज्य सरकार द्वारा प्राधिकृत किया जाए, उचित दर दुकानों, लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली और अन्य कल्याणकारी स्कीमों के कार्यक्रम के संबंध में समय-समय पर सामाजिक संपरीक्षा करना या करवाना और ऐसी रीति में, जो राज्य सरकार द्वारा विहित की जाए, अपने निष्कर्ष प्रचारित करवाना और आवश्यक कार्रवाई करना । राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा विधेयक संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया गया था और उसे 10 सितम्बर, 2013 को राष्ट्रपति की सम्मति प्राप्त हुई । लगभग चार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं किन्तु राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 के अधीन स्थापित किए जाने के लिए आदिष्ट प्राधिकरणों और निकायों को कुछ राज्यों में अभी तक क्रियाशील नहीं किया गया है । ऐसा इस तथ्य के बावजूद है कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 14 में यह अपेक्षित है कि प्रत्येक राज्य एक आंतरिक शिकायत निवारण तंत्र स्थापित करेगा । इसी प्रकार धारा 15 में यह उपबंध किया गया है राज्य सरकार प्रत्येक जिले के लिए, एक अधिकारी, जो जिला शिकायत निवारण अधिकारी होगा, नियुक्त या पदाभिहित करेगी । धारा 16 में यह उपबंध किया गया है कि प्रत्येक राज्य सरकार, अधिसूचना द्वारा, एक राज्य खाद्य आयोग का गठन करेगी । धारा 28 में यह उपबंध है कि प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी या ऐसा कोई अन्य प्राधिकारी या निकाय, जिसे राज्य सरकार द्वारा प्राधिकृत किया जाए, समय-समय पर सामाजिक संपरीक्षा करेगा या करवाएगा । इसी प्रकार धारा 29 में यह उपबंध है कि प्रत्येक राज्य सरकार, लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली की पारदर्शिता और उचित कार्यक्रम को तथा ऐसी प्रणाली में कृत्यकारियों की जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए सतर्कता समितियों का गठन करेगी । अधिनियम के ये उपबंध आज्ञापक हैं और लगभग चार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी कुछ राज्यों द्वारा इन्हें पूर्णतः

कार्यान्वित नहीं किया गया है। इससे पूर्व इस मामले में इस न्यायालय के आदेश के पश्चात् संबंधित राज्य सरकारों से राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम के उपबंधों को सम्यक् गंभीरता से कार्यान्वित करने की प्रत्याशा थी चूंकि यह संसद् द्वारा अधिनियमित एक सामाजिक कल्याणकारी विधान है। किन्तु यह प्रकट होता है कि विभिन्न राज्य सरकारें अधिनियम को भाषा और भाव की दृष्टि से कार्यान्वित करने में इतने तत्पर प्रतीत नहीं होते हैं। इसलिए, न्यायनिर्णयन के लिए प्रश्न यह है कि संघ सरकार तथा नागरिकों के पास कार्यान्वयन न करने वाले राज्यों के विरुद्ध क्या उपचार उपलब्ध है। व्यापक रूप से न्यायालय का संबंध उन पांच क्षेत्रों से है, जिनमें कतिपय राज्य सरकारों को अधिनियम को कार्यान्वित करने में त्रुटिपूर्ण पाया गया है और वे क्षेत्र ये हैं – (1) अधिनियम की धारा 40 के अधीन प्रभावी कार्यान्वयन के लिए नियम विरचित करना। (2) अधिनियम की धारा 15 के अधीन जिला शिकायत निवारण अधिकारी का गठन करना। (3) अधिनियम की धारा 16 के अधीन खाद्य आयोग का गठन करना। (4) अधिनियम की धारा 28 के अधीन सामाजिक संपरीक्षा कराना। (5) अधिनियम की धारा 29 के अधीन सतर्कता समिति का गठन करना। न्यायालय द्वारा इस अधिनियम के शीघ्र कार्यान्वयन के लिए उचित निदेश दिए गए और तदनुसार आदेश करते हुए,

अभिनिर्धारित – निस्संदेह, खाद्य सुरक्षा अत्यंत महत्वपूर्ण है और जैसा कि इस न्यायालय ने मत व्यक्त किया है “किसी कार्यान्वयन के बिना मात्र स्कीमें बनाने का कोई लाभ नहीं है।” इसी प्रकार, कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संसद् द्वारा पारित किसी विधि का क्या लाभ है यदि राज्य सरकारें और संघ-राज्यक्षेत्र उसे भाषा और भाव की दृष्टि से कार्यान्वित करना तो दूर, बिल्कुल ही कार्यान्वित नहीं करते हैं। (पैरा 10)

राज्य खाद्य आयोग के गठन और उसकी स्थापना के संबंध में याची की ओर से विद्वान् काउंसिल द्वारा यह दलील दी गई थी कि यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि यद्यपि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम लगभग चार वर्षों से प्रवर्तन में है तथापि, इस न्यायालय के समक्ष उपस्थित केवल कुछ राज्य सरकारों ने इसके उपबंधों को गंभीरता से लिया है। यह बड़ी लज्जा की बात है कि हमारे समक्ष पेश कुछ राज्य सरकारों द्वारा संसद् द्वारा जनता के फायदे के लिए अधिनियमित विधान को ठंडे बस्ते में डाल दिया। यह दलील दी गई थी कि यह उदासीनता व्यापक है और ऐसे अन्य राज्य और संघ-राज्यक्षेत्र भी हैं जिन्होंने राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के उपबंधों को उनके

कार्यान्वयन के लिए गंभीरता से नहीं लिया है। (पैरा 31)

इस संबंध में बिल्कुल भी कोई संदेह नहीं हो सकता कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के अधीन सतर्कता समितियों की स्थापना करना आवश्यक है और यह तथ्य भी कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के अधिनियमन के पश्चात् चार वर्ष व्यतीत हो जाने के बावजूद उनकी स्थापना नहीं की गई है, संसद् द्वारा अधिनियमित किसी विधि का राज्य सरकारों और संघ-राज्यक्षेत्रों द्वारा सम्मान करने की चिन्ता न दर्शाने का एक अन्य संकेत है। (पैरा 40)

वर्तमान में, न्यायालय राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के कार्यकरण और कार्यान्वयन का निरीक्षण करने के लिए कोई खाद्य आयुक्त या लोकपाल नियुक्त करने के लिए तत्पर नहीं हैं। यह अधिक महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक राज्य सरकार और संघ राज्यक्षेत्र अपनी कानूनी और सांविधानिक बाध्यताओं को महसूस करे और समझे तथा यह सुनिश्चित करे कि संसद् की इच्छा को, जिसने राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 अधिनियमित किया है, भाषा और भाव की दृष्टि से पूर्ण रूप से प्रभावी किया जाए। यदि राज्य सरकारें और संघ-राज्यक्षेत्र यह विनिश्चय करते हैं कि वे संसद् द्वारा जनता के फायदे के लिए अधिनियमित किसी विधि का पालन नहीं करना चाहते हैं तो कदाचित कोई अन्य समाधान ढूँढा जा सकता है किन्तु हमें यह आशा है कि कोई राज्य सरकार या संघ-राज्यक्षेत्र संसद् की इच्छा का अनादर नहीं करेगा। (पैरा 41)

यह पूर्णतः स्पष्ट है कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम का, जो कि एक सामाजिक न्याय और सामाजिक कल्याण संबंधी विधान है, उस प्रकार कार्यान्वयन नहीं किया जा रहा है जैसा कि किया जाना चाहिए। वह हमारे समाज के लिए अभिशाप है और इसलिए, अपनी सांविधानिक बाध्यता को ध्यान में रखते हुए न्यायालय की यह राय है कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए ये निदेश जारी किए जाने की आवश्यकता है — (1) भारत सरकार के उपभोक्ता मामले, खाद्य और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय के सचिव को राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के कार्यान्वयन का जायजा लेने के लिए तारीख 31 अगस्त, 2017 को या इससे पूर्व सभी राज्य सरकारों और संघ-राज्यक्षेत्रों के संबंधित सचिवों की एक या अधिक बैठकें आयोजित करनी चाहिए और राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के उपबंधों को भाषा और भाव की दृष्टि से प्रभावी रूप से

कार्यान्वित करने के लिए उपाय ढूँढने के लिए मंथन करना चाहिए। संसद् द्वारा उसकी सामाजिक न्याय संबंधी बाध्यता के भागस्वरूप अधिनियमित किसी विधि को सम्यक् सम्मान दिया जाना चाहिए और उसे वस्तुतः इस वर्ष की समाप्ति से पूर्व ईमानदारी से और निष्ठापूर्वक कार्यान्वित किया जाना चाहिए। (2) भारत सरकार के उपभोक्ता मामले, खाद्य और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय के सचिव को, प्रत्येक राज्य सरकार और संघ-राज्यक्षेत्र को राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के उपबंधों के अधीन एक नियत समय-सीमा के भीतर और हर हालत में इस वर्ष के भीतर शिकायत निवारण तंत्र के लिए समुचित नियम अधिसूचित करने और समुचित और स्वतंत्र पदाधिकारी को जिला शिकायत निवारण अधिकारी के रूप में पदाभिहित करने का प्रभावी रूप से अनुरोध और अनुशंसा करनी चाहिए। जिला शिकायत निवारण अधिकारियों की नियुक्ति और पदाभिधान का पर्याप्त रूप से प्रचार किया जाना चाहिए जिससे कि कोई भी व्यथित व्यक्ति किसी भय के बिना और इस प्रत्याशा से समावेदन कर सके कि शिकायत का निवारण किया जाएगा। (3) भारत सरकार के उपभोक्ता मामले, खाद्य और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय में सचिव, प्रत्येक राज्य सरकार और संघ-राज्यक्षेत्र से इस वर्ष की समाप्ति से पूर्व राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के उपबंधों के अधीन एक राज्य खाद्य आयोग का गठन करने, उसकी स्थापना करने और उसे पूर्णतः कार्यात्मक बनाने के लिए प्रभावी रूप से अनुरोध और अनुशंसा करेगा। राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम में ऐसे अनेक कृत्य विनिर्दिष्ट किए गए हैं जिनका किसी राज्य खाद्य आयोग द्वारा पालन करना आवश्यक है — राज्य खाद्य आयोग के लिए कार्य की कोई कमी नहीं है। अतः, उक्त सचिव को मुख्य सचिव से यह सुनिश्चित करने की अपेक्षा करनी चाहिए कि प्रत्येक राज्य सरकार और संघ-राज्यक्षेत्र द्वारा राज्य खाद्य आयोग के अर्थपूर्ण कार्यकरण के लिए, जिसके अंतर्गत राज्य विधान-मंडल के समक्ष रखे जाने के लिए अपेक्षित वार्षिक रिपोर्टें भी हैं, पर्याप्त अवसंरचना, कर्मचारिवृन्द और अन्य सुविधाएं प्रदान करने की पर्याप्त व्यवस्था की जाए। हमारी राय में, उन कारणों से, जो हमने पहले उपदर्शित कर दिए हैं, राज्य खाद्य आयोग के रूप में कृत्य करने के लिए किसी अन्य कानूनी आयोग या निकाय को नियुक्त करना तब तक उपयुक्त नहीं होगा जब तक ऐसा करना नितांत आवश्यक और पूर्णतः अवांछनीय न हो और ऐसा केवल अंतिम उपाय के रूप में किया जाना चाहिए। (4) भारत सरकार के उपभोक्ता मामले, खाद्य और

सार्वजनिक वितरण मंत्रालय में सचिव, प्रत्येक राज्य सरकार और संघ-राज्यक्षेत्र को राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 29 में उल्लिखित कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने के प्रयोजनों के लिए इस वर्ष की समाप्ति से पूर्व उस धारा के निबंधनानुसार एक कृत्यकारी सतर्कता समिति का गठन और उसकी स्थापना करने की अनुशंसा और अनुरोध करेगा। (5) भारत सरकार के उपभोक्ता मामले, खाद्य और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय में सचिव यह सुनिश्चित करेगा कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 28 द्वारा अनुध्यात सामाजिक संपरीक्षा तंत्र, जो कि जहां तक मनरेगा अधिनियम का संबंध है, पहले से स्थापित किया गया है, प्रत्येक राज्य सरकार और संघ-राज्यक्षेत्र को समर्थ बनाने के लिए समुचित उपांतरणों सहित यथाशीघ्र स्थापित किया जाए जिससे कि समय-समय पर सामाजिक संपरीक्षा की जा सके और राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम को जनता के फायदे के लिए सप्रयोजन कार्यान्वित किया जा सके। (पैरा 42)

अधिनियम के पठन मात्र से जो बात स्पष्ट हो जाती है वह यह है कि इसकी सफलता के लिए उसे तीन स्तरों पर सहयोग की आवश्यकता है। यह उल्लेखनीय है कि विनिश्चय करने के प्रत्येक प्रक्रम पर केन्द्रीय सरकार को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है और इसकी परिकल्पना राज्य सरकारों के कामकाज को नियंत्रित करने के रूप में की गई है। इस अधिनियम में सहकारी कार्रवाई के लिए कार्यात्मक व्यवस्था के रूप में संघवाद की प्रकृति को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। ऐसे किसी अधिनियम के प्रवर्तन के लिए एकरूपता सुनिश्चित करने की दृष्टि से व्यष्टिक तथा सामूहिक रूप से विभिन्न राज्य सरकारों और संघ के बीच अधिनियम के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए परामर्श किए जाने की आवश्यकता है। (पैरा 49)

भारत में यथा-विद्यमान संघवाद के सिद्धांत को एक या दो वाक्य में स्पष्ट नहीं किया जा सकता है; इसके विपरीत संविधान के प्रत्येक उपबंध का विस्तृत अध्ययन करने से अपरिहार्य रूप से यह इंगित होगा कि भारत ने संप्रभुता को एक ओर केन्द्र और दूसरी ओर राज्यों के रूप में विभाजित किया है। प्रत्येक सत्ता केन्द्र अपने-अपने निबंधनानुसार स्वतंत्र है। सांविधानिक स्कीम के परिणामस्वरूप निरपवाद रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये संस्थाएं सहकारी संघवाद के पोषित सांविधानिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कभी-कभी बैठकें करती हैं और विभिन्न स्तरों पर परस्पर विचार-विमर्श किया जाता है। (पैरा 51)

यह उल्लेखनीय है कि हमारे सांविधानिक ढांचे में यह आदिष्ट है कि केन्द्र शक्तिहीन नहीं है जो कि संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों से प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त, राज्यों की ओर से यह उचित नहीं है कि वे ऐसे महत्वपूर्ण विधानों को प्रवर्तित करने में सामान्य जनता की दुर्दशा को अनदेखा करें, वह भी तब जब कि ऐसा विधान एक कल्याणकारी विधान हो। न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत सामग्री के आधार पर इस अधिनियम के अनुपालन से अधिक भंग प्रतीत हुए हैं जिनके कारण न्यायालय सभी राज्यों के मुख्य सचिवों को अपने समक्ष उपस्थित होने हेतु बुलाने के लिए बाध्य हुआ। अब केन्द्र और राज्यों के बीच एक अर्थपूर्ण संवाद द्वारा सहकारी संघवाद की भावना से उन विवादों का निपटारा किया जाए, जो इस मामले में उद्भूत हुए हैं। अभिलेख से यह उपदर्शित होता है कि अधिनियम के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए, विशेषकर सूखाग्रस्त क्षेत्रों में, केन्द्र और राज्य दोनों के द्वारा एक संयोजित प्रयास करने की आवश्यकता है जिससे कि लोगों को अत्यंत गरीबी और खराब जीवन स्तर से बचाया जा सके। राज्यों को इस मामले पर अधिक गंभीरता से विचार करना चाहिए और अधिनियम को भाषा और भाव की दृष्टि से कार्यान्वित करना चाहिए। (पैरा 52)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2016]	ए. आई. आर. 2016 एस. सी. 5617 : जिंदल स्टेनलेस स्टील बनाम हरियाणा राज्य ;	50
[2016]	ए. आई. आर. 2016 एस. सी. 2953 : स्वराज अभियान (II) बनाम भारत संघ और अन्य ;	48
[2013]	(2013) 2 एस. सी. सी. 688 : पीपल्स यूनिन फॉर सिविल लिबर्टीज़ (पी. डी. एस. मामले) बनाम भारत संघ और अन्य ।	10
आरंभिक (सिविल) अधिकारिता : 2015 की रिट याचिका (सिविल) सं. 857.		

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 32 के अधीन याचिका ।

उपस्थित होने वाले
पक्षकारों की ओर से

सर्वश्री तुषार मेहता, अपर महासालिसिटर,
डी. के. ठाकुर, अनिल ग्रोवर, एस. एस.
शमशेरी, अपर महाधिवक्ता, (सुश्री) वी.

मोहाना, अजीत कुमार सिन्हा, जयदीप गुप्ता, ज्येष्ठ अधिवक्ता, प्रशांत भूषण, रोहित कुमार सिंह, ओमानकुट्टन के. के., टी. सुधाकर, राजीव नन्दा, मुकुल सिंह, अजय शर्मा, राज बहादुर, आर. आर. राजेश, अजय कुमार सिंह, जी. एस. मक्कड़, मुकेश कुमार मरोरिया, (सुश्री) दीक्षा राय, नीरज कुमार शर्मा, (सुश्री) सुप्रिया जुनेजा, कुलदीप एस. परिहार, एच. एस. परिहार, गुंटुर प्रभाकर, गोपाल सिंह, मनीष कुमार, अनिरुद्ध पी. मायी, ए. सेल्विन राजा, (सुश्री) हेमन्तिका वाही, (सुश्री) जेसल वाही, (सुश्री) ममता सिंह, वीरेन्द्र कुमार शर्मा, डा. मोनिका गुसाई, (सुश्री) नूपुर सिंघल, करुनेश कुमार शुक्ला, तपेश कुमार सिंह, मोहम्मद वकास, आदित्य प्रताप सिंह, वी. एन. रघुपति, सी. डी. सिंह, (सुश्री) साक्षी कक्कड़, अवी पांडेय, (सुश्री) शिवाली चौधरी, महालिंग पंडारगे, निशांत आर. कटनेशवरकर, शिव शंकर मिश्रा, अमित शर्मा, (सुश्री) रुचि कोहली, बी. बालाजी, एस. कुमार, एस. उदय कुमार सागर, मृत्युंजय सिंह, विनय गर्ग, उपेन्द्र मिश्रा, उदय सिंह, राजीव नन्दा, राजा चटर्जी, चंचल कुमार गांगुली, वी. जी. प्रागसम और एस. प्रभु रामासुब्रमण्यम

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति मदन बी. लोकुर और न्यायमूर्ति एन. वी. रमना ने दिया ।

न्या. लोकुर – इस मामले में उद्भूत क्षुब्ध करने वाले इस प्रश्न का हमारे संविधान में साधारण उत्तर दिया गया है कि भारत सरकार, राज्य सरकारों और संघ राज्यक्षेत्रों से उन निकायों और प्राधिकरणों को

क्रियाशील बनाने की अपेक्षा करने के लिए, जो कि संसद् द्वारा पारित किसी विधि द्वारा आदिष्ट है (जैसे कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013) क्या कर सकती है ? इसका उत्तर हमारे संविधान के अनुच्छेद 256 में दिया गया है — जो कि किंचित एक विस्मृत उपबंध है — जो निम्नलिखित रूप में है :—

“256. राज्यों की और संघ की बाध्यता — प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग किया जाएगा जिससे संसद् द्वारा बनाई गई विधियों का और ऐसी विद्यमान विधियों का, जो उस राज्य में लागू हैं, अनुपालन सुनिश्चित रहे और संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक होगा जो भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिए आवश्यक प्रतीत हों ।”

दूसरे शब्दों में, भारत सरकार राज्य सरकारों से संसदीय विधियों को लागू करने की अपेक्षा करने में विवशता का अभिवाक् नहीं कर सकती है ।

एक अन्य प्रश्न, जो उद्भूत हुआ है, वह यह है — भारत के नागरिक के पास तब क्या उपचार उपलब्ध है यदि भारत सरकार ऐसा निदेश जारी नहीं करती है और राज्य सरकार या संघ-राज्यक्षेत्र संसद् द्वारा पारित किसी विधि को लागू नहीं करते हैं ।

2. ये दोनों प्रश्न उस गंभीरता के संदर्भ में उद्भूत हुए हैं जिस गंभीरता के साथ राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2016 को — जो कि एक कल्याणकारी विधान है — लागू किया गया है और किया जाना चाहिए ।

3. आरंभ में, राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अध्यादेश, 2013 राष्ट्रपति द्वारा तारीख 5 जुलाई, 2013 को प्रख्यापित किया गया था । इसके पश्चात्, राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा विधेयक, 2013, अन्य उद्देश्यों के साथ-साथ निम्नलिखित उद्देश्यों के साथ संसद् में पुरःस्थापित किया गया था :—

“(ट) राज्य सरकारों पर यह बाध्यता अधिरोपित करना कि वे ऐसा आंतरिक शिकायत निवारण तंत्र, जिसके अंतर्गत काल सेंटर, हैल्पलाइनें, नोडल अधिकारियों का पदाभिहित किया जाना आ सकेगा या ऐसा अन्य तंत्र, जो संबंधित सरकारों द्वारा विहित किया जाए, स्थापित करें और राज्य सरकार द्वारा प्रत्येक जिले के लिए प्रस्तावित विधान के अध्याय 2 के अधीन हकदार खाद्यान्न या भोजन के वितरण से संबंधित विषयों में व्यथित व्यक्ति की शिकायतों के शीघ्र और

प्रभावी निवारण के लिए इन हकदारियों के प्रवर्तन और शिकायतों का अन्वेषण और निवारण करने के लिए अपेक्षित कर्मचारिवृन्द सहित एक जिला शिकायत निवारण अधिकारी की नियुक्ति की जाए ;

(ठ) प्रत्येक राज्य सरकार द्वारा प्रस्तावित विधान के कार्यान्वयन को मानीटर करने और उसका पुनर्विलोकन करने के प्रयोजन के लिए राज्य खाद्य आयोग गठित किए जाने के लिए उपबंध करना ;

(ड) प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी, या ऐसे किसी अन्य प्राधिकारी या निकाय द्वारा, जिसे राज्य सरकार द्वारा प्राधिकृत किया जाए, उचित दर दुकानों, लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली और अन्य कल्याणकारी स्कीमों के कार्यकरण के संबंध में समय-समय पर सामाजिक संपरीक्षा करना या करवाना और ऐसी रीति में, जो राज्य सरकार द्वारा विहित की जाए, अपने निष्कर्ष प्रचारित करवाना और आवश्यक कार्रवाई करना ।”

4. राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा विधेयक संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित कर दिया गया था और उसे 10 सितम्बर, 2013 को राष्ट्रपति की सम्मति प्राप्त हुई । लगभग चार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं किन्तु राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 के अधीन स्थापित किए जाने के लिए आदिष्ट प्राधिकरणों और निकायों को कुछ राज्यों में अभी तक क्रियाशील नहीं किया गया है । ऐसा इस तथ्य के बावजूद है कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 14 में यह अपेक्षित है कि “प्रत्येक राज्य एक आंतरिक शिकायत निवारण तंत्र स्थापित करेगा ” ।

5. इसी प्रकार राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 15 में यह उपबंध किया गया है “राज्य सरकार प्रत्येक जिले के लिए, एक अधिकारी, जो जिला शिकायत निवारण अधिकारी होगा, नियुक्त या पदाभिहित करेगी..... ” ।

6. राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 16 में यह उपबंध किया गया है कि “प्रत्येक राज्य सरकार, अधिसूचना द्वारा, एक राज्य खाद्य आयोग का गठन करेगी ” ।

7. राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 28 में यह उपबंध किया गया है कि “प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी या ऐसा कोई अन्य प्राधिकारी या निकाय, जिसे राज्य सरकार द्वारा प्राधिकृत किया जाए, समय-समय पर

सामाजिक संपरीक्षा करेगा या करवाएगा ” ।

8. इसी प्रकार, राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 29 में यह उपबंध किया गया है कि “प्रत्येक राज्य सरकार, लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली की पारदर्शिता और उचित कार्यकरण को तथा ऐसी प्रणाली में कृत्यकारियों की जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए सतर्कता समितियों का गठन करेगी ” ।

9. ऊपर उल्लिखित राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के उपबंध आज्ञापक हैं और लगभग चार वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी कुछ राज्यों द्वारा इन्हें पूर्णतः कार्यान्वित नहीं किया गया है ।

10. निस्संदेह, खाद्य सुरक्षा अत्यंत महत्वपूर्ण है और जैसा कि इस न्यायालय ने पीपल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज़ (पी. डी. एस. मामले) बनाम भारत संघ और अन्य¹ वाले मामले में मत व्यक्त किया गया है “किसी कार्यान्वयन के बिना मात्र स्कीमें बनाने का कोई लाभ नहीं है ।” इसी प्रकार, कोई भी यह प्रश्न कर सकता है कि संसद् द्वारा पारित किसी विधि का क्या लाभ है यदि राज्य सरकारें और संघ-राज्यक्षेत्र उसे भाषा और भाव की दृष्टि से कार्यान्वित करना तो दूर, बिल्कुल ही कार्यान्वित नहीं करते हैं ।

11. स्वराज अभियान (II) वाले मामले में तारीख 13 मई, 2016 के हमारे आदेश के पश्चात् इस मामले को तारीख 24 अक्टूबर, 2016 को सूचीबद्ध किए जाने के बाद से हमें यही प्रश्न परेशान कर रहे हैं । हमने संबंधित राज्य सरकारों से राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम के उपबंधों को सम्यक् गंभीरता से कार्यान्वित करने की प्रत्याशा की थी चूंकि यह संसद् द्वारा अधिनियमित एक सामाजिक कल्याणकारी विधान है ।

12. दुर्भाग्यवश, सुनवाई के दौरान हमें याची की ओर से विद्वान् काउंसिल ने यह सूचित किया था कि राज्य सरकारों द्वारा राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 15 और धारा 16 का भाषा और भाव की दृष्टि से अनुपालन नहीं किया जा रहा था ।

13. जहां तक राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 15 का संबंध है, इसमें राज्य सरकार द्वारा प्रत्येक जिले के लिए अध्याय 2 के अधीन

¹ (2013) 2 एस. सी. सी. 688.

हकदार खाद्यानों या भोजन के वितरण संबंधी विषयों में व्यथित व्यक्ति की शिकायतों के शीघ्र और प्रभावी निवारण के लिए उक्त अधिनियम के अधीन हकदारियों के प्रवर्तन के लिए, एक अधिकारी, जो जिला शिकायत निवारण अधिकारी होगा, नियुक्त या पदाभिहित करना आदिष्ट है ।

14. हमें यह सूचित किया गया था कि जैसाकि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 15 में अपेक्षित है, जिला शिकायत निवारण अधिकारी की नियुक्ति या उसे पदाभिहित करने के लिए कोई नियम विरचित नहीं किए गए थे और न ही ऐसे अधिकारियों की नियुक्ति के लिए कोई अर्हताएं विहित की गई हैं । राज्य सरकार द्वारा केवल यही किया गया था कि कुछ पदाधिकारियों को जिला शिकायत निवारण अधिकारी के रूप में अतिरिक्त उत्तरदायित्व दिए गए थे । तथापि, चूंकि वही अधिकारी राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के कार्यान्वयन के भारसाधक थे इसलिए उन अधिकारियों को, जिनके पास उनके विरुद्ध शिकायतों की जा सकेंगी, जिला शिकायत निवारण अधिकारियों के रूप में पदाभिहित करने से बिल्कुल भी कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है । हमने विद्वान् महान्यायवादी को यह सुझाव दिया कि चूंकि ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे समक्ष वाले राज्य, संसद् द्वारा अधिनियमित किसी विधि के कार्यान्वयन के संबंध में पूर्णतः तैयार नहीं हैं इसलिए अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति उद्भूत हो गई है । राज्य सरकारों द्वारा सृजित इस गतिरोध को समाप्त करने के लिए केन्द्रीय सरकार के लिए यह उपयुक्त होगा कि वह राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 15 के अधीन माडल नियम विरचित करे जिससे कि राज्य सरकारों के लिए काम आसान हो जाएगा और संसद् द्वारा अधिनियमित विधि को भी कुछ बल मिल जाएगा ।

15. जहां तक राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 16 का संबंध है, इसमें राज्य सरकार द्वारा राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के कार्यान्वयन को मानीटर करने और उसके पुनर्विलोकन के प्रयोजन के लिए एक राज्य खाद्य आयोग का गठन किया जाना आदिष्ट है ।

16. हमें यह बताया गया था कि कुछ राज्य सरकारों ने उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 के उपबंधों के अधीन गठित उपभोक्ता विवाद प्रतितोष आयोग को राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 16 के अधीन राज्य खाद्य आयोग के रूप में नियुक्त किया था । हमारा यह मत है कि यह असंतोषप्रद था और विधि के उपबंधों, विशेष कर राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा

अधिनियम की भाषा और भाव की दृष्टि के अनुरूप नहीं था। इसलिए, हमने विद्वान् महान्यायवादी को यह सुझाव दिया कि ऊपर उल्लिखित कारणों से राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 16 के अधीन भी माडल नियम विरचित किए जाएं।

17. विद्वान् महान्यायवादी ने तारीख 1 दिसम्बर, 2016 को हमें यह सूचित किया कि सचिव, खाद्य और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय ने हमारे द्वारा तारीख 28 अक्टूबर, 2016 को पारित आदेश के अनुसरण में तारीख 9 नवम्बर, 2016 को एक बैठक आयोजित की। उस बैठक का कार्यवृत्त हमारे समक्ष रखा गया था। उस कार्यवृत्त के पैरा 6 में, अन्य बातों के साथ-साथ निम्न प्रकार कथन किया गया है :-

“..... जहां तक राज्य खाद्य आयोग का संबंध है, उसने यह कहा कि आदर्शतः, राज्य सरकारों को अधिनियम के उपबंधों के अनुसार स्वतंत्र आयोग की स्थापना करनी चाहिए और आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति की पद्धति और निबंधनों और शर्तों, उसकी शक्तियों, उसकी बैठकों की प्रक्रिया और आवर्तिता (छह मास में कम से कम एक बार), अपीलों की सुनवाई करने की प्रक्रिया और उनके निपटारे के लिए समय-सीमा को विहित करते हुए नियम बनाने चाहिए। तथापि, अधिनियम में राज्य सरकारों को किसी विद्यमान आयोग को राज्य खाद्य आयोग के रूप में कार्य करने के लिए अभिहित करने के संबंध में नम्यता का उपबंध किया गया है और कई राज्यों ने इस नम्यता का विकल्प अपनाया। राज्य सरकारों को इस परिदृश्य में भी उन नियमों को विरचित करना चाहिए जिनका पालन पदाभिहित आयोगों द्वारा राज्य खाद्य आयोग के रूप में अपनी भूमिका निभाते समय किया जाएगा। इसके अलावा, पदाभिहित आयोग का अध्यक्ष और ऐसे सदस्य (सदस्यों) को स्पष्ट रूप से उपदर्शित किया जाना चाहिए, जो विनिर्दिष्ट रूप से राज्य खाद्य आयोग के कृत्यों का पालन करेंगे और ऐसे आयोग को अतिरिक्त कार्य को निपटाने के लिए अतिरिक्त कर्मचारिवृन्द उपलब्ध कराया जाना चाहिए।”

18. यह उल्लेख किया गया था कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम में राज्य सरकारों को किसी विद्यमान आयोग को राज्य खाद्य आयोग के रूप में कार्य करने के लिए पदाभिहित करने संबंधी कुछ नम्यता प्रदान करने का उपबंध है। यह पाया गया था कि कई राज्य सरकारों ने इस नम्यता

का विकल्प अपनाया है । हमने यह मताभिव्यक्ति की थी कि जबकि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम में निश्चित रूप से नम्यता का उपबंध किया गया है तथापि, राज्य खाद्य आयोग के गठन को विधि की अपेक्षाओं को पूरा करना चाहिए और उसके सदस्यों को पात्रता कसौटी पर खरा उतरना चाहिए । दूसरे शब्दों में, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि किसी भी कानूनी निकाय या प्राधिकरण को राज्य खाद्य आयोग के रूप में अतिरिक्त प्रभार दिया जा सकेगा भले ही उस कानूनी निकाय या प्राधिकरण के सदस्य राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 16 की अपेक्षाओं को पूरा न करते हों ।

19. हमने यह मताभिव्यक्ति की थी कि यह अधिक उपयुक्त होगा यदि किसी राज्य खाद्य आयोग का गठन अधिनियम की धारा 16 के अधीन किया जाता है जिसके पास उस रूप में कृत्य करने के लिए आवश्यक विशेषज्ञता और अर्हताएं हों । हमने यह मताभिव्यक्ति की कि राज्य खाद्य आयोग का यथासंभव शीघ्र गठन करना उपयुक्त होगा ।

20. दुर्भाग्यवश, हमारी प्रत्याशाएं मिथ्या साबित हुईं चूंकि जब इस मामले पर तारीख 22 मार्च, 2017 को विचार किया गया तो हमने खेदपूर्वक यह पाया कि साधारणतया राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के उपबंधों को हमारे समक्ष उपस्थित राज्य सरकारों द्वारा निष्ठापूर्वक और ईमानदारी से कार्यान्वित नहीं किया गया है । जहां तक राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 16 को लागू करने का संबंध है, हमें यह सूचित किया गया था कि राज्य खाद्य आयोग की नियुक्ति अभी तक नहीं की गई है । हमने यह पाया कि किसी पूर्ववर्ती अवसर पर हमें यह सूचित किया गया था कि कई राज्य सरकारों ने उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 के अधीन गठित उपभोक्ता प्रतितोष आयोग की नियुक्ति राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 16 के अधीन राज्य खाद्य आयोग के रूप में कर दी थी । हमने इस संबंध में विद्वान् महान्यायवादी की सुनवाई की और यह मताभिव्यक्ति की थी कि उपभोक्ता विवाद प्रतितोष आयोग को राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 16 के अधीन राज्य खाद्य आयोग के रूप में कृत्य करने के लिए अतिरिक्त प्रभार देना बेतुका प्रतीत होता है । ऐसा इसलिए है क्योंकि दोनों निकायों के लिए अपेक्षित अर्हताएं पूर्णतः भिन्न-भिन्न हैं किन्तु इसके अलावा हमें यह विचित्र लगा कि उपभोक्ता विवाद प्रतितोष आयोग से, जो न्यायिक या न्यायिककल्प कृत्यों का निर्वहन करता

है, राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के अधीन राज्य खाद्य आयोग के रूप में कृत्य करने के लिए कहा जाए ।

21. हमने तारीख 24 अक्टूबर, 2016 के अपने आदेश और इस तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया कि हमने तारीख 24 अक्टूबर, 2016 का आदेश पारित करने से पूर्व विद्वान् महान्यायवादी और विद्वान् अपर महासालिसिटर और राज्यों की ओर से विद्वान् काउंसिलों की सुनवाई की थी ।

22. हमें सुनवाई के दौरान तारीख 22 मार्च, 2017 को यह सूचित किया गया था कि वास्तव में कई राज्य सरकारों ने आवश्यक नियम विरचित कर लिए हैं और केन्द्रीय सरकार ने भी माडल नियम तैयार किए थे और उन्हें राज्य सरकारों को परिचालित कर दिया था । इस बात के होते हुए भी और जबकि पर्याप्त समय व्यतीत हो चुका है, निम्नलिखित राज्यों में अब तक राज्य खाद्य आयोग का गठन नहीं किया गया है :-

1. मध्य प्रदेश
2. कर्नाटक
3. आन्ध्र प्रदेश
4. तेलंगाना
5. महाराष्ट्र
6. गुजरात
7. झारखंड
8. बिहार
9. हरियाणा
10. छत्तीसगढ़ ।

23. जहां तक हरियाणा राज्य का संबंध है, हमें यह सूचित किया गया था कि यद्यपि राज्य खाद्य निगम का गठन किया गया था तथापि, उसे कोई अवसंरचना, कार्यालय स्थान या बजट उपलब्ध नहीं कराया गया था और प्रकटतः उससे कोई कृत्य न करने का अनुरोध किया गया था जिसके परिणामस्वरूप वह अनुतोष के लिए पंजाब और हरियाणा उच्च

न्यायालय में समावेदन करने के लिए बाध्य हुआ ।

24. चूंकि हमें यह प्रतीत हुआ कि राज्य सरकारें संसद् द्वारा देश की जनता के फायदे के लिए अधिनियमित की गई किसी विधि के उपबंधों को कार्यान्वित करने के लिए तैयार नहीं थीं इसलिए हम ऊपर उल्लिखित राज्यों के मुख्य सचिवों की हमें यह बताने के लिए उपस्थिति की अपेक्षा करने के लिए बाध्य और मजबूर हुए कि संसद् द्वारा पारित विधि राज्य सरकारों द्वारा कार्यान्वित की जानी आशयित है अथवा नहीं । हमने संबंधित मुख्य सचिवों से यह अपेक्षा भी की थी कि यह मानते हुए कि राज्य सरकारें संसद् द्वारा अधिनियमित विधि को कार्यान्वित करने की इच्छुक हैं, अधिनियम के उपबंधों के अनुसार राज्य खाद्य आयोग की नियुक्ति सुनिश्चित की जाए । हमने राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 15 के अधीन स्वतंत्र जिला शिकायत निवारण अधिकारियों की, अर्थात् उन व्यक्तियों से स्वतंत्र व्यक्ति, जिनके विरुद्ध शिकायतें की जाती हैं और ऐसे व्यक्ति जो उन अधिकारियों के अधीनस्थ नहीं हैं, जिनके विरुद्ध शिकायतें की जाती हैं, नियुक्ति के ब्यौरों की भी अपेक्षा की । इसके अतिरिक्त, हमने संबंधित मुख्य सचिवों से यह सूचित करने की अपेक्षा की कि अधिनियम की धारा 28 के उपबंधों के अधीन कोई सामाजिक संपरीक्षा की गई थी अथवा नहीं । धारा 28 निम्नलिखित रूप में है :—

“सामाजिक संपरीक्षा का कराया जाना — (1) प्रत्येक स्थानीय प्राधिकारी या ऐसा कोई अन्य प्राधिकारी या निकाय, जिसे राज्य सरकार द्वारा प्राधिकृत किया जाए, उचित दर दुकान, लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली और अन्य कल्याणकारी स्कीमों के कार्यक्रम के संबंध में समय-समय पर सामाजिक संपरीक्षा करेगा या करवाएगा और ऐसी रीति से, जो राज्य सरकार द्वारा विहित की जाए, अपने निष्कर्ष प्रचारित करवाएगा और आवश्यक कार्रवाई करेगा ।

(2) केन्द्रीय सरकार, यदि वह आवश्यक समझे, सामाजिक संपरीक्षा कर सकेगी या ऐसी संपरीक्षाएं करने का अनुभव रखने वाले स्वतंत्र अभिकरणों के माध्यम से करवा सकेगी ।”

25. तारीख 26 अप्रैल, 2017 को अधिकतर मुख्य सचिव न्यायालय में उपस्थित हुए और कुछ मुख्य सचिवों के उपस्थित न होने के लिए कारण सही थे । हमारे द्वारा पूछने पर हमें राज्य खाद्य आयोग का गठन,

स्थापना और नियुक्ति करने के बारे में निम्न प्रकार सूचित किया गया था :—

1. मध्य प्रदेश - नियुक्तियां नहीं की गईं ।
2. आन्ध्र प्रदेश - नियुक्तियां नहीं की गईं ।
3. तेलंगाना - नियुक्तियां कर दी गई हैं ।
4. महाराष्ट्र - नियुक्तियां कर दी गई हैं किन्तु अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति के किसी सदस्य को नियुक्त नहीं किया गया है ।
5. गुजरात - नियुक्तियां कर दी गई हैं ।
6. झारखंड - नियुक्तियां कर दी गई हैं ।
7. बिहार - नियुक्तियां कर दी गई हैं किन्तु अब भी दो रिक्तियां हैं ।
8. छत्तीसगढ़ - नियुक्तियां कर दी गई हैं ।
9. कर्नाटक (तारीख 27 अप्रैल, 2017 को सूचित किया) - गठन और स्थापना हो गई है । तथापि, मुख्य सचिव के शपथपत्र में यह कहा गया है कि नियुक्तियां अभी नहीं की गई हैं ।
10. हरियाणा - मामला पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय में लंबित है ।

26 राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम का यह अनुपालन बहुत ही निराशाजनक है और इसी पृष्ठभूमि में हमें इस मामले पर विचार करना पड़ा है ।

27. याची की ओर से विद्वान् काउंसेल द्वारा यह दलील दी गई थी कि जहां तक जिला शिकायत निवारण अधिकारी की नियुक्ति का संबंध है, एक स्वतंत्र व्यक्ति की न कि जिला कलक्टर या जिले के उपायुक्त की नियुक्ति की जानी चाहिए । विद्वान् काउंसेल द्वारा दिया गया कारण यह था कि ये अधिकारी पहले ही अत्यधिक व्यस्त हैं, हो सकता है कि वे अपने जिले के भीतर लोगों की शिकायतों का निपटारा करने में समर्थ न हों और वे राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के कार्यान्वयन से सीधे संबंधित हैं । इस प्रकार, वे शिकायतों पर कार्रवाई करने के लिए पर्याप्त रूप से स्वतंत्र नहीं

हो सकते हैं ।

28. इस संदर्भ में हमारा ध्यान उपभोक्ता मामले, खाद्य और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय के आर्थिक सलाहकार द्वारा सभी राज्यों और संघ-राज्यक्षेत्रों के प्रधान सचिवों/खाद्य और नागरिक आपूर्ति विभाग के सचिवों को संबोधित तारीख 14 मार्च, 2017 के पत्र की ओर आकृष्ट किया गया था । इस पत्र में, राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के अधीन ऐसे शिकायत निवारण तंत्र की स्थापना करने की आवश्यकता और तारीख 21 नवम्बर, 2016 को परिचालित प्रारूप माडल नियमों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया । नियम विरचित करते समय, जो कि केन्द्रीय सरकार द्वारा तैयार किए गए प्रारूप माडल नियमों से भिन्न हो सकते हैं, इस न्यायालय द्वारा जारी किए गए निदेशों को ध्यान में रखने का अनुरोध किया गया था । त्रिपुरा राज्य सरकार द्वारा अधिसूचित नियमों की एक प्रति मार्गदर्शन के लिए संलग्न की गई थी ।

29. इस पत्र में, अन्य बातों के साथ-साथ निम्न प्रकार कथन किया गया था :—

“4. (i) शिकायत निवारण तंत्र के संबंध में नियम अधिसूचित करने (ii) जिला शिकायत निवारण अधिकारी की नियुक्ति करने और (iii) राज्य खाद्य आयोग गठित करने के लिए अग्रिम कार्रवाई करते समय, निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाए —

(क) शिकायत निवारण तंत्र की पारदर्शिता और निष्पक्षता बनाए रखने की दृष्टि से यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि सरकार को किसी ऐसे अधिकारी को, जिसका संबंध अधिनियम के अधीन हकदारियों के परिदान से हो, जिला शिकायत निवारण अधिकारी के रूप में पदाभिहित/नियुक्त न किया जाए ।

(ख) उन राज्यों/संघ-राज्यक्षेत्रों को, जिन्होंने किसी विद्यमान कानूनी आयोग को राज्य खाद्य आयोग के रूप में कृत्य करने के लिए पहले ही पदाभिहित कर दिया है, यह सुनिश्चित करने के लिए इस मामले का पुनर्विलोकन करना चाहिए कि उसका गठन अधिनियम की धारा 16 के उपबंधों के अनुसार है ।

(ग) उन राज्यों/संघ-राज्यक्षेत्रों को, जिनका आशय किसी

विद्यमान कानूनी आयोग को राज्य खाद्य आयोग के रूप में कृत्य करने के लिए पदाभिहित करना है, यह सुनिश्चित करना चाहिए कि जैसा कि माननीय उच्च न्यायालय द्वारा आदेश किया गया है, विद्यमान आयोग का गठन अधिनियम की धारा 16 के उपबंधों के अनुसार है।

(घ) राज्य सरकारें/संघ-राज्यक्षेत्र प्रशासन, राज्य की विनिर्दिष्ट अपेक्षाओं और शिकायत निवारण तंत्र के संबंध में माडल नियमों के व्यापक उपबंधों को दृष्टि में रखते हुए स्वयं अपने नियमों को अंतिम रूप दे सकेंगे और उन्हें राज्य विधिक विभाग के परामर्श से और अधिनियम की धारा 40 के उपबंधों के अनुसार अधिसूचित कर सकेंगे।”

30. हमारे मतानुसार, केन्द्रीय सरकार द्वारा परिचालित माडल नियमों पर, हमारे समक्ष उपस्थित राज्य सरकारों तथा अन्य राज्य सरकारों और संघ-राज्यक्षेत्रों को गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। जैसा कि केन्द्रीय सरकार ने सलाह दी है, शिकायत निवारण तंत्र स्वतंत्र होना चाहिए और उसका कार्यकरण पारदर्शी होना चाहिए। जहां तक इस शर्त की पूर्ति कर दी जाती है तब इस बात में कोई अंतर नहीं पड़ता कि सरकार के किसी अधिकारी को जिला शिकायत निवारण अधिकारी के रूप में नियुक्त क्यों किया गया है। तथापि, जैसा कि तारीख 14 मार्च, 2017 के पत्र में जोर दिया गया है, यह उपयुक्त होगा यदि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के अधीन हकदारियों के परिदान के संबंध में कार्यवाही करने वाले किसी अधिकारी को जिला शिकायत निवारण अधिकारी के रूप में नियुक्त या पदाभिहित नहीं किया जाता है चूंकि हो सकता है कि वह स्वयं अपने कार्यकरण के विरुद्ध कोई शिकायत ग्रहण करने में समर्थ न हो। प्रारूप माडल नियमों के परिचालन को ध्यान में रखते हुए, अब यह सुनिश्चित करना वास्तव में केन्द्रीय सरकार और राज्यों और संघ-राज्यक्षेत्रों की सरकारों पर निर्भर करता है कि अधिसूचित नियमों के माध्यम से एक पारदर्शी और जवाबदेही शिकायत निवारण तंत्र की स्थापना की जाए जिससे कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के लाभ उन लोगों को दिए जा सकें जिन्हें इस सामाजिक कल्याणकारी विधान के फायदों की आवश्यकता है।

31. राज्य खाद्य आयोग के गठन और उसकी स्थापना के संबंध में

याची की ओर से विद्वान् काउंसेल द्वारा यह दलील दी गई थी कि यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि यद्यपि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम लगभग चार वर्षों से प्रवर्तन में है तथापि, हमारे समक्ष केवल कुछ राज्य सरकारों ने इसके उपबंधों को गंभीरता से लिया है। यह बड़ी लज्जा की बात है कि हमारे समक्ष पेश कुछ राज्य सरकारों द्वारा संसद् द्वारा जनता के फायदे के लिए अधिनियमित विधान को ठंडे बस्ते में डाल दिया। यह दलील दी गई थी कि यह उदासीनता व्यापक है और ऐसे अन्य राज्य और संघ-राज्यक्षेत्र भी हैं जिन्होंने राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के उपबंधों को उनके कार्यान्वयन के लिए गंभीरता से नहीं लिया है।

32. हम याची की ओर से उपस्थित विद्वान् काउंसेल से सामान्य रूप से सहमत हैं और यह तथ्य कि केन्द्रीय सरकार द्वारा उकसाने के पश्चात् भी और हमारे द्वारा प्रेरित करने पर भी कई राज्य सरकारों ने अब तक क्रियाशील राज्य खाद्य आयोग की स्थापना नहीं की है, इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम को कार्यान्वित करने की बिल्कुल भी कोई प्रतिबद्धता नहीं है।

33. ऊपर निर्दिष्ट तारीख 14 मार्च, 2017 के पत्र में यह उल्लेख किया गया है कि उन राज्यों और संघ-राज्यक्षेत्रों को, जिनका आशय किसी विद्यमान कानूनी आयोग को राज्य खाद्य आयोग के रूप में कृत्य करने के लिए पदाभिहित करना है, यह सुनिश्चित करना चाहिए कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 16 के उपबंधों का अनुपालन किया जाए। हमारी राय में, जबकि सैद्धांतिक रूप से किसी कानूनी आयोग या निकाय का एक राज्य खाद्य आयोग के रूप में कृत्य करना संभव है बशर्ते उस कानूनी आयोग या निकाय का गठन और उसकी स्थापना राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 16 के उपबंधों के अनुसार की गई हो, किन्तु दो भिन्न-भिन्न कानूनों के अधीन दो पृथक्-पृथक् कृत्यों का पालन करने वाले एक कानूनी आयोग के वास्तविक कार्यकरण में अनेक व्यावहारिक कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। इससे उस कानूनी आयोग या निकाय की दक्षता के साथ समझौता करने की संभावना अधिक है जिसके परिणामस्वरूप कानूनी आयोग या निकाय के बहुविध कृत्यों के फायदाग्राहियों को दोनों तरफ से नुकसान होगा। यह अच्छे प्रशासन के लिए बिल्कुल भी अनुकूल नहीं है और इससे विशेषकर महिलाओं और बालकों के लिए स्वास्थ्यकर और पौष्टिक भोजन के मूलभूत अधिकार का

महत्व कम हो जाता है, जो कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम का वास्तविक उद्देश्य है।

34. यदि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम का ईमानदारी से कार्यान्वयन किया जाना है तो राज्य सरकार द्वारा राज्य खाद्य आयोग के महत्व को कम नहीं किया जा सकता है। इस संबंध में, हमें हरियाणा राज्य की ओर से फाइल किए गए शपथपत्र में यह पढ़कर दुख हुआ कि राज्य खाद्य आयोग के लिए कोई कार्य ही नहीं है। ऐसे रवैये को देखते हुए, इस बात की संभावना नहीं है कि हरियाणा राज्य या हरियाणा में राज्य खाद्य आयोग द्वारा खाद्य सुरक्षा के मामले में कोई प्रगति की जाएगी। हम केवल हरियाणा की जनता के लिए खेद व्यक्त कर सकते हैं।

35. जहां तक सामाजिक संपरीक्षा कराने का संबंध है, इसके संबंध में राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 28 में उपबंध किया गया है और याची के विद्वान् काउंसिल द्वारा इसकी जोरदार सिफारिश की गई थी।

36. विद्वान् काउंसिल द्वारा यह इंगित किया गया था और केन्द्रीय सरकार की ओर से उसके इस निवेदन के संबंध में आम सहमति व्यक्त की गई थी कि सामाजिक संपरीक्षा मानक विकसित करने संबंधी कार्यकारी समूह की प्रारूप रिपोर्ट को आवश्यक उपांतरणों सहित, जहां तक उनका संबंध राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम से है, कार्यान्वित किया जाना चाहिए। उपांतरण करने का कारण यह है कि कार्यकारी समूह ने महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम, 2005 (जिसे संक्षेप में “मनरेगा” अधिनियम कहा गया है) के संदर्भ में रिपोर्ट तैयार की थी और भारत के नियंत्रक-महालेखापरीक्षक के परामर्श से सामाजिक संपरीक्षा कराने के लिए प्रोटोकाल विकसित किया था। प्रारूप रिपोर्ट के निबंधनानुसार, संपूर्ण व्यवस्था निम्नलिखित रूप में है :—

“1. ग्राम सभा द्वारा सामाजिक संपरीक्षा प्रत्येक छह मास में की जानी है।

2. पंचायत के लेखाओं और राज्य रोजगार गारंटी निधि की वित्तीय संपरीक्षा स्थानीय निधि संपरीक्षा के निदेशकों/चार्टर्ड अकाउंटेंटों द्वारा वार्षिक रूप से कराई जानी है, जो राज्य सरकारों को संपरीक्षा प्रमाणपत्रों सहित लेखा भेजते हैं।

3. मनरेगा अधिनियम की स्कीमों के यथा-प्रमाणित लेखा, उनके

संबंध में संपरीक्षा रिपोर्ट सहित केन्द्रीय सरकार को भेजे जाते हैं जो उन्हें संसद् के प्रत्येक सदन के पटल पर रखती है।

4. राज्य सरकार द्वारा एक प्रति नियंत्रक-महालेखापरीक्षक को भी भेजी जाती है जो कि मनरेगा अधिनियम, 2005 की धारा 24 के उपबंधों के साथ पठित नियंत्रक-महालेखापरीक्षक (कर्तव्य, शक्तियां तथा सेवा की शर्तें) अधिनियम, 1971 के अधीन अपने स्वतंत्र निर्णय और शक्तियों के अनुसार स्कीमों की कालिकतः संपरीक्षा करता है।”

37. सामाजिक संपरीक्षा मानक कतिपय मूलभूत सिद्धांतों की सहायता से विरचित किए गए हैं, जैसा कि प्रारूप रिपोर्ट के पैरा 1.6 से प्रकट होता है, जो कि निम्नलिखित रूप में है :—

“ये सामाजिक संपरीक्षा मानक लोक सेक्टर संपरीक्षा के मूलभूत सिद्धांतों (आई. एस. एस. ए. आई. 100) और आई. एन. टी. ओ. एस. ए. आई. द्वारा लोक सेक्टर में एस. ए. आई. और आंतरिक संपरीक्षकों के बीच समन्वय और सहयोग के लिए जारी प्रचालन दिशानिर्देशों (आई. एस. एस. ए. आई. 9150) द्वारा प्रदान की गई सहायता से विरचित किए गए हैं। राष्ट्रीय विधिक ढांचे को ध्यान में रखा गया है, विशेषकर मनरेगा अधिनियम, 2005, मनरेगा स्कीम संपरीक्षा नियम, 2011, राज्य सरकारों के स्थानीय निधि संपरीक्षा अधिनियमों और नियंत्रक-महालेखापरीक्षक द्वारा अधिसूचित विनियम, 2007 सहित नियंत्रक-महालेखापरीक्षा (कर्तव्य, शक्तियां तथा सेवा की शर्तें) अधिनियम, 1971 को ध्यान में रखा गया है।”

38. प्रारूप रिपोर्ट संपूर्ण है और हमें यह बताया गया है कि इसे केन्द्रीय सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया गया है और मनरेगा अधिनियम के अधीन सामाजिक संपरीक्षाएं अधिकथित दिशानिर्देशों और मनरेगा अधिनियम के उपबंधों के अधीन विरचित कानूनी नियमों के अनुसार की जा रही हैं। निस्संदेह, सामाजिक संपरीक्षा कराने की आवश्यकता लाभप्रद है और चूंकि इसे केन्द्रीय सरकार द्वारा तथा भारत के नियंत्रक-लेखापरीक्षक द्वारा स्वीकार कर लिया गया है इसलिए हमें इस संबंध में कोई कारण दिखाई नहीं देता कि जहां तक राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम का संबंध है, इसे लागू क्यों नहीं किया जाना चाहिए विशेषकर तब जबकि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 28 के अधीन सामाजिक संपरीक्षा कराना आदिष्ट है।

39. याची के विद्वान् काउंसिल द्वारा हमारे ध्यान में यह लाया गया था कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 29 में लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली में पारदर्शिता और समुचित कार्यकरण को और ऐसी प्रणाली में कृत्यकारियों की जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए सतर्कता समिति की स्थापना करने की अपेक्षा की गई है । राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 29 निम्नलिखित रूप में है :—

“सतर्कता समितियों का गठन — (1) प्रत्येक राज्य सरकार, लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली की पारदर्शिता और उचित कार्यकरण को तथा ऐसी प्रणाली में कृत्यकारियों की जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए राज्य, जिला, ब्लॉक और उचित दर दुकान के स्तरों पर समय-समय पर यथा-संशोधित आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 (1955 का 10) के अधीन किए गए सार्वजनिक वितरण प्रणाली (नियंत्रण) आदेश, 2001 में यथा-विनिर्दिष्ट सतर्कता समितियों का गठन करेगी जो ऐसे व्यक्ति से मिलकर बनेगी, जो राज्य सरकार द्वारा विहित किए जाएं और इनमें स्थानीय प्राधिकारियों, अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, स्त्रियों और निराश्रित व्यक्तियों या निःशक्त व्यक्तियों को सम्यक् प्रतिनिधित्व दिया जाएगा ।

(2) सतर्कता समितियां निम्नलिखित कृत्यों का पालन करेंगी, अर्थात् —

(क) इस अधिनियम के अधीन सभी स्कीमों के कार्यान्वयन का नियमित रूप से पर्यवेक्षण करना ;

(ख) इस अधिनियम के किन्हीं उपबंधों के अतिक्रमण की जिला शिकायत निवारण अधिकारी को लिखित में सूचना देना ; और

(ग) किसी अनाचार या निधियों के दुर्विनियोग की, जिनका उसे पता चले, जिला शिकायत निवारण अधिकारी को, लिखित में सूचना देना ।”

40. इस संबंध में बिल्कुल भी कोई संदेह नहीं हो सकता कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के अधीन सतर्कता समितियों की स्थापना करना आवश्यक है और यह तथ्य भी कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के

अधिनियमन के पश्चात् चार वर्ष व्यतीत हो जाने के बावजूद उनकी स्थापना नहीं की गई है, संसद् द्वारा अधिनियमित किसी विधि का राज्य सरकारों और संघ-राज्यक्षेत्रों द्वारा सम्मान करने की चिन्ता न दर्शाने का एक अन्य संकेत है।

41. याची की ओर विद्वान् काउंसिल ने इस बात पर जोर दिया कि हम ऐसे खाद्य आयुक्तों या लोकपाल (ओम्बड्समैन) की नियुक्ति करें जो राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के कार्यकरण और कार्यान्वयन का निरीक्षण करेगा चूंकि हमारे समक्ष उपस्थित राज्य सरकारें और वास्तव में अन्य राज्य सरकारें और संघ-राज्यक्षेत्र राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के उपबंधों को कार्यान्वित नहीं कर रहे हैं। वर्तमान में, हम राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के कार्यकरण और कार्यान्वयन का निरीक्षण करने के लिए कोई खाद्य आयुक्त या लोकपाल नियुक्त करने के लिए तत्पर नहीं हैं। हमारी राय में, यह अधिक महत्वपूर्ण है कि प्रत्येक राज्य सरकार और संघ-राज्यक्षेत्र अपनी कानूनी और सांविधानिक बाध्यताओं को महसूस करें और समझे तथा यह सुनिश्चित करें कि संसद् की इच्छा को, जिसने राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 अधिनियमित किया है, भाषा और भाव की दृष्टि से पूर्ण रूप से प्रभावी किया जाए। यदि राज्य सरकारें और संघ-राज्यक्षेत्र यह विनिश्चय करते हैं कि वे संसद् द्वारा जनता के फायदे के लिए अधिनियमित किसी विधि का पालन नहीं करना चाहते हैं तो कदाचित कोई अन्य समाधान ढूंढा जा सकता है किन्तु हमें यह आशा है कि कोई राज्य सरकार या संघ-राज्यक्षेत्र संसद् की इच्छा का अनादर नहीं करेगा।

42. हमारे उपर्युक्त विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए, यह पूर्णतः स्पष्ट है कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम का, जोकि एक सामाजिक न्याय और सामाजिक कल्याण संबंधी विधान है, उस प्रकार कार्यान्वयन नहीं किया जा रहा है जैसा कि किया जाना चाहिए। वह हमारे समाज के लिए अभिशाप है और इसलिए, अपनी सांविधानिक बाध्यता को ध्यान में रखते हुए हमारी यह राय है कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए निम्नलिखित निदेश जारी किए जाने की आवश्यकता है :-

1. भारत सरकार के उपभोक्ता मामले, खाद्य और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय के सचिव को राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के कार्यान्वयन का जायज़ा लेने के लिए तारीख 31 अगस्त, 2017 को या इससे पूर्व सभी राज्य सरकारों और संघ-राज्यक्षेत्रों के संबंधित

सचिवों की एक या अधिक बैठकें आयोजित करनी चाहिए और राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के उपबंधों को भाषा और भाव की दृष्टि से प्रभावी रूप से कार्यान्वित करने के लिए उपाय ढूंढने के लिए मंथन करना चाहिए। संसद् द्वारा उसकी सामाजिक न्याय संबंधी बाध्यता के भागस्वरूप अधिनियमित किसी विधि को सम्यक् सम्मान दिया जाना चाहिए और उसे वस्तुतः इस वर्ष की समाप्ति से पूर्व ईमानदारी से और निष्ठापूर्वक कार्यान्वित किया जाना चाहिए।

2. भारत सरकार के उपभोक्ता मामले, खाद्य और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय के सचिव को, प्रत्येक राज्य सरकार और संघ-राज्यक्षेत्र को राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के उपबंधों के अधीन एक नियत समय-सीमा के भीतर और हर हालत में इस वर्ष के भीतर शिकायत निवारण तंत्र के लिए समुचित नियम अधिसूचित करने और समुचित और स्वतंत्र पदाधिकारी को जिला शिकायत निवारण अधिकारी के रूप में पदाभिहित करने का प्रभावी रूप से अनुरोध और अनुशंसा करनी चाहिए। जिला शिकायत निवारण अधिकारियों की नियुक्ति और पदाभिधान का पर्याप्त रूप से प्रचार किया जाना चाहिए जिससे कि कोई भी व्यथित व्यक्ति किसी भय के बिना और इस प्रत्याशा से समावेदन कर सके कि शिकायत का निवारण किया जाएगा।

3. भारत सरकार के उपभोक्ता मामले, खाद्य और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय में सचिव, प्रत्येक राज्य सरकार और संघ-राज्यक्षेत्र से इस वर्ष की समाप्ति से पूर्व राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के उपबंधों के अधीन एक राज्य खाद्य आयोग का गठन करने, उसकी स्थापना करने और उसे पूर्णतः कार्यात्मक बनाने के लिए प्रभावी रूप से अनुरोध और अनुशंसा करेगा। राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम में ऐसे अनेक कृत्य विनिर्दिष्ट किए गए हैं जिनका किसी राज्य खाद्य आयोग द्वारा पालन करना आवश्यक है – राज्य खाद्य आयोग के लिए कार्य की कोई कमी नहीं है। अतः, उक्त सचिव को मुख्य सचिव से यह सुनिश्चित करने की अपेक्षा करनी चाहिए कि प्रत्येक राज्य सरकार और संघ-राज्यक्षेत्र द्वारा राज्य खाद्य आयोग के अर्थपूर्ण कार्यकरण के लिए, जिसके अंतर्गत राज्य विधान-मंडल के समक्ष रखे जाने के लिए अपेक्षित वार्षिक रिपोर्टें भी हैं, पर्याप्त अवसंरचना, कर्मचारिवृन्द और अन्य सुविधाएं प्रदान करने की पर्याप्त व्यवस्था की

जाए । हमारी राय में, उन कारणों से, जो हमने पहले उपदर्शित कर दिए हैं, राज्य खाद्य आयोग के रूप में कृत्य करने के लिए किसी अन्य कानूनी आयोग या निकाय को नियुक्त करना तब तक उपयुक्त नहीं होगा जब तक ऐसा करना नितांत आवश्यक और पूर्णतः अवांछनीय न हो और ऐसा केवल अंतिम उपाय के रूप में किया जाना चाहिए ।

4. भारत सरकार के उपभोक्ता मामले, खाद्य और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय में सचिव, प्रत्येक राज्य सरकार और संघ-राज्यक्षेत्र को राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 29 में उल्लिखित कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने के प्रयोजनों के लिए इस वर्ष की समाप्ति से पूर्व उस धारा के निबंधनानुसार एक कृत्यकारी सतर्कता समिति का गठन और उसकी स्थापना करने की अनुशंसा और अनुरोध करेगा ।

5. भारत सरकार के उपभोक्ता मामले, खाद्य और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय में सचिव यह सुनिश्चित करेगा कि राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम की धारा 28 द्वारा अनुध्यात सामाजिक संपरीक्षा तंत्र, जोकि जहां तक मनरेगा अधिनियम का संबंध है, पहले से स्थापित किया गया है, प्रत्येक राज्य सरकार और संघ-राज्यक्षेत्र को समर्थ बनाने के लिए समुचित उपांतरणों सहित यथाशीघ्र स्थापित किया जाए जिससे कि समय-समय पर सामाजिक संपरीक्षा की जा सके और राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम को जनता के फायदे के लिए सप्रयोजन कार्यान्वित किया जा सके ।

न्यायमूर्ति एन. वी. रमना —

43. मुझे अपने विद्वान् बंधु न्यायमूर्ति मदन बी. लोकुर के निर्णय का परिशीलन करने का सौभाग्य मिला है । इस मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, मैं उनके निष्कर्षों और निदेशों से सहमत हूं । तथापि, राज्यों द्वारा विधियों के अननुपालन से संबंधित बृहत्तर सांविधानिक प्रश्न पर विचार करने के पश्चात् मैं ऐसे कतिपय पहलुओं को, जोकि इस मामले में अंतर्वलित हैं, जोड़ना आवश्यक समझता हूं ।

44. चूंकि प्रवर्तन, लिखित विधि और कार्यान्वित विधि के बीच की दूरी अवधारित करता है इसलिए इस मामले में हमें जिस बात की चिन्ता है

वह विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 (जिसे इसमें इसके पश्चात् संक्षेप में “अधिनियम” कहा गया है) का कार्यान्वयन है।

45. व्यापक रूप से हमारा संबंध उन पांच क्षेत्रों से है, जिनमें कतिपय राज्य सरकारों को अधिनियम को कार्यान्वित करने में त्रुटिपूर्ण पाया गया है और वे निम्नलिखित हैं :-

1. अधिनियम की धारा 40 के अधीन प्रभावी कार्यान्वयन के लिए नियम विरचित करना।
2. अधिनियम की धारा 15 के अधीन जिला शिकायत निवारण अधिकारी का गठन करना।
3. अधिनियम की धारा 16 के अधीन खाद्य आयोग का गठन करना।
4. अधिनियम की धारा 28 के अधीन सामाजिक संपरीक्षा कराना।
5. अधिनियम की धारा 29 के अधीन सतर्कता समिति का गठन करना।

46. इससे पूर्व कि हम विभिन्न पहलुओं के संबंध में कार्यवाही करें, कुछ राज्यों द्वारा ऊपर उल्लिखित क्षेत्रों में कार्यान्वयन की स्थिति की अवेक्षा करना आवश्यक है। नीचे दी गई सारणी से, जैसा कि अभिलेख से प्रकट हुआ है, अधिनियम के कार्यान्वयन की स्थिति उपदर्शित होती है -

सारणी सं. 1 – अधिनियम का कार्यान्वयन उपदर्शित करने वाली सारणी

राज्य	अधिनियम के कार्यान्वयन की तारीख	नियम 8 के संबंध में स्थिति	धारा 15 के संबंध में स्थिति (जिला शिकायत निवारण अधिकारी)	धारा 16 के संबंध में स्थिति (राज्य खाद्य आयोग)	धारा 28 के संबंध में स्थिति (सामाजिक संपरीक्षा)	धारा 29 के संबंध में स्थिति (सतर्कता समिति)
आन्ध्र प्रदेश	अभिलेख पर उपलब्ध नहीं है।	18.4.17 से विरचित	संयुक्त कलक्टर II और जिले के अपर जिला	नियुक्ति नहीं की गई। सरकारी आदेश एम. एस. सं.	उचित दर दुकानों और लक्षित सार्वजनिक	आन्ध्र प्रदेश खाद्य सुरक्षा नियम, 2017 के

			मजिस्ट्रेट को आन्ध्र प्रदेश खाद्य सुरक्षा नियम, 2017 के नियम 6 के अधीन जिला शिकायत निवारण अधिकारी (डी. जी. आर. ओ.) के रूप में पदाभिहित किया गया है।	6, उपभोक्ता मामले, खाद्य और सिविल आपूर्ति विभाग, तारीख 12.4.2017 द्वारा राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम, 2013 की धारा 16 के अधीन राज्य खाद्य आयोग का गठन करते हुए एक अधिसूचना जारी की गई है।	वितरण प्रणाली की सामाजिक संपरीक्षा का कार्य एस. एस. ए. टी., ग्रामीण विकास विभाग को सौंपा गया है।	नियम 9 के निर्बंधानुसार पुनर्गठन करने की आवश्यकता है।
बिहार	अभिलेख पर उपलब्ध नहीं है।	2014 में विरचित	आदेश सं. 432, तारीख 23.1.2014 द्वारा एक पृथक् डी. जी. आर. ओ. (अपर कलक्टर की पंक्ति से ऊपर) की नियुक्ति की गई है।	अधिसूचना सं. 386, तारीख 21.2.2014 द्वारा राज्य खाद्य आयोग का एक पृथक् इकाई के रूप में गठन किया गया है। इस समय अध्यक्ष का पद रिक्त है।	नहीं कराई गई है।	अभिलेख पर उपलब्ध नहीं है।
छत्तीसगढ़	अभिलेख पर उपलब्ध नहीं है।	विरचित नहीं किए गए हैं।	22.3.2017 को 27 जिलों में मुख्य कार्यपालक अधिकारी,	तारीख 13.12.2016 की अधिसूचना द्वारा आयोग का गठन किया	धारा 28 के निर्बंधानुसार कोई नियम अधिसूचित नहीं किए	अभिलेख पर उपलब्ध नहीं है।

			पंचायत को नियुक्त किया गया है।	गया। अध्यक्ष और पांच सदस्यों की नियुक्ति 31.3.2017 को की गई थी।	गए हैं या सामाजिक संपरीक्षा नहीं कराई जा रही है।	
गुजरात	14.2016	विरचित नहीं किए गए।	इससे पूर्व जिला आपूर्ति अधिकारी को जी. टी. एच.-2016/1/ पी. डी. एस./10.2016/151/ सी1 तारीख 27.1.2016 द्वारा जी. जी. आर. ओ. के रूप में नियुक्त किया गया था। इसके बाद संशोधन किया गया और आवासीय अपर कलक्टर (अपर जिला मजिस्ट्रेट) को जी. जी. आर. ओ. के रूप में नियुक्त किया गया है।	अधिसूचना सं. जी. टी. एच.-2017/पी. डी. एस./10.2016/1667/सी1 तारीख 21.3.2017 द्वारा आयोग का गठन किया गया और अध्यक्ष और सदस्यों की नियुक्ति की गई।	यह कि सरकार ने सामाजिक संपरीक्षा का कार्य गुजरात सामाजिक संपरीक्षा सोसाइटी को देने का विनिश्चय किया है।	अभिलेख पर उपलब्ध नहीं है।
हरियाणा	अभिलेख पर	विरचित नहीं	यह कि राज्य सरकार ने	उच्च न्यायालय के समक्ष	अब तक कोई	गठन नहीं किया गया

	उपलब्ध नहीं है।	किए गए।	तारीख 3.10.13 की अधिसूचना द्वारा सभी उपायुक्तों को जिला शिकायत निवारण अधिकारी के रूप में पहले ही पदाभिहित कर दिया है।	न्यायाधीन है। इससे पूर्व सेवा का अधिकार आयोग को अतिरिक्त प्रभार दिया गया था।	सामाजिक संपरीक्षा नहीं कराई गई है।	है।
झारखंड	अगस्त, 2015	दिसम्बर, 2015 में विरचित	अपर कलक्टर को जिला शिकायत निवारण अधिकारी (डी. जी. आर. ओ.) के रूप में पदाभिहित किया गया है।	अधिनियम की धारा 16 के अधीन राज्य खाद्य आयोग का गठन ज्ञापन सं. खा.प्र.-1/जा. वि. प्र. (रा. खा. सु/ रा. खा. आ.) 7-5/2014-1632/1633 तारीख 13.4.2017 के अधीन किया गया था। इसके अलावा, सरकार ने अध्यक्ष और अन्य पांच सदस्यों की नियुक्ति कर दी है।	ग्रामीण क्षेत्रों के लिए ग्राम सभा और शहरी क्षेत्रों के लिए नगर पालिका (शहरी स्थानीय निकाय) को सामाजिक संपरीक्षा का कार्य सौंपा गया है।	अभिलेख पर उपलब्ध नहीं है।

मध्य प्रदेश	अभिलेख पर उपलब्ध नहीं है।	7.4.17 से प्रारूप नियम विरचित कर दिए गए हैं।	गठन नहीं किया गया है।	गठन नहीं किया गया है। आयोग की नियुक्ति के लिए अपेक्षा करते हुए अधिसूचना सं. एफ-7-35-2013-XXIX-1 तारीख 11.4.2017 को जारी की गई।	अधिनियम की धारा 28 के निबंधनानुसार सामाजिक संपरीक्षा को कार्यान्वित करने के लिए एक अधिसूचना (अधिसूचना सं. एफ-6-2017-XXIX-1) 3.4.2017 को जारी की गई थी।	गठन नहीं किया गया है।
महाराष्ट्र	अभिलेख पर उपलब्ध नहीं है।	विरचित नहीं किए गए हैं।	ऐसे अपर कलक्टरों को, जिनका पी. डी. एस. से कोई संबंध नहीं है, तारीख 7.4.2017 की अधिसूचना द्वारा डी. जी. आर. ओ. के रूप में नियुक्त किया गया है।	तारीख 11.4.2017 की अधिसूचना द्वारा पृथक् आयोग का गठन किया गया है जबकि इससे पूर्व राज्य उपभोक्ता आयोग को पदाभिहित किया गया था। नियुक्तियों की जानी हैं।	तारीख 30.7.2016 के सरकारी संकल्प द्वारा सामाजिक संपरीक्षा की जा रही है।	अभिलेख पर उपलब्ध नहीं है।
तेलंगाना	अक्टूबर 2015	25.2.16 से	तेलंगाना खाद्य सुरक्षा नियम,	अधिनियम की धारा 16 के	उचित दर दुकानों और	तेलंगाना खाद्य सुरक्षा

		विरचित	2015 के नियम 4 के अधीन संयुक्त जिला कलक्टर ।	अधीन राज्य खाद्य आयोग का गठन सरकारी आदेश एम. एस. सं. 2, (सी. एस. 1-सी. सी. एस.) तारीख 10.4.2017 द्वारा किया गया था और इसका तत्पश्चात् गठन किया गया । इसके अलावा, सरकार ने अध्यक्ष, पांच सदस्यों और श्रीमती जी. जमुना, अपर सचिव, तेलंगाना सरकार (काडर बाह्य), पी. आर. एंड आर. डी. विभाग को दो वर्ष की अवधि के लिए सदस्य सचिव के रूप में नियुक्त किया गया है ।	लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली की सामाजिक संपरीक्षा मनरेगा प्लेटफार्म के अधीन एस. एस. ए. ए. टी.-टी. एस. को सौंपी गई है ।	नियम, 2015 के नियम 10 के अधीन सतर्कता समिति की स्थापना की गई है जिसमें जिला कलक्टर अध्यक्ष होगा, जिला परिषद् का अध्यक्ष सह-अध्यक्ष होगा, संयुक्त कलक्टर उपाध्यक्ष होगा, जिला आपूर्ति अधिकारी संयोजक होगा और अन्य विद्यमान सदस्य राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा अधिनियम के अनुसार अन्य सदस्य होंगे ।
--	--	--------	--	--	--	--

47. ऊपर सारणीकृत डाटा से यह प्रकट होता है कि विभिन्न राज्य सरकारें अधिनियम को भाषा और भाव की दृष्टि से कार्यान्वित करने में इतने तत्पर प्रतीत नहीं होते हैं। इसलिए, न्यायनिर्णयन के लिए प्रश्न यह है कि संघ सरकार तथा नागरिकों के पास कार्यान्वयन न करने वाले राज्यों के विरुद्ध क्या उपचार उपलब्ध है।

48. यह अधिनियम बहुपक्षीय संधियों के प्रति भारत की प्रतिबद्धता और देश में विद्यमान अनियंत्रित कुपोषण की स्थिति का उन्मूलन करने के लिए इस न्यायालय की दृढ़ता को अग्रसर करने के लिए बनाया गया था। **स्वराज अभियान (II)** बनाम **भारत संघ और अन्य**¹ वाले मामले में इस न्यायालय द्वारा भारत के संबंध में इस अधिनियमिति की आवश्यकता और महत्व को स्पष्ट किया गया है। इस अधिनियम की अद्वितीय विशेषता यह है कि केन्द्र ने सबसे निम्न स्तर की संस्थाओं को सशक्त करके अधिनियम के भीतर विनियमनकारी पहलुओं को विकेन्द्रीकृत किया है। अधिनियम की धारा 38 को प्रोद्घृत करना महत्वपूर्ण होगा, जिसके द्वारा केन्द्रीय सरकार को राज्य सरकारों को निम्नलिखित रीति में बाध्यकारी निदेश देने की शक्ति प्रदान की गई है :—

“केन्द्रीय सरकार, इस अधिनियम के उपबंधों के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए समय-समय पर राज्य सरकारों को ऐसे निदेश दे सकेगी, जो वह आवश्यक समझे और राज्य सरकारें ऐसे निदेशों का पालन करेंगी।”

49. अधिनियम के पठन मात्र से जो बात स्पष्ट हो जाती है वह यह है कि इसकी सफलता के लिए उसे तीन स्तरों पर सहयोग की आवश्यकता है। यह उल्लेखनीय है कि विनिश्चय करने के प्रत्येक प्रक्रम पर केन्द्रीय सरकार को महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है और इसकी परिकल्पना राज्य सरकारों के कामकाज को नियंत्रित करने के रूप में की गई है। इस अधिनियम में सहकारी कार्रवाई के लिए कार्यात्मक व्यवस्था के रूप में संघवाद की प्रकृति को विस्तार पूर्वक प्रस्तुत किया गया है। ऐसे किसी अधिनियम के प्रवर्तन के लिए एकरूपता सुनिश्चित करने की दृष्टि से व्यक्ति तथा सामूहिक रूप से विभिन्न राज्य सरकारों और संघ के बीच अधिनियम के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए परामर्श किए जाने की आवश्यकता है।

¹ ए. आई. आर. 2016 एस. सी. 2953.

50. यह उल्लेखनीय है कि संघ विधियों का राज्यों द्वारा प्रवर्तन किए जाने के मामले में प्रायः सहकारी संघवाद की संधार्यता से संबंधित कठिन प्रश्न उद्भूत होते हैं, जिसे हमने अपने प्रमुख सांविधानिक लोकाचार के रूप में स्वीकार किया है। जिंदल स्टेनलेस स्टील बनाम हरियाणा राज्य¹ वाले मामले में इस न्यायालय के नौ न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने भारत में सहकारी संघवाद के सिद्धांतों को निम्नलिखित रीति में दोहराया है :-

“185. संघ और राज्य भारतीय संघीय ढांचे में परस्पर-समान हैं। हमारे संविधान निर्माताओं ने एक विशिष्ट संघीय ढांचे का सृजन किया है जिसे एक या दो वाक्यों में संक्षिप्त नहीं किया जा सकता है। हमारे संघवाद के स्वरूप का अध्ययन संविधान के समस्त उपबंधों का संपूर्ण बोध होने पर ही किया जा सकता है। इस बात की अभिपुष्टि कि संघ और राज्य भारतीय संघीय ढांचे में परस्पर-समान हैं, संविधान सभा के समक्ष माननीय पी. एस. देशमुख, श्री टी. टी. कृष्णामाचारी और माननीय ज. बी. आर. अम्बेडकर द्वारा दिए गए भाषणों में पाई जा सकती है। हमारे संपूर्ण संविधान में यह सामान्य दर्शनशास्त्र है कि केन्द्र और राज्य दोनों में ऐसी सारवान् शक्तियां निहित की गई हैं जो शक्तियों के स्पष्ट पृथक्करण सहित हमारे विशिष्ट संघवाद को बनाए रखने के लिए आवश्यक हैं। भारत को अर्ध-संघीय कहना वांछनीय नहीं हो सकता है क्योंकि हमारे संविधान के लक्षण विशिष्ट और अन्य देशों, जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका आदि से पूर्णतः भिन्न हैं। भारत के न्यायालयों को इस विशिष्ट संतुलन को बनाए रखने का प्रयास करना चाहिए, जिसकी परिकल्पना हमारे संविधान-निर्माताओं ने की थी और इस संतुलनकारी कार्य में कोई हस्तक्षेप करना हमारे संविधान निर्माताओं द्वारा विहित भव्य दृष्टि के लिए हानिकर होगा। हमारे संघवाद के द्विविध स्वरूप का उल्लेख केन्द्र-राज्य संबंधों के बारे में सरकारिया आयोग की रिपोर्ट में भी किया गया है। हमारे संविधान के अधीन परिकल्पित सहकारी संघवाद सोच विचार करके चुनने की ऐसी नीति का परिणाम है, जो हमारे संविधान निर्माताओं ने अन्य संविधानों के कार्यकारी अनुभव के आधार पर बुद्धिमता से तैयार की है।”

(जोर देने के लिए रेखांकित किया गया है)

¹ ए. आई. आर. 2016 एस. सी. 5617.

51. भारत में यथा-विद्यमान संघवाद के सिद्धांत को एक या दो वाक्य में स्पष्ट नहीं किया जा सकता है; इसके विपरीत संविधान के प्रत्येक उपबंध का विस्तृत अध्ययन करने से अपरिहार्य रूप से यह इंगित होगा कि भारत ने संप्रभुता को एक ओर केन्द्र और दूसरी ओर राज्यों के रूप में विभाजित किया है। प्रत्येक सत्ता केन्द्र अपने-अपने निबंधनानुसार स्वतंत्र हैं। सांविधानिक स्कीम के परिणामस्वरूप निरपवाद रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये संस्थाएं सहकारी संघवाद के पोषित सांविधानिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कभी-कभी बैठकें करती हैं और विभिन्न स्तरों पर परस्पर विचार-विमर्श किया जाता है।

52. यह उल्लेखनीय है कि हमारे सांविधानिक ढांचे में यह आदिष्ट है कि केन्द्र शक्तिहीन नहीं है जो कि संविधान के विभिन्न अनुच्छेदों से प्रकट होता है। इसके अतिरिक्त, राज्यों की ओर से यह उचित नहीं है कि वे ऐसे महत्वपूर्ण विधानों को प्रवर्तित करने में सामान्य जनता की दुर्दशा को अनदेखा करें, वह भी तब जब कि ऐसा विधान एक कल्याणकारी विधान हो। ऊपर दी गई सारणी से हमें अनुपालन से अधिक भंग प्रतीत हुए हैं जिनके कारण हम सभी राज्यों के मुख्य सचिवों को अपने समक्ष उपस्थित होने हेतु बुलाने के लिए बाध्य हुए। मेरी यह राय है कि अब केन्द्र और राज्यों के बीच एक अर्थपूर्ण संवाद द्वारा सहकारी संघवाद की भावना से उन विवादों का निपटारा किया जाए, जो इस मामले में उद्भूत हुए हैं। अभिलेख से यह उपदर्शित होता है कि अधिनियम के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए, विशेषकर सूखाग्रस्त क्षेत्रों में, केन्द्र और राज्य, दोनों के द्वारा एक संयोजित प्रयास करने की आवश्यकता है जिससे कि लोगों को अत्यंत गरीबी और खराब जीवन स्तर से बचाया जा सके। राज्यों को इस मामले पर अधिक गंभीरता से विचार करना चाहिए और अधिनियम को भाषा और भाव की दृष्टि से कार्यान्वित करना चाहिए।

तदनुसार आदेश किया गया।

ग्रो.

राजेश शर्मा और अन्य

बनाम

उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य

27 जुलाई, 2017

न्यायमूर्ति आदर्श कुमार गोयल और न्यायमूर्ति उदय उमेश ललित

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 498क – पति और नातेदारों द्वारा क्रूरता – धारा 498क का दुरुपयोग – धारा 498क के अधीन परिवाद में केवल पति को समन करने पर परिवादी द्वारा पति के नातेदारों को भी समन करने के लिए पुनरीक्षण – उच्चतम न्यायालय द्वारा धारा 498क के दुरुपयोग को रोकने के लिए कतिपय निदेश जारी किए गए ।

प्रस्तुत मामले में कार्यवाहियां अपीलार्थी सं. 1 की पत्नी प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा फाइल किए गए परिवाद से उद्भूत हुई हैं । अपीलार्थी सं. 2 से 5, अपीलार्थी सं. 1 के माता-पिता और सहोदर हैं । परिवादी ने यह अभिकथित किया कि अपीलार्थी से उसका विवाह हुआ था । उसके पिता ने अपनी हैसियत के अनुसार दहेज दिया था किन्तु अपीलार्थी दहेज की मात्रा से प्रसन्न नहीं थे । उन्होंने परिवादी से गाली-गलौज करना आरंभ कर दिया । उन्होंने दहेज के रूप में 3,00,000/- रुपए और एक कार की मांग की जिसकी व्यवस्था उसका कुटुम्ब नहीं कर सका । अपीलार्थी सं. 1 ने परिवादी को उसके वैवाहिक गृह में छोड़ दिया । वह गर्भवती थी और इस प्रक्रिया में उसे पीड़ा हुई और उसका गर्भ गिर गया । उक्त कथन और इस अतिरिक्त कथन के आधार पर कि उसके स्त्रीधन को अपने पास रख लिया गया था, अपीलार्थी सं. 1 को भारतीय दंड संहिता की धारा 498क और धारा 323 के अधीन समन किया गया था । अपीलार्थी सं. 2 से 5 को समन नहीं किया गया था । प्रत्यर्थी सं. 2 ने उपर्युक्त आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया और यह दलील दी कि अपीलार्थी सं. 2 से 5 को भी समन किया जाना चाहिए । उक्त आवेदन अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा स्वीकार कर लिया गया था । विचारण न्यायालय को इस मामले में नए सिरे से विनिश्चय करने का निदेश दिया गया था । इसके पश्चात्, विचारण न्यायालय ने अपीलार्थी सं. 2 से 5 को भी समन किया । अपीलार्थियों ने समन करने वाले आदेश के विरुद्ध दंड प्रक्रिया संहिता,

1973 की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय में समावेदन किया। यद्यपि मामला मध्यस्थता केन्द्र को निर्देशित किया गया था तथापि, मध्यस्थता असफल रही थी। इसके पश्चात्, उच्च न्यायालय ने समन करने वाले आदेश में हस्तक्षेप करने के लिए कोई आधार नहीं पाया और आवेदन खारिज कर दिया। इसलिए यह अपील फाइल की गई है। इस अपील में जो प्रश्न उद्भूत हुआ है वह यह है कि क्या धारा 498क के दुरुपयोग को रोकने के लिए, जैसा कि कतिपय अध्ययनों और विनिश्चयों में स्वीकार किया गया है, कोई निदेश दिए जाने की आवश्यकता है। न्यायालय ने विद्वान् अपर महासालिसिटर और विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल श्री वी. गिरी से न्यायमित्र के रूप में न्यायालय की सहायता करने का अनुरोध किया। यह न्यायालय विद्वान् अपर महासालिसिटर और विद्वान् ज्येष्ठ काउंसिल श्री गिरी द्वारा प्रदान की गई सहायता के लिए अपनी कृतज्ञता लेखबद्ध करते हैं जिन्हें सुश्री उत्तरा बब्बर, सुश्री प्रज्ञा बघेल और सुश्री स्वाधा शंकर, अधिवक्ताओं द्वारा कुशलतापूर्वक सहायता दी गई थी। उच्चतम न्यायालय द्वारा कतिपय निदेश देकर मामले का निपटारा किया गया। उच्चतम न्यायालय द्वारा तदनुसार आदेश करते हुए,

अभिनिर्धारित – जैसा कि 1983 के अधिनियम सं. 46 के उद्देश्यों और कारणों के कथन में उल्लिखित है, भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 498क पत्नी के प्रति पति या उसके नातेदारों की ओर से बरती जाने वाली क्रूरता को दंडित करने के सराहनीय उद्देश्य से अंतःस्थापित की गई थी विशेष रूप से जब ऐसी क्रूरता के परिणामस्वरूप किसी स्त्री द्वारा आत्महत्या करना या उसकी हत्या होना संभावित हो। धारा 498क में “क्रूरता” अभिव्यक्ति के अंतर्गत ऐसा आचरण आता है जिससे स्त्री को आत्महत्या करने के लिए या गंभीर क्षति (चाहे वह मानसिक हो या शारीरिक) या विधिविरुद्ध मांग को पूरा करने के लिए प्रपीड़ित करने की दृष्टि से जीवन को खतरा कारित करने के लिए उसे प्रेरित या तंग किया जा सकता है। यह गंभीर चिन्ता का विषय है कि धारा 498क के अधीन अनेक मामले लगातार फाइल किए जाते रहे हैं जिनमें विवाहित स्त्री के उत्पीड़न का अभिकथन किया जाता है। इस न्यायालय ने इस तथ्य की पहले ही अवस्था की थी कि इन परिवादों में से अधिकतर परिवाद छोटे-छोटे मुद्दों पर क्षणिक आवेश में फाइल किए जाते हैं। इनमें से अनेक परिवाद सद्भाविक नहीं होते हैं। परिवाद फाइल करते समय इनकी विवेक्षाओं और इनके परिणामों को दृष्टिगत नहीं किया जाता है। कई बार ऐसे परिवादों

के परिणामस्वरूप न केवल अभियुक्त को बल्कि परिवादी को भी अनावश्यक उत्पीड़न होता है। अनावश्यक गिरफ्तारी से समझौते के आसार समाप्त हो जाते हैं। इस न्यायालय ने पहले ही यह मताभिव्यक्ति की थी कि इस उपबंध का गंभीरता से पुनर्विलोकन किया जाना आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय पर विधि आयोग, मलीमथ समिति, याचिकाओं से संबंधित राज्यसभा समिति, गृह मंत्रालय द्वारा भी विचार किया गया है। इस उपबंध का दुरुपयोग किए जाने का उल्लेख इस न्यायालय के पूर्व निर्णयों में भी किया गया है। कुछ उच्च न्यायालयों ने ऐसे दुरुपयोग को रोकने के लिए निदेश जारी किए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि निम्नलिखित क्षेत्रों में उपचारात्मक कदम उठाने की आवश्यकता है —

- (i) पति और उसके नातेदारों के लिए अनावश्यक उलझन और गिरफ्तारी।
- (ii) चूंकि अपराध असंज्ञेय है इसलिए पक्षकारों के बीच समझौता होने के बावजूद कार्यवाहियों का जारी रहना और उस कारण पक्षकारों को अनावश्यक परेशानी होना। (पैरा 14 और 15)

इस न्यायालय का कार्य विधान बनाना नहीं बल्कि विधि का निर्वचन करना है। निस्संदेह, ऐसा करते समय कभी-कभी मानदंड अधिकथित करना अपरिहार्य हो जाता है। चूंकि न्यायसंगत और निष्पक्ष प्रक्रिया जीवन के मूल अधिकार का भाग है इसलिए किसी शास्तिक उपबंध के संबंध में निर्वचन करना आवश्यक हो जाता है जिससे कि उसका कार्यचालन अन्यायपूर्ण, अतृप्त या अयुक्तिसंगत न हो। न्यायालय को किसी प्राइवेट प्रकृति के असंज्ञेय मामले को भी अभिखंडित करने की आनुषंगिक शक्ति प्राप्त है, यदि कार्यवाहियों का जारी रहना दमनकारी पाया जाता है। जबकि किसी विधिसम्मत अभियोजन को दबाना लोक नीति के विरुद्ध है तथापि, यदि प्राइवेट प्रकृति के किसी अपराध में की जाने वाली कार्यवाहियां दमनकारी पाई जाती हैं तो उन्हें अभिखंडित करने की शक्ति का प्रयोग किया जाता है। इस मुद्दे की पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है और विधि आयोग की तारीख 30 अगस्त, 2012 की 243वीं रिपोर्ट, याचिकाओं से संबंधित राज्य सभा समिति की 140वीं रिपोर्ट (सितम्बर, 2011) और उच्चतम न्यायालय के पूर्ववर्ती विनिश्चयों को भी विचार में लिया है। न्यायालय को उस उद्देश्य का भान है जिसके लिए यह उपबंध कानून में लाया गया था। इसके साथ-साथ, निर्दोष व्यक्तियों के मानवाधिकारों के अतिक्रमण को भी नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है। इस न्यायालय द्वारा अनावश्यक गिरफ्तारी या असंवेदनशील अन्वेषण के विरुद्ध कतिपय

रक्षोपायों पर विचार किया गया है। अब भी यह समस्या काफी हद तक बनी हुई है। इस स्थिति का उपचार करने के लिए अन्वेषक अधिकारियों और संबंधित विचारण न्यायालयों के संवेदनशील होने के अतिरिक्त सिविल समाज की न्याय प्रशासन में भागीदारी भी एक कदम हो सकती है। जहां वास्तविक समझौता हो गया है वहां पक्षकारों से उस प्रयोजन के लिए उच्च न्यायालय में समावेदन करने की अपेक्षा करने की बजाय कार्यवाहियों को बन्द किया जाना सुकर बनाने की भी आवश्यकता है। इस प्रकार, संपूर्ण मुद्दे पर सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् निम्नलिखित निदेश देना उपयुक्त है –

(i)(क) जिला विधिक सेवा प्राधिकरणों द्वारा प्रत्येक जिले में एक या उससे अधिक कुटुम्ब कल्याण समितियां गठित की जाएं, जिनमें अधिमानतः तीन सदस्य समाविष्ट हों। ऐसी समितियों के गठन और कार्यकरण का समय-समय पर और कम से कम वर्ष में एक बार जिले के जिला और सेशन न्यायाधीश द्वारा, जो जिला विधिक सेवा प्राधिकरण का अध्यक्ष भी है, पुनर्विलोकन किया जा सकता है। (ख) इन समितियों का गठन ऐसे अर्ध विधिक स्वयंसेवकों/ सामाजिक कार्यकर्ताओं/सेवानिवृत्त व्यक्तियों/कामकाजी अधिकारियों की पत्नियों/अन्य नागरिकों में से किया जा सकता है, जो उपयुक्त और इच्छुक पाए जाएं। (ग) समिति के सदस्यों को साक्षियों के रूप में नहीं बुलाया जाएगा। (घ) पुलिस या मजिस्ट्रेट द्वारा धारा 498क के अधीन प्राप्त प्रत्येक परिवाद ऐसी समिति को निर्देशित किया जाए और वह उसकी परीक्षा करे। ऐसी समिति पक्षकारों से व्यक्तिगत रूप से या टेलीफोन या संचार की किसी अन्य पद्धति के माध्यम से, जिसमें इलैक्ट्रॉनिक संचार भी है, संपर्क कर सकेगी। (ङ) ऐसी समिति की रिपोर्ट, परिवाद के प्राप्त होने की तारीख से अधिकतम एक मास के भीतर उस प्राधिकारी को दी जाए, जिसके द्वारा परिवाद उसे निर्देशित किया गया है। (च) समिति तथ्यात्मक पहलुओं के बारे में अपनी संक्षिप्त रिपोर्ट और उस मामले में अपनी राय दे सकेगी। (छ) जब तक समिति की रिपोर्ट प्राप्त नहीं हो जाती है तब तक सामान्यतया कोई गिरफ्तारी नहीं की जानी चाहिए। (ज) इसके बाद उस रिपोर्ट पर अन्वेषक अधिकारी या मजिस्ट्रेट द्वारा उसके अपने गुणागुण के आधार पर विचार किया जा सकता है। (झ) समिति के सदस्यों को ऐसा मूलभूत न्यूनतम प्रशिक्षण दिया जा सकता है जो विधिक सेवा प्राधिकरण द्वारा समय-समय पर आवश्यक समझा जाए। (ञ) समिति के सदस्यों को ऐसा मानदेय दिया जा सकता है जो व्यवहार्य समझा जाए। (ट) जिला और सेशन न्यायाधीश को जहां कहीं भी

आवश्यक और समुचित समझा जाए, लागत निधि का उपयोग करने की स्वतंत्रता होगी । (ii) धारा 498क के अधीन परिवादों और अन्य संसक्त अपराधों का अन्वेषण केवल उस क्षेत्र के पदाभिहित अन्वेषक अधिकारी द्वारा ही किया जा सकेगा । ऐसे पदाभिधान आज से एक मास के भीतर किए जा सकेंगे । ऐसे पदाभिहित अधिकारी के लिए ऐसी अवधि के लिए (जो एक सप्ताह से कम न हो) जो उपयुक्त समझी जाए, प्रशिक्षण लेना अपेक्षित है । यह प्रशिक्षण आज से चार मास के भीतर पूरा किया जा सकेगा ; (iii) ऐसे मामलों में जहां कोई समझौता हो गया है, जिले का जिला और सेशन न्यायाधीश या उसके द्वारा नामनिर्दिष्ट कोई अन्य ज्येष्ठ न्यायिक अधिकारी कार्यवाहियों का निपटारा करने के लिए स्वतंत्र होगा, जिसके अंतर्गत दांडिक मामले को बन्द करना भी है, यदि उस विवाद का संबंध प्रमुख रूप से विवाह-विषयक झगड़े से है ; (iv) यदि जमानत संबंधी कोई आवेदन लोक अभियोजक/परिवादी को कम से कम एक स्पष्ट दिन की सूचना के साथ फाइल किया जाता है तो उसका विनिश्चय, यथासंभव उसी दिन किया जा सकता है । दहेज की वस्तुओं की वसूली जमानत से इनकार करने का तब अपने आप में कोई आधार नहीं हो सकता है यदि पत्नी/अवयस्क बालकों के भरणपोषण या अन्य अधिकारों को अन्यथा संरक्षित किया जा सकता है । यह कहने की आवश्यकता नहीं है जमानत संबंधी मामलों पर कार्यवाही करते समय, व्यक्तिगत भूमिकाओं, अभिकथनों की प्रथमदृष्ट्या सत्यता, अतिरिक्त गिरफ्तारी/अभिरक्षा की अपेक्षा और न्याय के हित को सावधानीपूर्वक महत्व दिया जाना चाहिए ; (v) साधारणतया भारत के बाहर निवास करने वाले व्यक्तियों की बाबत पासपोर्ट का जब्त किया जाना या रेड कार्नर नोटिस का जारी किया जाना नेमी कार्य नहीं होना चाहिए ; (vi) जिला न्यायाधीश या जिला न्यायाधीश द्वारा नामनिर्दिष्ट कोई पदाभिहित ज्येष्ठ न्यायिक अधिकारी विवाह-विषयक विवादों से उद्भूत होने वाले पक्षकारों के बीच सभी संसक्त मामलों को साथ मिलाने की स्वतंत्रता होगी जिससे कि उस न्यायालय द्वारा, जिसे ऐसे सभी मामले सौंपे जाते हैं, समग्र दृष्टिकोण अपनाया जा सके ; और (vii) कुटुम्ब के सभी सदस्यों और विशेष रूप से बाहरी सदस्यों की व्यक्तिगत रूप से उपस्थिति की अपेक्षा नहीं की जा सकेगी और विचारण न्यायालय को व्यक्तिगत उपस्थिति से छूट प्रदान करनी चाहिए या विचारण की प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग द्वारा उपस्थिति अनुज्ञात करनी चाहिए । (viii) ये निदेश उन अपराधों को लागू नहीं होंगे जिनमें मूर्त

शारीरिक क्षतियां या मृत्यु अंतर्वलित है। (पैरा 16, 17, 18 और 19)

राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण, उपरोक्त व्यवस्था के कार्यक्रम का छह मास तक परिशीलन करने के पश्चात् किन्तु अधिकतम 31 मार्च, 2018 तक उपरोक्त निदेशों में कोई परिवर्तन किए जाने या कोई अतिरिक्त निदेश दिए जाने की आवश्यकता के बारे में एक रिपोर्ट दे सकेगा। यह मामला न्यायालय द्वारा अप्रैल, 2018 में विचारार्थ सूचीबद्ध किया जाए। इस आदेश की प्रतियां राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण, सभी राज्यों के पुलिस महानिदेशक और सभी उच्च न्यायालयों के रजिस्ट्रारों के समुचित अग्रिम कार्रवाई के लिए भेजी जाएं। प्रस्तुत मामले के पक्षकार उपरोक्त निदेशों के प्रकाश में अग्रिम आदेशों के लिए संबंधित विचारण या अन्य न्यायालय को समावेदन करने के लिए स्वतंत्र होंगे। (पैरा 20, 21 और 22)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2014]	(2014) 8 एस. सी. सी. 273 : अर्नेश कुमार बनाम बिहार राज्य ;	10, 14
[2014]	(2014) 2 एस. सी. सी. 1 : ललिता कुमारी बनाम उत्तर प्रदेश सरकार ;	11
[2010]	(2010) 13 एस. सी. सी. 540 : रामगोपाल बनाम मध्य प्रदेश राज्य ;	8
[2010]	(2010) 7 एस. सी. सी. 667 : प्रीति गुप्ता बनाम झारखंड राज्य ;	8
[2008]	(2008) 151 दिल्ली ला टाइम्स 691 : चन्द्र भान बनाम राज्य ;	9
[2005]	(2005) 6 एस. सी. सी. 281 : सुशील कुमार शर्मा बनाम भारत संघ ;	8
[2003]	आई. एल. आर. (2003) 1 दिल्ली 484 : सावित्री देवी बनाम रमेश चन्द ।	8

दांडिक अपीली अधिकारिता : 2017 की दांडिक अपील सं. 1265.

2016 के आवेदन सं. 397 में (दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन) इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तारीख 18 जनवरी, 2017 के निर्णय

और आदेश के विरुद्ध अपील ।

उपस्थित होने वाले
पक्षकारों की ओर से

सर्वश्री आत्माराम एस. नादकर्णी, अपर
महासालिसिटर, वी. गिरी, ज्येष्ठ
अधिवक्ता (न्यायमित्र), (सुश्री) उत्तरा बब्बर,
(सुश्री) प्रज्ञा बघेल, (सुश्री) स्वाधा शंकर,
महेश श्रीवास्तव, पंकज श्रीवास्तव, पी.
एन. पुरी, पी. के. डे, एस. ए. हसीब,
संतोष रोबेलो, (सुश्री) स्नेहा प्रभु टी, (सुश्री)
निवेदिता, अजीत यादव, बी. के. प्रसाद,
वैभव मनु श्रीवास्तव और श्रृंगारिका
प्रियदर्शिनी

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति आदर्श कुमार गोयल ने दिया ।

न्या. गोयल — इजाजत दी जाती है ।

2. इस अपील में जो प्रश्न उद्भूत हुआ है वह यह है कि क्या धारा 498क के दुरुपयोग को रोकने के लिए, जैसा कि कतिपय अध्ययनों और विनिश्चयों में स्वीकार किया गया है, कोई निदेश दिए जाने की आवश्यकता है । न्यायालय ने विद्वान् अपर महासालिसिटर श्री ए. एस. नादकर्णी और विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री वी. गिरी से न्यायमित्र के रूप में न्यायालय की सहायता करने का अनुरोध किया । हम विद्वान् अपर महासालिसिटर श्री नादकर्णी और विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री गिरी द्वारा प्रदान की गई सहायता के लिए अपनी कृतज्ञता लेखबद्ध करते हैं जिन्हें सुश्री उत्तरा बब्बर, सुश्री प्रज्ञा बघेल और सुश्री स्वाधा शंकर, अधिवक्ताओं द्वारा कुशलतापूर्वक सहायता दी गई थी ।

3. इस मामले में कार्यवाहियां अपीलार्थी सं. 1 की पत्नी प्रत्यर्थी सं. 2 द्वारा तारीख 2 दिसम्बर, 2013 को फाइल किए गए परिवाद से उद्भूत हुई हैं । अपीलार्थी सं. 2 से 5, अपीलार्थी सं. 1 के माता-पिता और सहोदर हैं । परिवादी ने यह अभिकथित किया कि अपीलार्थी से उसका विवाह 28 नवम्बर, 2012 को हुआ था । उसके पिता ने अपनी हैसियत के अनुसार दहेज दिया था किन्तु अपीलार्थी दहेज की मात्रा से प्रसन्न नहीं थे । उन्होंने परिवादी से गाली-गलौज करना आरंभ कर दिया । उन्होंने दहेज के रूप में 3,00,000/- रुपए और एक कार की मांग की जिसकी व्यवस्था उसका कुटुम्ब नहीं कर सका । अपीलार्थी सं. 1 ने तारीख 10 नवम्बर, 2013 को

परिवादी को उसके वैवाहिक गृह में छोड़ दिया। वह गर्भवती थी और इस प्रक्रिया में उसे पीड़ा हुई और उसका गर्भ गिर गया। उक्त कथन और इस अतिरिक्त कथन के आधार पर कि उसके स्त्रीधन को अपने पास रख लिया गया था, अपीलार्थी सं. 1 को भारतीय दंड संहिता की धारा 498क और धारा 323 के अधीन समन किया गया था। अपीलार्थी सं. 2 से 5 को समन नहीं किया गया था। तारीख 14 जुलाई, 2014 का आदेश निम्नलिखित रूप में है :—

“अभिलेख पर रखी गई फाइल और दस्तावेज का परिशीलन करने के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि पति श्री राजेश शर्मा ने कार और तीन लाख रुपए की मांग की थी और ऐसा प्रतीत होता है कि यह मांग पूरी न होने पर उसने परिवादी को यातना दी। जहां तक यातना देने और स्त्रीधन को प्रतिधारित करने और 50,000/- रुपए तथा सोने की चेन की मांग करने और मांग के पूरा न होने पर यातना देने का संबंध है, इसे राजेश शर्मा के विरुद्ध माना जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजेश शर्मा ही मुख्य अभियुक्त है। इन परिस्थितियों में, शेष अभियुक्तों, विजय शर्मा, जयवती शर्मा, प्रवीन शर्मा और प्रियंका शर्मा ने कोई अपराध कारित नहीं किया है और उन्होंने अपराध कारित करने में सहभागिता नहीं की है। जबकि यह प्रतीत होता है कि राजेश शर्मा ने दहेज प्रतिषेध अधिनियम की धारा 3/4 के साथ पठित भारतीय दंड संहिता की धारा 498क और धारा 323 के अधीन अपराध कारित किया है और ऐसा प्रतीत होता है कि वह प्रथमदृष्ट्या साबित हो गया है। इसलिए, उसके विरुद्ध समन जारी किया जाए।”

4. प्रत्यर्थी सं. 2 ने उपर्युक्त आदेश के विरुद्ध पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया और यह दलील दी कि अपीलार्थी सं. 2 से 5 को भी समन जारी किया जाना चाहिए। उक्त आवेदन अपर सेशन न्यायाधीश, जौनपुर द्वारा तारीख 2 जुलाई, 2015 के आदेश द्वारा स्वीकार कर लिया गया था। विचारण न्यायालय को इस मामले में नए सिरे से विनिश्चय करने का निदेश दिया गया था। इसके पश्चात्, विचारण न्यायालय ने तारीख 18 अगस्त, 2015 के आदेश द्वारा अपीलार्थी सं. 2 से 5 को भी समन किया। अपीलार्थियों ने समन करने वाले आदेश के विरुद्ध दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन उच्च न्यायालय में समावेदन किया। यद्यपि मामला मध्यस्थता केन्द्र को निर्देशित किया गया था तथापि, मध्यस्थता असफल

रही थी। इसके पश्चात्, उच्च न्यायालय ने समन करने वाले आदेश में हस्तक्षेप करने के लिए कोई आधार नहीं पाया और आवेदन खारिज कर दिया। इसलिए यह अपील फाइल की गई है।

5. इस अपील के समर्थन में दी गई मुख्य दलील यह है कि किसी विवाह-विषयक विवाद का निपटारा करने के लिए कुटुम्ब के समस्त सदस्यों को फंसाने की प्रवृत्ति पर रोक लगाने की आवश्यकता है। पति के समस्त नातेदारों के विरुद्ध सर्वग्राही अभिकथनों को प्रथमदृष्ट्या सही नहीं माना जा सकता जब कि सामान्य अनुक्रम में केवल पति या अधिक से अधिक उसके माता-पिता ही दहेज की मांग करने और क्रूरता कारित करने के लिए अभियुक्त हो सकते हैं। अधिक लोगों को अभियोजित करने की बुराई को नियंत्रित करने के लिए किसी पति के अन्य नातेदारों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए स्पष्ट समर्थनकारी सामग्री आवश्यक है। यह कहा गया है कि प्रत्यर्थी सं. 2 ने स्वयं अपना वैवाहिक-गृह छोड़ा। अपीलार्थी सं. 1 के पिता अपीलार्थी सं. 2 एक सेवानिवृत्त सरकारी कर्मचारी है। अपीलार्थी सं. 3 एक गृहिणी है। अपीलार्थी सं. 4 अविवाहित भाई और अपीलार्थी सं. 5 अविवाहित बहन है, जो कि एक सरकारी कर्मचारी हैं। अपीलार्थी सं. 2 से 5 का दहेज की किसी प्रकार की मांग करने में कोई हित नहीं था।

6. प्रत्यर्थी सं. 2 की ओर से विद्वान् काउंसल ने आक्षेपित आदेश और परिवाद में किए गए प्रकथनों का समर्थन किया।

7. विद्वान् अपर महासालिसिटर ने यह दलील दी कि धारा 498क लालची पतियों और उनके कुटुम्ब के सदस्यों द्वारा की जाने वाली अविवेकपूर्ण मांगों को नियंत्रित करने के लिए अधिनियमित की गई थी जिनकी परिणति कभी-कभी महिलाओं के साथ क्रूरता बरतने और उनकी आत्महत्या में होती है। तथापि, उसने यह स्वीकार किया कि शारीरिक या मानसिक अपहानि या क्षति के किसी सत्यापन-योग्य साक्ष्य के बिना अस्पष्ट और अतिरंजित अभिकथनों के बल पर समस्त नातेदारों को, जिनमें वृद्धावस्था वाले माता-पिता, अवयस्क बालक, सहोदर, दादा-दादी और चाचा-मामा भी शामिल हैं, फंसाने के लिए उक्त उपबंध का दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। कभी-कभी इसके परिणामस्वरूप कुटुम्ब के निर्दोष सदस्यों को, जिनमें महिलाएं और वरिष्ठ नागरिक भी शामिल हैं, उत्पीड़ित किया जाता है और यहां तक कि उन्हें गिरफ्तार भी कर लिया जाता है। इससे किसी दंपति के संभावित समझौते और पुनर्मिलन में बाधा उत्पन्न हो सकती है। अपराध अभिलेख ब्यूरो (सी. आर. बी.) के आंकड़ों के प्रति

निम्नलिखित रूप में निर्देश किया गया है :-

“9. राष्ट्रीय अपराध अभिलेख ब्यूरो की रिपोर्टों के अनुसार वर्ष 2005 में, भारतीय दंड संहिता की धारा 498क के अधीन रिपोर्ट किए गए कुल 58,319 मामलों के लिए कुल 1,27,560 लोगों को गिरफ्तार किया गया था और 6,141 मामलों को तथ्य या विधि संबंधी भूल के कारण मिथ्या घोषित किया गया था। जबकि वर्ष 2009 में रिपोर्ट किए गए कुल 89,546 मामलों के लिए कुल 1,74,395 लोगों को गिरफ्तार किया गया था और उनमें से 8,352 मामलों को तथ्य या विधि संबंधी भूल के कारण मिथ्या घोषित किया गया था।

10. गृह मंत्रालय के राष्ट्रीय अपराध अभिलेख ब्यूरो की भारत में अपराध की रिपोर्ट, 2012 के आंकड़ों के अनुसार यह दर्शित होता है कि वर्ष 2012 के लिए संपूर्ण भारत में भारतीय दंड संहिता की धारा 498क के अधीन कुल 1,97,762 लोगों को गिरफ्तार किया गया था। इसके आगे रिपोर्ट से यह दर्शित होता है कि जिन लोगों को गिरफ्तार किया गया था उनमें से लगभग एक-चौथाई महिलाएं थीं, अर्थात् कुल गिरफ्तार लोगों में से 47,951 कदाचित पति की माता या बहनें थीं। तथापि, वर्ष 2012 में भारतीय दंड संहिता की धारा 498क के अधीन आरोप पत्र फाइल करने की दर आश्चर्यजनक रूप से अत्यधिक ऊंची, अर्थात् 93.6 प्रतिशत थी जबकि दोषसिद्धि की दर सबसे कम केवल 14.4 प्रतिशत थी। रिपोर्ट में यह कहा गया है कि यहां तक कि 3,72,706 मामले विचारण के लिए लंबित थे जिनमें से 3,17,000 मामलों में दोषमुक्त किए जाने की संभावना है।

11. यह कि भारत में अपराध से संबंधित रिपोर्ट, 2013 के अनुसार, राष्ट्रीय अपराध अभिलेख ब्यूरो ने आगे यह उल्लेख किया कि वर्ष 2013 के प्रारंभ में लंबित 4,66,079 मामलों में से केवल 7,258 मामलों में दोषसिद्धि हुई जबकि 38,165 मामलों में दोषमुक्ति हुई और 8,218 मामले वापस ले लिए गए थे। भारतीय दंड संहिता की धारा 498क के अधीन रजिस्ट्रीकृत मामलों में दोषसिद्धि की दर भी सबसे कम 15.6 प्रतिशत थी।”

8. सुशील कुमार शर्मा बनाम भारत संघ¹, प्रीति गुप्ता बनाम झारखंड

¹ (2005) 6 एस. सी. सी. 281.

राज्य¹, रामगोपाल बनाम मध्य प्रदेश राज्य², सावित्री देवी बनाम रमेश चन्द³ वाले मामलों के प्रति निर्देश करते हुए यह दलील दी गई थी कि इस उपबंध का दुरुपयोग किए जाने की बात न्यायिक रूप से स्वीकार कर ली गई है और ऐसे दुरुपयोग को रोकने के लिए अध्यापकों को अंगीकार करने की आवश्यकता है। मद्रास उच्च न्यायालय ने 2008 के दंडिक मूल आवेदन सं. 1089, तारीख 4 अगस्त, 2008 में 2008 के प्रकीर्ण आवेदन सं. 1 में निम्नलिखित दिशानिर्देश जारी करने के निदेश दिए :-

“यह भी स्मरणीय है कि भारतीय दंड संहिता की धारा 498क और दहेज प्रतिषेध अधिनियम के अधिनियमन के पीछे उद्देश्य दहेज की बुराई को नियंत्रित करना और उस पर रोक लगाना और इसके साथ ही वैवाहिक गृहों को बर्बाद होने से बचाना है। हमें अनुभव से यह दर्शित होता है कि पति के अलावा सभी कौटुम्बिक सदस्यों को आलिप्त किया जाता है और उन्हें पुलिस थानों तक घसीटा जाता है। यद्यपि उन व्यक्तियों की गिरफ्तारी बिल्कुल भी आवश्यक नहीं होती है तो भी अनेक मामलों में परिवादी के अहंकार और क्रोध की तुष्टि मात्र के लिए ऐसा उत्पीड़न किया जाता है। मजिस्ट्रेटों द्वारा ऐसे मामलों के संबंध में उपयुक्त कार्यवाही करके निर्दोष व्यक्तियों को कारित होने वाली क्षति से पर्याप्त सीमा तक बचाया जा सकता है किन्तु यदि मजिस्ट्रेट स्वयं वास्तविक स्थिति की परीक्षा किए बिना पुलिस के अनुरोध मात्र को स्वीकार कर लेते हैं तो इससे नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा, विधान का प्रयोजन ही विफल हो जाएगा और समझौते के रास्ते हमेशा के लिए बन्द हो जाएंगे। पति और उसके कुटुम्ब के सदस्यों के बीच विवाद में मतभेद हो सकता है जिसके लिए गिरफ्तारी और न्यायिक प्रतिप्रेषण कोई समाधान नहीं है। प्रत्येक विधिक पद्धति का परम उद्देश्य दोषी को दंडित करना और निर्दोषों को संरक्षित करना होता है।”

9. दिल्ली उच्च न्यायालय ने 2008 के जमानत आवेदन सं. 1627 में चन्द्र भान बनाम राज्य⁴ वाले मामले में तारीख 4 अगस्त, 2008 के आदेश द्वारा निम्नलिखित दिशानिर्देश जारी करने का निदेश दिया था :-

¹ (2010) 7 एस. सी. सी. 667.

² (2010) 13 एस. सी. सी. 540.

³ आई. एल. आर. (2003) 1 दिल्ली 484.

⁴ (2008) 151 दिल्ली ला टाइम्स 691.

“2. पुलिस प्राधिकारी –

(क) पुलिस आयुक्त, दिल्ली ने उच्चतम न्यायालय द्वारा दिए गए निदेशों के अनुसरण में, स्थायी आदेश सं. 330/2007 द्वारा भारतीय दंड संहिता की धारा 498क/406 के अधीन रजिस्ट्रीकृत दहेज के मामलों में गिरफ्तारी के संबंध में दिशानिर्देश पहले ही जारी कर दिए थे और दिल्ली पुलिस द्वारा उक्त दिशानिर्देशों का कड़ाई से और निष्ठापूर्वक पालन किया जाना चाहिए –

(i) भारतीय दंड संहिता की धारा 498क/406 के अधीन कोई भी मामला पुलिस उपायुक्त/अपर पुलिस उपायुक्त के पूर्व अनुमोदन के बिना रजिस्ट्रीकृत नहीं किया जाना चाहिए ।

(ii) मुख्य अभियुक्त की गिरफ्तारी संपूर्ण अन्वेषण करने के पश्चात् और सहायक पुलिस आयुक्त/पुलिस उपायुक्त के पूर्व अनुमोदन से ही की जानी चाहिए ।

(iii) सांपार्श्विक अभियुक्तों, जैसे श्वसुर, सास, बहनोई और ननद आदि की गिरफ्तारी पुलिस उपायुक्त के फाइल पर पूर्व अनुमोदन लेने के पश्चात् ही की जानी चाहिए ।

(ख) पुलिस को महिलाओं के प्रति अपराध से संबंधित सभी प्रकोष्ठों में सुप्रशिक्षित और सभ्य कर्मचारिवृन्द, विशेष रूप से, महिला अधिकारियों को तैनात करना चाहिए और वे सभी दृढ़ता, अनुनय, धैर्य और सहिष्णुता की योग्यता से लैस होने चाहिए ।

(ग) ऐसे मामलों में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट नेमी रीति में रजिस्ट्रीकृत नहीं की जानी चाहिए ।

(घ) पुलिस को शिकायतों की संवीक्षा सावधानीपूर्वक करने का प्रयास करना चाहिए और उसके पश्चात् प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करनी चाहिए ।

(ङ) प्रथम इत्तिला रिपोर्ट केवल उन व्यक्तियों के विरुद्ध रजिस्ट्रीकृत की जानी चाहिए जिनके विरुद्ध किसी प्रकार की शारीरिक या मानसिक क्रूरता कारित करने तथा न्यास-भंग के ठोस अभिकथन हों ।

(च) कोई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रीकृत करने की सिफारिश करने से पूर्व सुलह के सभी संभावित प्रयास किए जाने चाहिए और

यदि यह पाया जाता है कि समझौते की कोई संभावना नहीं है तो प्रथमतः अभियुक्त पक्षकार द्वारा शिकायतकर्ता को स्त्रीधन और दहेज की वस्तुओं आदि की वापसी सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक कदम उठाए जाने चाहिए।¹

10. अर्नेश कुमार बनाम बिहार राज्य¹ वाले मामले में इस न्यायालय ने निम्न प्रकार निदेश दिया :-

“11.1 सभी राज्य सरकारें अपने पुलिस अधिकारियों को यह अनुदेश दें कि जब भारतीय दंड संहिता की धारा 498क के अधीन कोई मामला रजिस्ट्रीकृत किया जाए तो स्वतः गिरफ्तारी न की जाए बल्कि उन्हें दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 41 के अधीन ऊपर अभिकथित पैरामीटर के अधीन गिरफ्तारी की आवश्यकता के बारे में अपना समाधान कर लेना चाहिए ;

11.2 सभी पुलिस अधिकारियों को ऐसी जांच-सूची उपलब्ध कराई जाए जिसमें धारा 41(1)(ख)(ii) के अधीन विनिर्दिष्ट उपखंड अंतर्विष्ट हैं ;

11.3 पुलिस अधिकारी सम्यक् रूप से फाइल की गई जांच सूची को अग्रेषित करेगा और अग्रेषित करते समय/अभियुक्तों को अग्रिम निरोध के लिए मजिस्ट्रेट के समक्ष प्रस्तुत करते समय वे कारण और सामग्री प्रस्तुत करेगा जिनके कारण गिरफ्तारी आवश्यक हुई ;

11.4 मजिस्ट्रेट, अभियुक्त के निरोध को प्राधिकृत करते समय पुलिस अधिकारी द्वारा दी गई रिपोर्ट का उपर्युक्त निबंधनों के अनुसार परीशीलन करेगा और अपना समाधान लेखबद्ध करने के पश्चात् ही मजिस्ट्रेट निरोध को प्राधिकृत करेगा ;

11.5 किसी अभियुक्त को गिरफ्तार न करने का विनिश्चय मामला संस्थित किए जाने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर मजिस्ट्रेट को अग्रेषित किया जाए और इसकी एक प्रति मजिस्ट्रेट को दी जाए, जो उन कारणों से, जो लेखबद्ध किए जाएं, जिले के पुलिस अधीक्षक द्वारा प्रदान की जा सकती है ;

11.6 मामले के संस्थित किए जाने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर अभियुक्त को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 41क के

¹ (2014) 8 एस. सी. सी. 273.

निबंधनानुसार उपस्थित होने की सूचना की तामील की जाए, जो कि उन कारणों से, जो लेखबद्ध किए जाएं, जिले के पुलिस अधीक्षक द्वारा की जा सकती है ;

11.7 उपर्युक्त निदेशों का अनुपालन करने में असफल होने पर संबंधित पुलिस अधिकारियों को विभागीय कार्रवाई के लिए दायी होने के अतिरिक्त, उन्हें क्षेत्रीय अधिकारिता वाले उच्च न्यायालय के समक्ष संस्थित किए जाने वाले न्यायालय अवमान के लिए दंडित भी किया जा सकेगा ;

11.8 संबंधित न्यायिक मजिस्ट्रेट द्वारा यथापूर्वोक्त रूप में कारण लेखबद्ध किए बिना निरोध के लिए प्राधिकृत करने पर समुचित उच्च न्यायालय द्वारा विभागीय कार्रवाई की जा सकेगी ।”

11. विद्वान् अपर महासालिसिटर ने यह सुझाव दिया कि **ललिता कुमारी** बनाम **उत्तर प्रदेश सरकार**¹ वाले मामले में की गई मताभिव्यक्तियों के अनुसार कुछ प्रारंभिक जांच अवश्य की जानी चाहिए । पति के अलावा किसी नातेदार की गिरफ्तारी संबंधित मजिस्ट्रेट से अनुज्ञा प्राप्त करने के पश्चात् ही की जा सकेगी । 70 वर्ष से अधिक आयु के किसी नातेदार की कोई गिरफ्तारी नहीं की जानी चाहिए । सीधे ही गिरफ्तार करने की पुलिस की शक्ति को प्रतिषिद्ध किया जाना चाहिए । न्यायालय को अनुज्ञा प्रदान करते समय यह अभिनिश्चित कर लेना चाहिए कि अभियुक्त द्वारा कुछ प्रत्यक्ष और गुप्त कार्य किए जाने की प्रथमदृष्ट्या सामग्री विद्यमान है । इस अपराध को संज्ञेय और जमानतीय बनाया जाना चाहिए । परिवाद में प्रत्येक अभियुक्त की भूमिका विनिर्दिष्ट की जानी चाहिए और परिवाद के साथ हस्ताक्षरित शपथपत्र लगाया जाना चाहिए । अभियुक्त को प्रारंभिक जांच रिपोर्ट की प्रति दी जानी चाहिए ।

12. विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल श्री वी. गिरी ने, जिनकी सहायता सुश्री उत्तरा बब्बर, सुश्री प्रज्ञा बघेल और सुश्री स्वाधा शंकर ने की थी, यह दलील दी कि धारा 498क के अधीन किसी अपराध में गिरफ्तारी पुलिस अधीक्षक से कारण और अभिव्यक्त अनुमोदन लेखबद्ध करने के पश्चात् ही की जानी चाहिए । ऐसे नातेदारों की बाबत, जो साधारणतः भारत के बाहर निवास करते हैं, मामले पर केवल तभी कार्यवाही की जानी चाहिए यदि अन्वेषक अधिकारी को यह पक्का विश्वास हो जाता है कि निष्पक्ष अन्वेषण

¹ (2014) 2 एस. सी. सी. 1.

के लिए गिरफ्तारी आवश्यक है। ऐसे मामलों में, पासपोर्ट को जब्त किए जाने या रेड कार्नर नोटिस जारी किए जाने से बचना चाहिए। घरेलू हिंसा से महिला संरक्षण अधिनियम, 2005 की धारा 14 के अधीन परामर्श संबंधी प्रक्रिया को धारा 498क के अधीन कोई मामला रजिस्ट्रीकृत करने से पूर्व आज्ञापक बनाया जाना चाहिए।

13. हमने परस्पर-विरोधी दलीलों तथा विद्वान् अपर महासालिसिटर और ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री वी. गिरी द्वारा, जिनकी सहायता सुश्री उत्तरा बब्बर, सुश्री प्रज्ञा बघेल और सुश्री स्वाधा शंकर अधिवक्ता ने की, दिए गए सुझावों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है। हमने विधि आयोग की 243वीं रिपोर्ट (अगस्त, 2012), याचिका से संबंधित राज्यसभा समिति की 140वीं रिपोर्ट (सितम्बर, 2011) तथा उन अनेक विनिश्चयों का भी, जिनके प्रति हमारा ध्यान आकर्षित किया गया है, परिशीलन किया है।

14. जैसा कि 1983 के अधिनियम सं. 46 के उद्देश्यों और कारणों के कथन में उल्लिखित है, कानून में धारा 498क पत्नी के साथ पति या उसके नातेदारों की ओर से की जाने वाली क्रूरता को दंडित करने के सराहनीय उद्देश्य से अंतःस्थापित की गई थी, विशेष रूप से जब ऐसी क्रूरता के परिणामस्वरूप किसी स्त्री द्वारा आत्महत्या करना या उसकी हत्या होना संभावित हो। धारा 498क में “क्रूरता” अभिव्यक्ति के अंतर्गत ऐसा आचरण आता है जिससे स्त्री को आत्महत्या करने के लिए या गंभीर क्षति (चाहे वह मानसिक हो या शारीरिक) या विधिविरुद्ध मांग को पूरा करने के लिए प्रपीड़ित करने की दृष्टि से जीवन को खतरा कारित करने के लिए उसे प्रेरित या तंग किया जा सकता है। यह गंभीर चिन्ता का विषय है कि धारा 498क के अधीन अनेक मामले लगातार फाइल किए जाते रहे हैं जिनमें विवाहित स्त्री के उत्पीड़न का अभिकथन किया जाता है। हमने अपराध अभिलेख ब्यूरो के कुछ आंकड़ों के प्रति पहले ही निर्देश कर दिया है। इस न्यायालय ने इस तथ्य की पहले ही अवेक्षा की थी कि इन परिवादों में से अधिकतर परिवाद छोटे-छोटे मुद्दों पर क्षणिक आवेश में फाइल किए जाते हैं। इनमें से अनेक परिवाद सद्भाविक नहीं होते हैं। परिवाद फाइल करते समय इनकी विवक्षाओं और इनके परिणामों को दृष्टिगत नहीं किया जाता है। कई बार ऐसे परिवादों के परिणामस्वरूप न केवल अभियुक्त को बल्कि परिवादी को भी अनावश्यक उत्पीड़न होता है। अनावश्यक गिरफ्तारी से समझौते के आसार समाप्त हो जाते हैं। इस न्यायालय ने पहले ही यह मताभिव्यक्ति की थी कि इस उपबंध का

गंभीरता से पुनर्विलोकन किया जाना आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विषय पर विधि आयोग, मलीमथ समिति, याचिकाओं से संबंधित राज्य सभा समिति, गृह मंत्रालय द्वारा भी विचार किया गया है, जिसके प्रति इस निर्णय के पूर्ववर्ती भाग में निर्देश किया गया है। इस उपबंध का दुरुपयोग किए जाने का उल्लेख इससे पूर्व निर्दिष्ट इस न्यायालय के निर्णयों में भी किया गया है। कुछ उच्च न्यायालयों ने ऐसे दुरुपयोग को रोकने के लिए निदेश जारी किए हैं। **अर्नेश कुमार** (उपरोक्त) वाले मामले में इस न्यायालय ने अनावश्यक गिरफ्तारियों को संरक्षित करने के लिए निदेश दिए हैं। विधि आयोग द्वारा भी इस अपराध को संज्ञेय बनाने की सिफारिश की गई है।

15. ऐसा प्रतीत होता है कि निम्नलिखित क्षेत्रों में उपचारात्मक कदम उठाने की आवश्यकता है :-

(i) पति और उसके नातेदारों के लिए अनावश्यक उलझन और गिरफ्तारी।

(ii) चूंकि अपराध असंज्ञेय है इसलिए पक्षकारों के बीच समझौता होने के बावजूद कार्यवाहियों का जारी रहना और उस कारण पक्षकारों को अनावश्यक परेशानी होना।

16. इस न्यायालय का कार्य विधान बनाना नहीं बल्कि विधि का निर्वचन करना है। निस्संदेह, ऐसा करते समय कभी-कभी मानदंड अधिकथित करना अपरिहार्य हो जाता है। चूंकि न्यायसंगत और निष्पक्ष प्रक्रिया जीवन के मूल अधिकार का भाग है इसलिए किसी शास्तिक उपबंध के संबंध में निर्वचन करना आवश्यक हो जाता है जिससे कि उसका कार्यचालन अन्यायपूर्ण, अऋजु या अयुक्तिसंगत न हो। न्यायालय को किसी प्राइवेट प्रकृति के असंज्ञेय मामले को भी अभिखंडित करने की आनुषंगिक शक्ति प्राप्त है, यदि कार्यवाहियों का जारी रहना दमनकारी पाया जाता है। जबकि किसी विधिसम्मत अभियोजन को दबाना लोक नीति के विरुद्ध है तथापि, यदि प्राइवेट प्रकृति के किसी अपराध में की जाने वाली कार्यवाहियां दमनकारी पाई जाती हैं तो उन्हें अभिखंडित करने की शक्ति का प्रयोग किया जाता है।

17. हमने इस मुद्दे की पृष्ठभूमि पर विचार किया है और विधि आयोग की तारीख 30 अगस्त, 2012 की 243वीं रिपोर्ट, याचिकाओं से संबंधित राज्य सभा समिति की 140वीं रिपोर्ट (सितम्बर, 2011) और इस न्यायालय

के पूर्ववर्ती विनिश्चयों को भी विचार में लिया है। हमें उस उद्देश्य का भान है जिसके लिए यह उपबंध कानून में लाया गया था। इसके साथ-साथ, निर्दोष व्यक्तियों के मानवाधिकारों के अतिक्रमण को भी नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता है। इस न्यायालय द्वारा अनावश्यक गिरफ्तारी या असंवेदनशील अन्वेषण के विरुद्ध कतिपय रक्षोपायों पर विचार किया गया है। अब भी यह समस्या काफी हद तक बनी हुई है।

18. इस स्थिति का उपचार करने के लिए हमारा यह मत है कि अन्वेषक अधिकारियों और संबंधित विचारण न्यायालयों के संवेदनशील होने के अतिरिक्त सिविल समाज की न्याय प्रशासन में भागीदारी भी एक कदम हो सकती है। जहां वास्तविक समझौता हो गया है वहां पक्षकारों से उस प्रयोजन के लिए उच्च न्यायालय में समावेदन करने की अपेक्षा करने की बजाय कार्यवाहियों को बन्द किया जाना सुकर बनाने की भी आवश्यकता है।

19. इस प्रकार, संपूर्ण मुद्दे पर सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् हम निम्नलिखित निदेश देना उपयुक्त समझते हैं :-

(i)(क) जिला विधिक सेवा प्राधिकरणों द्वारा प्रत्येक जिले में एक या उससे अधिक कुटुम्ब कल्याण समितियां गठित की जाएं, जिनमें अधिमानतः तीन सदस्य समाविष्ट हों। ऐसी समितियों के गठन और कार्यकरण का समय-समय पर और कम से कम वर्ष में एक बार जिले के जिला और सेशन न्यायाधीश द्वारा, जो जिला विधिक सेवा प्राधिकरण का अध्यक्ष भी है, पुनर्विलोकन किया जा सकता है।

(ख) इन समितियों का गठन ऐसे अर्ध विधिक स्वयंसेवकों/ सामाजिक कार्यकर्ताओं/सेवानिवृत्त व्यक्तियों/कामकाजी अधिकारियों की पत्नियों/अन्य नागरिकों में से किया जा सकता है, जो उपयुक्त और इच्छुक पाए जाएं।

(ग) समिति के सदस्यों को साक्षियों के रूप में नहीं बुलाया जाएगा।

(घ) पुलिस या मजिस्ट्रेट द्वारा धारा 498क के अधीन प्राप्त प्रत्येक परिवाद ऐसी समिति को निर्देशित किया जाए और वह उसकी परीक्षा करे। ऐसी समिति पक्षकारों से व्यक्तिगत रूप से या टेलीफोन या संचार की किसी अन्य पद्धति के माध्यम से, जिसमें इलेक्ट्रानिक संचार भी है, संपर्क कर सकेगी।

(ड) ऐसी समिति की रिपोर्ट, परिवाद के प्राप्त होने की तारीख से अधिकतम एक मास के भीतर उस प्राधिकारी को दी जाए, जिसके द्वारा परिवाद उसे निर्देशित किया गया है ।

(च) समिति तथ्यात्मक पहलुओं के बारे में अपनी संक्षिप्त रिपोर्ट और उस मामले में अपनी राय दे सकेगी ।

(छ) जब तक समिति की रिपोर्ट प्राप्त नहीं हो जाती है तब तक सामान्यतया कोई गिरफ्तारी नहीं की जानी चाहिए ।

(ज) इसके बाद उस रिपोर्ट पर अन्वेषक अधिकारी या मजिस्ट्रेट द्वारा उसके अपने गुणागुण के आधार पर विचार किया जा सकता है ।

(झ) समिति के सदस्यों को ऐसा मूलभूत न्यूनतम प्रशिक्षण दिया जा सकता है जो विधिक सेवा प्राधिकरण द्वारा समय-समय पर आवश्यक समझा जाए ।

(ञ) समिति के सदस्यों को ऐसा मानदेय दिया जा सकता है जो व्यवहार्य समझा जाए ।

(ट) जिला और सेशन न्यायाधीश को जहां कहीं भी आवश्यक और समुचित समझा जाए, लागत निधि का उपयोग करने की स्वतंत्रता होगी ।

(ii) धारा 498क के अधीन परिवादों और अन्य संसक्त अपराधों का अन्वेषण केवल उस क्षेत्र के पदाभिहित अन्वेषक अधिकारी द्वारा ही किया जा सकेगा । ऐसे पदाभिधान आज से एक मास के भीतर किए जा सकेंगे । ऐसे पदाभिहित अधिकारी के लिए ऐसी अवधि के लिए (जो एक सप्ताह से कम न हो) जो उपयुक्त समझी जाए, प्रशिक्षण लेना अपेक्षित है । यह प्रशिक्षण आज से चार मास के भीतर पूरा किया जा सकेगा ;

(iii) ऐसे मामलों में जहां कोई समझौता हो गया है, जिले का जिला और सेशन न्यायाधीश या उसके द्वारा नामनिर्दिष्ट कोई अन्य ज्येष्ठ न्यायिक अधिकारी कार्यवाहियों का निपटारा करने के लिए स्वतंत्र होगा, जिसके अंतर्गत दांडिक मामले को बन्द करना भी है, यदि उस विवाद का संबंध प्रमुख रूप से विवाह-विषयक झगड़े से है ;

(iv) यदि जमानत संबंधी कोई आवेदन लोक अभियोजक/परिवादी को कम से कम एक स्पष्ट दिन की सूचना के साथ फाइल

किया जाता है तो उसका विनिश्चय, यथासंभव उसी दिन किया जा सकता है। दहेज की वस्तुओं की वसूली जमानत से इनकार करने का तब अपने आप में कोई आधार नहीं हो सकता है यदि पत्नी/अवयस्क बालकों के भरणपोषण या अन्य अधिकारों को अन्यथा संरक्षित किया जा सकता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है जमानत संबंधी मामलों पर कार्यवाही करते समय, व्यक्तिगत भूमिकाओं, अभिकथनों की प्रथमदृष्ट्या सत्यता, अतिरिक्त गिरफ्तारी/अभिरक्षा की अपेक्षा और न्याय के हित को सावधानीपूर्वक महत्व दिया जाना चाहिए ;

(v) साधारणतया भारत के बाहर निवास करने वाले व्यक्तियों की बाबत पासपोर्ट का जब्त किया जाना या रेड कार्नर नोटिस का जारी किया जाना नेमी कार्य नहीं होना चाहिए ;

(vi) जिला न्यायाधीश या जिला न्यायाधीश द्वारा नामनिर्दिष्ट कोई पदाभिहित ज्येष्ठ न्यायिक अधिकारी विवाह-विषयक विवादों से उद्भूत होने वाले पक्षकारों के बीच सभी संसक्त मामलों को साथ मिलाने की स्वतंत्रता होगी जिससे कि उस न्यायालय द्वारा, जिसे ऐसे सभी मामले सौंपे जाते हैं, समग्र दृष्टिकोण अपनाया जा सके ;

(vii) कुटुम्ब के सभी सदस्यों और विशेष रूप से बाहरी सदस्यों की व्यक्तिगत रूप से उपस्थिति की अपेक्षा नहीं की जा सकेगी और विचारण न्यायालय को व्यक्तिगत उपस्थिति से छूट प्रदान करनी चाहिए या विचारण की प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना वीडियो कान्फ्रेंसिंग द्वारा उपस्थिति अनुज्ञात करनी चाहिए ; और

(viii) ये निदेश उन अपराधों को लागू नहीं होंगे जिनमें मूर्त शारीरिक क्षतियां या मृत्यु अंतर्वलित हैं ।

20. राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण, उपरोक्त व्यवस्था के कार्यकरण का छह मास तक परीशीलन करने के पश्चात् किन्तु अधिकतम 31 मार्च, 2018 तक उपरोक्त निदेशों में कोई परिवर्तन किए जाने या कोई अतिरिक्त निदेश दिए जाने की आवश्यकता के बारे में एक रिपोर्ट दे सकेगा। इस मामले को न्यायालय के समक्ष अप्रैल, 2018 में विचारणार्थ सूचीबद्ध किया जाए।

21. इस आदेश की प्रतियां राष्ट्रीय विधिक सेवा प्राधिकरण, सभी राज्यों के पुलिस महानिदेशकों और सभी उच्च न्यायालयों के रजिस्ट्रारों के पास समुचित अग्रिम कार्रवाई के लिए भेजी जाएं।

22. प्रस्तुत मामले के पक्षकार उपरोक्त निदेशों के प्रकाश में अग्रिम आदेशों के लिए संबंधित विचारण या अन्य न्यायालय को समावेदन करने के लिए स्वतंत्र होंगे।

तदनुसार आदेश किया गया।

गो.

[2018] 1 उम. नि. प. 241

कर्मचारी राज्य बीमा निगम और एक अन्य

बनाम

मंगलम पब्लिकेशन्स (इंडिया) प्रा. लि.

21 सितम्बर, 2017

न्यायमूर्ति अरुण मिश्रा और न्यायमूर्ति मोहन एम. शंतनागौडर

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 (1948 का 34) – धारा 2(22) – मजदूरी दरों के पुनरीक्षण के लंबित रहने के दौरान नियोजक (प्रत्यर्थी) द्वारा अपने कर्मचारियों को अंतरिम राहत की रकम का संदाय – कर्मचारी राज्य बीमा अभिदाय का संदाय न किया जाना – अंतरिम राहत का संदाय निश्चित रूप से धारा 2(22) में अंतर्विष्ट “मजदूरी” की परिभाषा के अंतर्गत आता है और नियोजक कर्मचारी राज्य बीमा अभिदाय का संदाय करने के लिए दायी है।

मामले के तथ्यों के अनुसार, प्रत्यर्थी-मंगलम पब्लिकेशन्स (इंडिया) प्रा. लि. कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के उपबंधों के अंतर्गत आने वाला एक स्थापन है और यह एक प्राइवेट लिमिटेड कंपनी है जो “मंगलम” नामक एक दैनिक मलयालम समाचारपत्र के मुद्रण और प्रकाशन के कारबार में लगी है। भारत सरकार ने न्यायमूर्ति मणिसाना की अध्यक्षता में नियुक्त मजदूरी बोर्ड की सिफारिशों के अनुसार कार्यरत पत्रकारों, अकार्यरत पत्रकारों और समाचारपत्र एजेंसी के कर्मचारियों की बाबत तारीख 20 अप्रैल, 1996 से मूल मजदूरी के 20 प्रतिशत और 100/- रुपए प्रतिमाह की अतिरिक्त रकम की दर से मजदूरी की अंतरिम दरें नियत करते हुए तारीख 24 सितंबर, 1996 को एक अधिसूचना जारी की।

तत्पश्चात्, लोक उद्यम विभाग, उद्योग मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा केंद्रीय लोक सेक्टर के उद्यमों के कर्मचारियों के लिए अंतरिम राहत प्रदान करने हेतु तारीख 19 अगस्त, 1998 को एक अन्य कार्यालय ज्ञापन जारी किया गया। उक्त अधिसूचना के अनुसार, प्रत्यर्थी ने अपने कर्मचारियों को अंतरिम राहत का संदाय करना आरंभ किया और ऐसी अंतरिम राहत तारीख 1 अप्रैल, 1996 से 31 मार्च, 2000 तक की अवधि के लिए संदत्त की गई। तथापि, प्रत्यर्थी ने उस अवधि के लिए, जिसके दौरान उसने अपने कर्मचारियों को अंतरिम मजदूरी संदत्त की थी, कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के अधीन कानूनी अभिदाय का संदाय नहीं किया। कर्मचारी राज्य बीमा निगम द्वारा प्रत्यर्थी को उक्त अभिदाय के संदाय के लिए सूचनाएं जारी की गईं। उपर्युक्त सूचनाओं से व्यथित होकर प्रत्यर्थी ने कर्मचारी बीमा न्यायालय में एक आवेदन फाइल किया। कर्मचारी राज्य बीमा न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए आवेदन खारिज कर दिया कि प्रत्यर्थी द्वारा अपने कर्मचारियों को संदत्त अंतरिम राहत अधिनियम की धारा 2(22) के अधीन यथापरिभाषित मजदूरी थी और इसलिए वह अंतरिम राहत की रकम पर बीमा अभिदाय का संदाय करने के लिए दायी था। प्रत्यर्थी ने बीमा न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में बीमा अपील फाइल की। उच्च न्यायालय द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए अपील मंजूर की गई कि प्रत्यर्थी द्वारा अपने कर्मचारियों को संदत्त अंतरिम राहत को मजदूरी या मजदूरी का भाग नहीं अपितु इसे केवल अनुग्रहपूर्वक संदाय की गई रकम समझा जा सकता है और प्रत्यर्थी बीमा के अभिदाय का संदाय करने के लिए दायी नहीं है। कर्मचारी राज्य बीमा निगम ने उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की। उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित — कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 की धारा 2(22) में दी गई “मजदूरी” की परिभाषा के पठन मात्र से पूर्णतया यह स्पष्ट हो जाता है कि “मजदूरी” से वह सभी पारिश्रमिक अभिप्रेत हैं जो किसी कर्मकार को नियोजन की संविदा के अभिव्यक्त या विवक्षित निबंधनों की पूर्ति हो जाने पर नकद संदत्त किया गया हो या नकद संदेय होता और इसके अंतर्गत अन्य अतिरिक्त पारिश्रमिक, यदि कोई हो, आता है जो दो मास से अनधिक के अंतरालों पर दिया गया हो। किंतु कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के खंड (क) से (घ) के अधीन उपबंधित कतिपय आकस्मिकताओं पर किए गए संदाय “मजदूरी” की परिभाषा के

अंतर्गत नहीं आते हैं। प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी के कर्मचारियों को संदत्त अंतरिम राहत निश्चित रूप से कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के खंड (क) से (घ) के अपवर्जनात्मक भाग के अंतर्गत नहीं आएगी, क्योंकि ऐसा संदाय यात्रा भत्ता या किसी यात्रा-रियायत का मूल्य, नियोजक द्वारा किसी पेंशन निधि या भविष्य निधि में संदत्त अभिदाय, कर्मकार को ऐसे विशेष व्यय चुकाने के लिए संदत्त कोई राशि जो उसे अपने नियोजन की प्रकृति के कारण उठाने पड़ते हैं अथवा उन्मोचन पर संदेय कोई उपदान नहीं है। कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम एक कल्याणकारी विधान है। यह अधिनियम कर्मकार वर्ग के अधिकारों की संरक्षा और रक्षोपाय करने के लिए अधिनियमित किया गया है। इसकी प्रस्तावना में यह कहा गया है कि यह अधिनियम “बीमारी, प्रसूति और नियोजन-क्षति की दशा में कर्मचारियों के लिए कतिपय प्रसुविधाओं का उपबंध करने और उनके संबंध में कतिपय अन्य बातों का उपबंध करने के लिए है।” इस अधिनियम के अधीन स्थापित कर्मचारी राज्य बीमा निधि का अस्तित्व मुख्य रूप से कर्मचारी राज्य बीमा निगम (अपीलार्थी) को संदत्त अभिदायों पर टिका है। इस अधिनियम के अनुसार बीमाकृत सभी कर्मचारी अधिनियम के अधीन फायदों के हकदार हैं। निस्संदेह कानूनी उपबंधों के शाब्दिक अर्थ की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। तथापि, ऐसे मामलों में जहां कानूनी उपबंध का निर्वचन दो या अधिक तरीकों से किया जा सकता हो, वहां इस विधान की भावना के अनुसार ऐसा अर्थान्वयन किया जाना आवश्यक है जिससे कर्मकार वर्ग को फायदा मिलता हो। “मजदूरी” की परिभाषा के समावेशित और अपवर्जनात्मक प्रभाग से स्पष्ट होता है कि “मजदूरी” अभिव्यक्ति का अति व्यापक अर्थ दिया गया है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, इस परिभाषा के अधीन प्रथमतः, कर्मकार को नियोजन की संविदा के अभिव्यक्त या विवक्षित निबंधनों के अधीन जो पारिश्रमिक संदत्त किया जाता है या संदेय हो, वह “मजदूरी” है। द्वितीयतः, किसी कर्मचारी को किसी प्राधिकृत छुट्टी, तालाबंदी आदि की अवधि की बाबत जो कोई संदाय किया जाता है, वह “मजदूरी” है। तृतीयतः, अन्य अतिरिक्त पारिश्रमिक, यदि कोई हो, जो दो मास से अनधिक के अंतरालों पर दिया गया हो, वह भी “मजदूरी” है। इस न्यायालय का यह मत है कि न्यायालय द्वारा किसी अस्पष्ट अभिव्यक्ति का अर्थान्वयन कर्मचारियों के पक्ष में फायदाग्राही रूप में किया जाना चाहिए। यदि “मजदूरी” की परिभाषा को समावेशित तथा अपवर्जनात्मक प्रभाग सहित समग्र रूप से पढ़ा जाए, तो यह प्रतीत होता है कि समावेशित प्रभाग को इसमें उल्लिखित मर्दों तक सीमित किया जाना आशयित नहीं है, विशिष्ट रूप से उन उद्देश्यों और

कारणों को ध्यान में रखते हुए जिनके लिए कर्मचारी बीमा अधिनियम अधिनियमित किया गया है। अधिनियम का अर्थान्वयन आवश्यक रूप से इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे कि इसके प्रयोजन और उद्देश्य सिद्ध हो सकें। उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थी द्वारा फाइल की गई अपील को मंजूर करते हुए मुख्य रूप से लोक उद्यम विभाग, उद्योग मंत्रालय, नई दिल्ली द्वारा जारी किए गए तारीख 19 अगस्त, 1998 के कार्यालय ज्ञापन का अवलंब लिया है, जो कि इस मामले के तथ्यों को लागू नहीं होता है। उक्त अधिसूचना से पूरी तरह यह स्पष्ट होता है कि उक्त कार्यालय ज्ञापन में अंतर्विष्ट अनुदेश केवल केन्द्रीय लोक सेक्टर के उद्यमों पर लागू हैं। स्वीकृततः, प्रत्यर्थी एक प्राइवेट लिमिटेड कंपनी है और इसलिए तारीख 19 अगस्त, 1998 के कार्यालय ज्ञापन में अंतर्विष्ट अनुदेश प्रत्यर्थी कंपनी पर लागू नहीं होते हैं। प्रस्तुत मामले में, अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी द्वारा अपने कर्मचारियों को अंतरिम राहत के रूप में संदत्त की गई रकम पर कर्मचारी राज्य बीमा के लिए अभिदाय का दावा इसे कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के अनुसार “मजदूरी” मानते हुए किया है। प्रत्यर्थी द्वारा अपने कर्मचारियों को अंतरिम राहत के रूप में संदत्त रकम निश्चित रूप से कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के अनुसार “मजदूरी” की परिभाषा के अंतर्गत आती है। दूसरी ओर, उच्च न्यायालय ने आश्चर्यजनक रूप से यह मत व्यक्त किया है कि तारीख 1 अप्रैल, 1996 से 31 मार्च, 2000 तक की अवधि के लिए संदत्त अंतरिम राहत को नियोक्ता द्वारा अपने कर्मचारियों को संदत्त केवल “अनुग्रहपूर्वक रकम” के रूप में माना जा सकता है और इसे कर्मचारी राज्य बीमा के अभिदाय के प्रयोजन के लिए “मजदूरी” नहीं माना जा सकता है। इस न्यायालय की सुविचारित राय में, उच्च न्यायालय ने यह मूल्यांकन करने में अनदेखी की है कि संसद् द्वारा अधिनियमित कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के प्रभाव को विभाग के कार्यालय ज्ञापन द्वारा परिरुद्ध नहीं किया जा सकता है। उच्च न्यायालय इस बात का भी मूल्यांकन करने में असफल रहा है कि अंतरिम राहत/मजदूरी का संदाय उस समझौते के निबंधनों में अंतर्विष्ट उपबंधों से उत्पन्न होता है, जो नियोजन की संविदा का भाग बनते हैं और कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के अधीन यथापरिभाषित “मजदूरी” के संघटक बन जाते हैं और प्रत्यर्थी ने अंतरिम राहत का संदाय “मणिसाना मजदूरी बोर्ड” की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए मजदूरी की दरों के पुनरीक्षण के लंबित रहते हुए भारत सरकार द्वारा तारीख 20 अप्रैल, 1996 को जारी की गई अधिसूचना के अनुसार प्रत्यर्थी द्वारा स्वेच्छया प्रख्यापित एक स्कीम के अनुसार किया था। यह अनुग्रहपूर्वक किया गया संदाय नहीं

था । प्रत्यर्थी द्वारा अपने कर्मचारियों को संदत्त अंतरिम राहत “दान” या “इनाम” नहीं है अपितु कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) में यथापरिभाषित मजदूरी का भाग है । उपरोक्त को दृष्टिगत करते हुए, यह न्यायालय यह अभिनिर्धारित करता है कि प्रत्यर्थी द्वारा अपने कर्मचारियों को तारीख 1 अप्रैल, 1996 से 31 मार्च, 2000 तक की अवधि के लिए अंतरिम राहत के तौर पर किया गया संदाय कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) में यथा अंतर्विष्ट “मजदूरी” की परिभाषा के अंतर्गत आता है और इसलिए प्रत्यर्थी कर्मचारी राज्य बीमा अभिदाय का संदाय करने के लिए दायी है । (पैरा 7, 8, 10 और 11)

अवलंबित निर्णय

पैरा

- [2005] (2005) 6 एस. सी. सी. 67 :
कर्मचारी राज्य बीमा निगम बनाम गंनमबीगई मिल्स लिमिटेड ; 10
- [2000] (2000) 3 एस. सी. सी. 185 :
हवीर्लपुल ऑफ इंडिया लिमिटेड बनाम कर्मचारी राज्य बीमा निगम ; 9
- [1984] [1984] 4 उम. नि. प. 1133 = (1984) 4 एस. सी. सी. 324 :
मैसर्स हरिहर पोलिफाइबर्स बनाम प्रादेशिक निदेशक, कर्मचारी राज्य बीमा निगम । 8

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2009 की सिविल अपील सं. 4681.

2004 की बीमा अपील संख्या 2 में केरल उच्च न्यायालय, एर्नाकुलम द्वारा 28 फरवरी, 2007 को पारित निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से सुश्री सोनम आनंद (श्री संजीव आनंद की ओर से)

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री राघेथ बंसत और ए. कार्तिक (पी. वी. दिनेश की ओर से)

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति शंतनागौडर ने दिया ।

न्या. शंतनागौडर — इस अपील में 2004 की बीमा अपील संख्या 2

में केरल उच्च न्यायालय, एर्नाकुलम द्वारा तारीख 28 फरवरी, 2007 को पारित किए गए निर्णय को प्रश्नगत किया गया है। उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा इस अपील में प्रत्यर्थी द्वारा फाइल की गई अपील मंजूर की और कर्मचारी राज्य बीमा न्यायालय, ईदुक्की, केरल द्वारा तारीख 13 अक्टूबर, 2003 को पारित किया गया आदेश अपास्त कर दिया गया।

2. वे तथ्य जिनसे यह अपील उद्भूत हुई संक्षेप में निम्नलिखित हैं।

प्रत्यर्थी कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 (जिसे इसमें इसके पश्चात् “कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम” कहा गया है) के उपबंधों के अंतर्गत आने वाला एक स्थापन है। यह एक प्राइवेट लिमिटेड कंपनी है जो “मंगलम” नामक एक दैनिक मलयालम समाचारपत्र के मुद्रण और प्रकाशन के कारबार में लगी है। प्रत्यर्थी के पास कार्यरत और अकार्यरत पत्रकारों सहित 250 से अधिक कर्मचारी हैं। प्रत्यर्थी जैसी समाचारपत्र कंपनियों के कर्मचारियों को संदेय मजदूरी के संबंध में कोई समान फार्मूला हो, इसके लिए केंद्रीय सरकार ने अध्ययन के लिए समय-समय पर मजदूरी बोर्ड नियुक्त किए और उन्होंने समय-समय पर रिपोर्ट प्रस्तुत की। पूर्व में, न्यायमूर्ति बचावट की अध्यक्षता में “बचावट मजदूरी बोर्ड” के रूप में ज्ञात मजदूरी बोर्ड गठित किया गया था और बोर्ड ने अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कीं। तत्पश्चात्, भारत सरकार ने न्यायमूर्ति मणिसाना की अध्यक्षता में एक नया मजदूरी बोर्ड नियुक्त किया जिसे “मणिसाना मजदूरी बोर्ड” कहा गया था। मणिसाना मजदूरी बोर्ड की सिफारिशों के अनुसार भारत सरकार ने कार्यरत पत्रकारों, अकार्यरत पत्रकारों और समाचारपत्र एजेंसी के कर्मचारियों की बाबत तारीख 20 अप्रैल, 1996 से मूल मजदूरी के 20 प्रतिशत और 100/- रुपए प्रतिमाह की अतिरिक्त रकम की दर से मजदूरी की अंतरिम दरें नियत करते हुए तारीख 24 सितंबर, 1996 को एक अधिसूचना जारी की। उक्त अधिसूचना के अनुसार, प्रत्यर्थी ने अपने कर्मचारियों को अंतरिम राहत का संदाय करना आरंभ किया और ऐसी अंतरिम राहत तारीख 1 अप्रैल, 1996 से 31 मार्च, 2000 तक संदत्त की गई। तथापि, प्रत्यर्थी ने उस अवधि के लिए, जिसके दौरान उसने अपने कर्मचारियों को अंतरिम मजदूरी संदत्त की थी, कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के अधीन कानूनी अभिदाय का संदाय नहीं किया। प्रत्यर्थी द्वारा तारीख 1 अप्रैल, 1996 से 31 मार्च, 2000 तक संदत्त अंतरिम मजदूरी पर शोध अभिदाय 2,53,272/- रुपए निकाला गया (तथापि, तारीख 2 नवंबर,

2000 की मांग-सूचना के अनुसार यह आंकड़ा 2,58,061.50 रुपए था) ।

तत्पश्चात्, लोक उद्यम विभाग, उद्योग मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा केंद्रीय लोक सेक्टर के उद्यमों के कर्मचारियों के लिए अंतरिम राहत प्रदान करने हेतु एक अन्य कार्यालय ज्ञापन जारी किया गया । उक्त कार्यालय ज्ञापन निम्नलिखित शर्तों के अधीन था :-

(क) ये अनुदेश आईडीए पैटर्न का अनुसरण करते हुए केन्द्रीय लोक सेक्टर उद्यमों के कर्मचारियों पर लागू हैं ।

(ख) अंतरिम राहत के रूप में संदत्त रकम पूर्ण रूप से अंतिम पुनरीक्षित वेतन पैकेज में समायोजित की जाएगी ।

(ग) * * * *

(घ) * * * *

(ङ) * * * *

(च) * * * *

(छ) अंतरिम राहत की रकम होगी अर्थात् इसे न तो वेतन, न ही भत्ते और न ही मजदूरी के रूप में समझा जाएगा । तदनुसार, इस रकम की गणना किसी सेवा फायदे अर्थात् मकान किराए भत्ते, प्रतिकर भत्ते, अतिकाल भत्ते, नकद प्रतिकर, छुट्टी के नकदीकरण, वेतन नियत करने, पेंशन या उपदान इत्यादि संगणित करने के लिए नहीं की जाएगी ।

उद्योग मंत्रालय के तारीख 19 अगस्त, 1998 के पूर्वोल्लिखित कार्यालय ज्ञापन का समाचारपत्र अभिकरणों के कर्मचारियों के लिए अंतरिम राहत का उपबंध करने वाली तारीख 20 अप्रैल, 1996 की अधिसूचना से कुछ लेना-देना नहीं है । तारीख 19 अगस्त, 1998 के कार्यालय ज्ञापन से स्वतः यह स्पष्ट होता है कि यह कार्यालय ज्ञापन केन्द्रीय लोक सेक्टर के उद्यमों पर लागू था और परिणामस्वरूप प्रत्यर्थी-कंपनी जैसे प्राइवेट सेक्टर के उपक्रमों के कर्मचारियों पर इसका कोई उपयोजन नहीं था ।

3. अपीलार्थी-निगम के बीमा निरीक्षक द्वारा तारीख 13 जून, 2000 को प्रत्यर्थी-कंपनी के परिसरों का निरीक्षण किया गया, जिनमें यह पाया गया कि प्रत्यर्थी ने अपने कर्मचारियों को तारीख 1 अप्रैल, 1996 से 31

मार्च, 2000 की अवधि के दौरान संदत्त अंतरिम मजदूरी पर कोई अभिदाय संदत्त नहीं किया है। प्रत्यर्थी की यह दलील थी कि तारीख 19 अगस्त, 1998 के कार्यालय ज्ञापन को देखते हुए उसके द्वारा अपने कर्मचारियों को संदत्त अंतरिम राहत पर किसी प्रकार के अभिदाय का संदाय करना अपेक्षित नहीं था। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, चूंकि प्रत्यर्थी द्वारा अभिदाय संदत्त नहीं किया गया था, इसलिए अपीलार्थी द्वारा पूर्वोल्लिखित अवधि के लिए पूर्वोल्लिखित रकम के अभिदाय का संदाय करने हेतु प्रत्यर्थी को तारीख 18 जुलाई, 2000 को एक सूचना जारी की गई। प्रत्यर्थी से ब्याज सहित 2,58,061.50 रुपए की रकम की मांग करते हुए तारीख 2 नवंबर, 2000 को मांग सूचना भी तामील की गई।

4. प्रत्यर्थी ने पूर्वोल्लिखित सूचनाओं से व्यथित होकर कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 75 के अधीन एक आवेदन फाइल करके कर्मचारी बीमा न्यायालय, ईदुक्की में समावेदन किया, जिसे 2000 के बीमा मामला सं. 19 के रूप में संख्यांकित किया गया। उक्त आवेदन में प्रत्यर्थी ने तारीख 10 अगस्त 1998 के कार्यालय ज्ञापन तथा भारतीय समाचारपत्र सोसाइटी के तारीख 20 दिसंबर 1996 के एक स्पष्टीकारी पत्र का भी अवलंब लिया। अपीलार्थी द्वारा उक्त आवेदन का यह दलील देते हुए विरोध किया गया कि तारीख 19 अगस्त, 1998 का कार्यालय ज्ञापन प्रत्यर्थी को लागू नहीं था और भारतीय समाचारपत्र सोसाइटी द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण की कोई विधिक विधिमान्यता नहीं है; संसद् के अधिनियम अर्थात् कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के प्रभाव को विभाग द्वारा जारी किए गए कार्यालय ज्ञापन द्वारा अधिक्रान्त नहीं किया जा सकता है; कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के अधीन सभी पारिश्रमिक, अधिनियम की धारा 2(22) के खंड (क) से (घ) में वर्णित प्रवर्गों के सिवाय, मजदूरी है और अंतरिम राहत खंड (क) से (घ) के अपवर्जित भागों के अंतर्गत नहीं आती है। कर्मचारी राज्य बीमा न्यायालय ने अभिलेख की सामग्री पर विचार करने के पश्चात् प्रत्यर्थी द्वारा फाइल किए गए आवेदन को यह अभिनिर्धारित करते हुए खारिज कर दिया कि प्रत्यर्थी द्वारा कर्मचारियों को संदत्त अंतरिम राहत कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के अधीन यथापरिभाषित मजदूरी थी और इसलिए प्रत्यर्थी संदत्त की गई अंतरिम राहत के लिए अभिदाय का संदाय करने के लिए दायी था। कर्मचारी राज्य बीमा न्यायालय द्वारा यह मत व्यक्त किया गया कि प्रत्यर्थी

ने अपने कर्मचारियों को अंतरिम राहत तारीख 30 अप्रैल, 1996 की अधिसूचना में अंतर्विष्ट निदेश के अनुसार संदत्त की थी और अधिसूचना के उपबंध प्रत्यर्थी कंपनी के कर्मचारियों के नियोजन की संविदा का एक भाग बन गए थे। यह भी मत व्यक्त किया गया कि तारीख 19 अगस्त, 1998 का कार्यालय ज्ञापन केवल केन्द्रीय लोक सेक्टर उद्यमों के कर्मचारियों पर लागू था और इसमें कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि अंतरिम राहत कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के अधीन यथापरिभाषित “मजदूरी” नहीं है या अंतरिम राहत के संदाय पर अभिदाय संदत्त करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रत्यर्थी ने कर्मचारी राज्य बीमा न्यायालय द्वारा पारित आदेश को चुनौती देते हुए कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 82 के अधीन केरल उच्च न्यायालय के समक्ष 2000 की बीमा अपील सं. 2 फाइल की। यह अपील आक्षेपित निर्णय द्वारा यह अभिनिर्धारित करते हुए मंजूर की गई कि अपीलार्थी, प्रत्यर्थी द्वारा अपने कर्मचारियों को संदत्त अंतरिम राहत की बाबत किसी अभिदाय का संग्रह करने का हकदार नहीं है। ऐसा निष्कर्ष निकालते हुए उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि अंतरिम राहत के रूप में संदत्त रकम को “मजदूरी” या “मजदूरी का भाग” नहीं माना जा सकता है और इसे केवल “अनुग्रहपूर्वक दी गई रकम” के रूप में माना जा सकता है। इसलिए यह अपील फाइल की गई है।

5. इस अपील में जिस एकमात्र प्रश्न पर विचार और उसका विनिश्चय किया जाना है, यह है कि क्या प्रत्यर्थी द्वारा अपने कर्मचारियों को तारीख 1 अप्रैल, 1996 से 31 मार्च, 2000 तक की अवधि के दौरान संदत्त अंतरिम राहत को कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के अधीन यथापरिभाषित “मजदूरी” माना जाना चाहिए, और यदि यह मजदूरी है तो क्या प्रत्यर्थी कर्मचारी राज्य बीमा अभिदाय का संदाय करने के लिए दायी है ?

6. इस बारे में कोई विवाद नहीं किया जा सकता है कि यदि प्रत्यर्थी द्वारा संदत्त अंतरिम राहत को इस न्यायालय द्वारा कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के अधीन “मजदूरी” के रूप में अभिनिर्धारित किया जाता है, तब प्रत्यर्थी अपने कर्मचारियों को संदत्त अंतरिम राहत की रकम पर आवश्यक रूप से कर्मचारी राज्य बीमा अभिदाय का संदाय करने के लिए दायी है।

7. आगे अग्रसर होने से पूर्व कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के अधीन यथापरिभाषित मजदूरी की परिभाषा का उल्लेख करना सुसंगत होगा। इस धारा को इसमें नीचे उद्धृत किया जाता है :-

“2(22). ‘मजदूरी’ से वह सभी पारिश्रमिक अभिप्रेत है जो किसी कर्मकार को नियोजन की संविदा के अभिव्यक्त या विवक्षित निबंधनों की पूर्ति हो जाने पर, नकद संदत्त किया गया हो या नकद संदेय होता और इसके अन्तर्गत किसी प्राधिकृत छुट्टी की, तालाबन्दी की, ऐसी हड़ताल की जो अवैध नहीं है, या कामबंदी की किसी भी कालावधि की बाबत किसी कर्मचारी को दिया गया संदाय और अन्य अतिरिक्त पारिश्रमिक, यदि कोई हो, आता है जो दो मास से अनधिक के अन्तरालों पर दिया गया हो, किंतु इसके अन्तर्गत निम्नलिखित नहीं आते -

(क) नियोजक द्वारा किसी पेंशन निधि या भविष्य निधि में या इस अधिनियम के अधीन संदत्त कोई अभिदाय;

(ख) कोई यात्रा भत्ता किसी यात्रा-रियायत का मूल्य;

(ग) नियोजित व्यक्ति को ऐसे विशेष व्यय चुकाने के लिए संदत्त कोई राशि जो उसे अपने नियोजन की प्रकृति के कारण उठाने पड़ते हैं; अथवा

(घ) उन्मोचन पर संदेय कोई उपदान।”

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) में दी गई पूर्वोल्लिखित परिभाषा के पठन मात्र से पूर्णतया यह स्पष्ट हो जाता है कि “मजदूरी” से वह सभी पारिश्रमिक अभिप्रेत हैं जो किसी कर्मकार को नियोजन की संविदा के अभिव्यक्त या विवक्षित निबंधनों की पूर्ति हो जाने पर नकद संदत्त किया गया हो या नकद संदेय होता और इसके अंतर्गत अन्य अतिरिक्त पारिश्रमिक, यदि कोई हो, आता है जो दो मास से अनधिक के अंतरालों पर दिया गया हो। किंतु कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के खंड (क) से (घ) के अधीन उपबंधित कतिपय आकस्मिकताओं पर किए गए संदाय “मजदूरी” की परिभाषा के अंतर्गत नहीं आते हैं। प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी के कर्मचारियों को संदत्त अंतरिम राहत, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, निश्चित रूप से कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के खंड (क) से (घ) के अपवर्जनात्मक भाग के

अंतर्गत नहीं आएगा, क्योंकि ऐसा संदाय यात्रा भत्ता या किसी यात्रा-रियायत का मूल्य, नियोजक द्वारा किसी पेंशन निधि या भविष्य निधि में संदत्त अभिदाय, कर्मकार को ऐसे विशेष व्यय चुकाने के लिए संदत्त कोई राशि जो उसे अपने नियोजन की प्रकृति के कारण उठाने पड़ते हैं अथवा उन्मोचन पर संदेय कोई उपदान नहीं है ।

8. कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम एक कल्याणकारी विधान है । यह अधिनियम कर्मकार वर्ग के अधिकारों की संरक्षा और रक्षोपाय करने के लिए अधिनियमित किया गया है । इसकी प्रस्तावना में यह कहा गया है कि यह अधिनियम “बीमारी, प्रसूति और नियोजन-क्षति की दशा में कर्मचारियों के लिए कतिपय प्रसुविधाओं का उपबंध करने और उनके संबंध में कतिपय अन्य बातों का उपबंध करने के लिए है ।” इस अधिनियम के अधीन स्थापित कर्मचारी राज्य बीमा निधि का अस्तित्व मुख्य रूप से कर्मचारी राज्य बीमा निगम (अपीलार्थी) को संदत्त अभिदायों पर टिका है । इस अधिनियम के अनुसार बीमाकृत सभी कर्मचारी अधिनियम के अधीन फायदों के हकदार हैं । निस्संदेह कानूनी उपबंधों के शाब्दिक अर्थ की उपेक्षा नहीं की जा सकती है । तथापि, ऐसे मामलों में जहां कानूनी उपबंध का निर्वचन दो या अधिक तरीकों से किया जा सकता हो, वहां इस विधान की भावना के अनुसार ऐसा अर्थान्वयन किया जाना आवश्यक है जिससे कर्मकार वर्ग को फायदा मिलता हो । “मजदूरी” की परिभाषा के समावेशित और अपवर्जनात्मक प्रभाग से स्पष्ट होता है कि “मजदूरी” अभिव्यक्ति का अति व्यापक अर्थ दिया गया है । जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, इस परिभाषा के अधीन प्रथमतः, कर्मकार को नियोजन की संविदा के अभिव्यक्त या विवक्षित निबंधनों के अधीन जो पारिश्रमिक संदत्त किया जाता है या संदेय हो, वह “मजदूरी” है । द्वितीयतः, किसी कर्मचारी को किसी प्राधिकृत छुट्टी, तालाबंदी आदि की अवधि की बाबत जो कोई संदाय किया जाता है, वह “मजदूरी” है । तृतीयतः, अन्य अतिरिक्त पारिश्रमिक, यदि कोई हो, जो दो मास से अनधिक के अंतरालों पर दिया गया हो, वह भी “मजदूरी” है । हमारा यह मत है कि न्यायालय द्वारा किसी अस्पष्ट अभिव्यक्ति का अर्थान्वयन कर्मचारियों के पक्ष में फायदाग्राही रूप में किया जाना चाहिए । यदि “मजदूरी” की परिभाषा को समावेशित तथा अपवर्जनात्मक प्रभाग सहित समग्र रूप से पढ़ा जाता है, तो यह प्रतीत होता है कि समावेशित भाग को इसमें उल्लिखित मदों तक सीमित किया जाना आशयित नहीं है, विशिष्ट रूप से उन उद्देश्यों और कारणों को

ध्यान में रखते हुए जिनके लिए कर्मचारी बीमा अधिनियम अधिनियमित किया गया है। अधिनियम का अर्थान्वयन आवश्यक रूप से इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे कि इसके प्रयोजन और उद्देश्य सिद्ध हो सकें। **मैसर्स हरिहर पोलिफाइबर्स बनाम प्रादेशिक निदेशक, कर्मचारी राज्य बीमा निगम¹** वाले मामले में इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) में अंतर्विष्ट “मजदूरी” की परिभाषा काफी व्यापक है और इसमें मकान किराया भत्ता, रात्रि पारी भत्ता, प्रोत्साहन भत्ता और ऊष्मा, गैस तथा धूल भत्ता सम्मिलित है। उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है :-

“2. कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम एक कल्याणकारी विधान है और ‘मजदूरी’ की परिभाषा प्रकल्पित रूप से व्यापक है। निस्संदेह किसी भी संदिग्ध अभिव्यक्ति के बारे में यह अनिवार्य है कि उसे हम भी फायदाग्राही अर्थान्वयन प्रदान करें। अब इस परिभाषा के अधीन एक तो जो कोई भी पारिश्रमिक संदत्त किया जाता है अथवा किसी कर्मचारी को नियोजन की संविदा के निबंधनों के अधीन संदेय होता है; चाहे वे निबंधन अभिव्यक्त हों या विवक्षित, मजदूरी के रूप में होता है; इस प्रकार यदि पारिश्रमिक का संदाय नियोजन की मूल संविदा के निबंधनों के अनुसार अथवा नियोजक तथा कर्मचारियों के बीच सहमत समझौते के निबंधनों के अनुसार किया जाता है, जोकि आवश्यक विवक्षा द्वारा नियोजन की संविदा का भाग बन जाता है, तो वह मजदूरी के अंतर्गत आता है; दूसरे, जो कोई भी संदाय किसी कर्मचारी को प्राधिकृत छुट्टी, तालाबंदी, हड़ताल, जोकि अवैध न हो, अथवा कामबंदी की बाबत किया जाता है, वह मजदूरी के अंतर्गत आता है, तथा तीसरे अन्य अतिरिक्त पारिश्रमिक, यदि कोई हो, जो समय-समय पर जिनकी अवधि दो मास से अधिक नहीं होती, संदत्त किया जाता है वह मजदूरी के अंतर्गत आता है; इसके बारे में किसी ऐसी अपेक्षा की शर्त अधिरोपित नहीं की जाती कि वह अभिव्यक्त अथवा विवक्षित नियोजन संविदा के किसी निबंधन के अनुसरण में होनी चाहिए। तथापि, मजदूरी के अंतर्गत कोई ऐसा अभिदाय नहीं आता जोकि नियोजक द्वारा किसी पेंशन निधि अथवा भविष्य निधि या किसी

¹ [1984] 4 उम. नि. प. 1133 = (1984) 4 एस. सी. सी. 324.

अधिनियम के अधीन संदत्त किया गया हो, या कोई यात्रा भत्ता या किसी यात्रा-रियायत का मूल्य, कोई ऐसी राशि जो किसी व्यक्ति पर उसके नियोजन की प्रकृति द्वारा खर्च किए गए तथा सेवोन्मुक्ति पर संदेय कोई उपदान, जो संदत्त किया गया हो, उसकी राशि मजदूरी के अंतर्गत नहीं आती। इसलिए यथा-परिभाषित 'मजदूरी' के अंतर्गत अभिव्यक्त अथवा विवक्षित नियोजन की संविदा के निबंधनों के अधीन संदत्त अथवा संदेय पारिश्रमिक शामिल है, किंतु इसमें इसके अतिरिक्त अन्य अतिरिक्त पारिश्रमिक, यदि कोई हो, भी आ जाते हैं जो दो मास से अनधिक अन्तरालों में संदत्त किया गया हो, भले ही वह नियोजन के निबंधनों से बाहर हो। इस प्रकार (अभिव्यक्त अथवा विवक्षित) नियोजन की संविदा के निबंधनों के अधीन संदत्त पारिश्रमिक अथवा अन्यथा यदि वह समय-समय पर दो मास से अनधिक के अन्तराल पर किया जाता है, तो भी मजदूरी में शामिल होगा। 'और इसके अंतर्गत किसी प्राधिकृत छुट्टी की, तालाबंदी की, ऐसी हड़ताल की, जो अवैध नहीं है, या कामबंदी की किसी भी कालावधि की बाबत किसी कर्मचारी को किया गया संदाय' खण्ड का प्रथम खण्ड 'वह सभी पारिश्रमिक, जो किसी कर्मचारी की नियोजन की संविदा के अभिव्यक्त या विवक्षित निबंधनों की पूर्ति हो जाने पर नकद संदत्त किया गया हो या नकद संदेय होता' और तृतीय खंड 'अन्य अतिरिक्त पारिश्रमिक, यदि कोई हो, जो दो मास से अनधिक के अंतरालों पर दिया गया हो', के बीच अंतःस्थापन इस बात को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है कि जबकि प्रथम खण्ड के अधीन 'पारिश्रमिक' अभिव्यक्त अथवा विवक्षित नियोजन की संविदा के अधीन होना चाहिए, तृतीय खंड के अधीन पारिश्रमिक के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह नियोजन की संविदा के अधीन हो बल्कि कोई भी अतिरिक्त पारिश्रमिक हो सकता है जो नियोजन की संविदा से बाहर हो, इसलिए हमारे विचार में इस बात का कोई कारण दिखाई नहीं देता कि 'मजदूरी' की परिभाषा में से 'गृह भत्ता', 'रात्रि पारी भत्ता', प्रोत्साहन भत्ता और ऊष्मा, गैस तथा धूल भत्ता क्यों अपवर्जित किया जाए। एन. जी. ई. एफ. लिमिटेड बनाम उप-प्रादेशिक निदेशक, कर्मचारी राज्य बीमा निगम, बंगलौर [(1980)1 लेबर एण्ड इण्डस्ट्रियल केसेज 431] वाले मामले में कर्नाटक उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ द्वारा किंचित विस्तृत रूप से इस प्रश्न पर विचार करते

हुए यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्रबन्धतंत्र तथा उसके कर्मचारियों के बीच समझौते की स्कीम के अधीन प्रोत्साहन के रूप में संदत्त रकम कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के अर्थान्तर्गत 'मजदूरी' थी । कर्नाटक उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने यह मत व्यक्त किया था —

यह सही है कि परिभाषा के प्रथम तथा द्वितीय दोनों भागों में पारिश्रमिक शब्द विद्यमान है । किन्तु प्रथम भाग में ऐसे संदाय से संलग्न शर्त को विधिसम्मत रूप से द्वितीय भाग पर विस्तारित नहीं किया जा सकता । परिभाषा के द्वितीय भाग में निर्दिष्ट अन्य 'अतिरिक्त पारिश्रमिक' पर केवल तत्सम्बद्ध शर्त अधिरोपित की गई है (अर्थात् अनधिक दो मास के अन्तरालों पर संदत्त) । कर्मचारी राज्य बीमा निगम, हैदराबाद बनाम आन्ध्र प्रदेश पेपर मिल्स लिमिटेड वाले मामले में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ द्वारा तथा मैसर्स महालक्ष्मी ग्लास वर्क्स प्राइवेट लिमिटेड बनाम कर्मचारी राज्य बीमा निगम वाले मामले में मुम्बई उच्च न्यायालय द्वारा भी यही दृष्टिकोण अपनाया गया था । किन्तु किल्लोस्कर [(1974) 1 कर्नाटक ला जर्नल 358] वाले मामले में इस न्यायालय ने मामले के इस पहलू की सर्वथा उपेक्षा कर दी है ।”

न्यायमूर्ति अमरेन्द्र नाथ सेन ने न्यायमूर्ति ओ. चिन्नप्पा रेड्डी की पूर्वोल्लिखित मताभिव्यक्तियों से सहमति व्यक्त की और इसमें निम्नलिखित बात भी जोड़ी :—

“8. मैं इस बात से पूर्णतः सहमत हूँ कि कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) में परिभाषित 'मजदूरी' शब्द का सही निर्वचन किए जाने पर 'मजदूरी' में निश्चित रूप से 'गृह भत्ता', 'रात्रि पारी भत्ता', 'ऊष्मा, गैस तथा धूल भत्ता' और 'प्रोत्साहन भत्ता' सभी अन्तर्विष्ट हैं ।

9. मेरे विद्वान् बंधु के निर्णय में 'मजदूरी' की परिभाषा उपवर्णित की गई है । परिभाषा में समावेशित भाग तथा अपवर्जनात्मक प्रभाग में मेरे विचार में स्पष्टतः यह संकेत मिलता है कि 'मजदूरी' अभिव्यक्ति का अति-व्यापक रूप से अर्थान्वयन किया गया है । परिभाषा में अपवर्जनात्मक भाग के साथ पठित परिभाषा के समावेशित भाग से

मेरे विचार में स्पष्टतः यह दर्शित होता है कि समावेशित प्रभाग उसमें वर्णित मदों पर्यन्त ही सीमित नहीं है। परिभाषा में समावेशित भाग पर विचार करते हुए और सम्पूर्ण रूप से परिभाषा का परिशीलन करते हुए मेरे विचार में समावेशित भाग दृष्टांत-स्वरूप ही है और उसकी प्रवृत्ति कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम में प्रयुक्त 'मजदूरी' शब्द के व्यापक अर्थ तथा अन्तर्वस्तु को अभिव्यक्त करने की है।

10. कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम सामाजिक कल्याण विधायन का एक खण्ड है जो कर्मचारियों की सुविधा के लिए अधिनियमित किया गया है। आवश्यक रूप से इस अधिनियम का अर्थान्वयन इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे कि उसका प्रयोजन तथा उसका उद्देश्य सिद्ध हो।

11. मैं अपने विद्वान् बंधु से इस बारे में पूर्णतः सहमत हूँ कि 'मजदूरी' पद का समुचित अर्थान्वयन किए जाने पर विधायी आशय सुव्यक्त रूप से स्पष्ट है अर्थात् यह कि अधिनियम में यथा प्रयुक्त 'मजदूरी' पद के अंतर्गत 'गृह भत्ता', 'रात्रि पारी भत्ता', 'ऊष्मा, गैस तथा धूल भत्ता' और 'प्रोत्साहन भत्ता' शामिल है। मेरे विचार में यदि इस परिभाषा का साधारण रूप से परिशीलन किया जाए तो यह अपने आप में स्पष्ट तथा असंदिग्ध है। तथापि, हो सकता है कि किसी संदिग्धता के बारे में सुझाव दिया जा सके और इसलिए निश्चित रूप से अभिव्यक्ति का उदास्तापूर्वक निर्वचन किया जाना चाहिए जोकि उन कर्मचारियों के हितों के लिए लाभप्रद हो जिनके फायदे के लिए कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम पारित किया गया है।¹

9. **हवीर्लपुल ऑफ इंडिया लिमिटेड बनाम कर्मचारी राज्य बीमा निगम¹** वाले मामले में इस न्यायालय ने कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम पारित करने में विधान-मंडल के आशय का संक्षिप्त और स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। जो निम्नलिखित प्रकार से है :-

“5. यह अधिनियम एक सामाजिक विधान है जो बीमारी प्रसूति और नियोजन क्षति की दशा में कर्मचारियों के लिए प्रसुविधाओं का उपबंध करने और उनके संबंध में कतिपय अन्य बातों का उपबंध करने के लिए अधिनियमित किया गया है। मोटे तौर पर यही वह

¹ (2000) 3 एस. सी. सी. 185.

प्रयोजन है जिसके लिए अधिनियम की धारा 3 के अधीन निगम स्थापित किया गया है। कर्मचारी राज्य बीमा निधि का मुख्य स्रोत वह अभिदाय है जो निगम को संदत्त किया जाता है (धारा 26)। बीमाकृत व्यक्तियों और अन्यो को प्रदान किए जाने वाले फायदे वे हैं जो अध्याय 5, विशिष्ट रूप से इसकी धारा 46 में उपबंधित है। इस अधिनियम में प्रयुक्त किंतु अपरिभाषित और औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 में परिभाषित अन्य सभी शब्दों और पदों के वे ही अर्थ होंगे जो उन्हें क्रमशः उस अधिनियम में दिए गए हैं। निस्संदेह इसके जिस उपबंध के दो निर्वचन संभव हो, उसका ऐसा अर्थान्वयन किया जाना चाहिए जो कर्मकार वर्ग के लिए फायदाप्रद हो किंतु साथ-ही-साथ हम किसी उपबंध की स्पष्ट भाषा की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं।”

10. जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थी द्वारा फाइल की गई अपील को मंजूर करते हुए मुख्य रूप से लोक उद्यम विभाग, उद्योग मंत्रालय, नई दिल्ली द्वारा जारी किए गए तारीख 19 अगस्त, 1998 के कार्यालय ज्ञापन का अवलंब लिया है, जोकि इस मामले के तथ्यों को लागू नहीं होता है। उक्त अधिसूचना से पूरी तरह यह स्पष्ट होता है कि उक्त कार्यालय ज्ञापन में अंतर्विष्ट अनुदेश केवल केन्द्रीय लोक सेक्टर के उद्यमों पर लागू हैं। स्वीकृततः, प्रत्यर्थी एक प्राइवेट लिमिटेड कंपनी है और इसलिए तारीख 19 अगस्त, 1998 के कार्यालय ज्ञापन में अंतर्विष्ट अनुदेश प्रत्यर्थी कंपनी पर लागू नहीं होते हैं। प्रस्तुत मामले में, अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी द्वारा अपने कर्मचारियों को अंतरिम राहत के रूप में संदत्त की गई रकम पर कर्मचारी राज्य बीमा के लिए अभिदाय का दावा इसे कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के अनुसार “मजदूरी” मानते हुए किया है। प्रत्यर्थी द्वारा अपने कर्मचारियों को अंतरिम राहत के रूप में संदत्त रकम निश्चित रूप से कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के अनुसार “मजदूरी” की परिभाषा के अंतर्गत आती है। दूसरी ओर, उच्च न्यायालय ने आश्चर्यजनक रूप से यह मत व्यक्त किया है कि तारीख 1 अप्रैल, 1996 से 31 मार्च, 2000 तक की अवधि के लिए संदत्त अंतरिम राहत को नियोक्ता द्वारा अपने कर्मचारियों को संदत्त केवल “अनुग्रहपूर्वक रकम” के रूप में माना जा सकता है और इसे कर्मचारी राज्य बीमा के अभिदाय के प्रयोजन के लिए “मजदूरी” नहीं माना जा सकता है। हमारी सुविचारित राय में, उच्च न्यायालय ने यह

मूल्यांकन करने में अनदेखी की है कि संसद् द्वारा अधिनियमित कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के प्रभाव को विभाग के कार्यालय ज्ञापन द्वारा परिरुद्ध नहीं किया जा सकता है। उच्च न्यायालय इस बात का भी मूल्यांकन करने में असफल रहा है कि अंतरिम राहत/मजदूरी का संदाय उस समझौते के निबंधनों में अंतर्विष्ट उपबंधों से उत्पन्न होता है, जो नियोजन की संविदा का भाग होते हैं और कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) के अधीन यथापरिभाषित “मजदूरी” के संघटक बनते हैं और प्रत्यर्थी ने अंतरिम राहत का संदाय “मणिसाना मजदूरी बोर्ड” की सिफारिशों को ध्यान में रखते हुए मजदूरी की दरों के पुनरीक्षण के लंबित रहते हुए भारत सरकार द्वारा तारीख 20 अप्रैल, 1996 को जारी की गई अधिसूचना के अनुसार प्रत्यर्थी द्वारा स्वेच्छया प्रख्यापित एक स्कीम के अनुसार किया था। यह अनुग्रहपूर्वक किया गया संदाय नहीं था। इस संदर्भ में **कर्मचारी राज्य बीमा निगम बनाम गंनमबीगई मिल्स लिमिटेड**¹ वाले मामले में इस न्यायालय की मताभिव्यक्तियों को उल्लेख करना उपयोगी है, जो निम्न प्रकार से है :-

“6. हमारे मत में, उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकालने में पूर्णतः गलती की है कि अधिनिर्णय के फलस्वरूप यह मजदूरी नहीं रह जाती है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, अधिकरण ने इस बारे में अपने मस्तिष्क का प्रयोग नहीं किया कि संदाय मजदूरी है या नहीं। अधिकरण ने जो कुछ किया वह पक्षकारों के बीच हुए समझौते के लिए अपनी स्वीकृति देना था। केवल इस कारण कि पक्षकारों ने अपने समझौते में संदाय को ‘अनुग्रहपूर्वक संदाय’ का नाम दिया था, इसका यह अर्थ नहीं है कि वे संदाय, यदि वे अन्यथा मजदूरी थे, मजदूरी नहीं रह गए थे। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, वे संदाय उस समय पर मजदूरी थे जिस समय पर वे संदत्त किए गए थे। अधिनिर्णय के पश्चात् उन संदाय को मजदूरी का नाम देना केवल इस कारण समाप्त नहीं हो जाता है कि समझौते के निबंधनों में उन्हें ‘अनुग्रहपूर्वक संदाय’ का नाम दिया गया था। इसलिए हम उच्च न्यायालय के निर्णय की तर्कणा को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। तदनुसार, खंड न्यायपीठ तथा एकल न्यायाधीश के निर्णय को अपास्त किया जाता है। यह अभिनिर्धारित किया जाता है

¹ (2005) 6 एस. सी. सी. 67.

कि संदत्त रकमों मजदूरी हैं और उन रकमों पर भी अभिदाय किया जाना होगा । तथापि, हम यह स्पष्ट करते हैं कि ब्याज का संदाय कानूनी उपबंधों के अनुसार किया जाएगा ।”

11. प्रत्यर्थी द्वारा अपने कर्मचारियों को संदत्त अंतरिम राहत “दान” या “इनाम” नहीं है अपितु कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) में यथापरिभाषित मजदूरी का भाग है । उपरोक्त को दृष्टिगत करते हुए, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि प्रत्यर्थी द्वारा अपने कर्मचारियों को तारीख 1 अप्रैल, 1996 से 31 मार्च, 2000 तक की अवधि के लिए अंतरिम राहत के तौर पर किया गया संदाय कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम की धारा 2(22) में यथा अंतर्विष्ट “मजदूरी” की परिभाषा के अंतर्गत आता है और इसलिए प्रत्यर्थी कर्मचारी राज्य बीमा अभिदाय का संदाय करने के लिए दायी है ।

12. तदनुसार, यह अपील मंजूर की जाती है, उच्च न्यायालय का आक्षेपित निर्णय अपास्त और कर्मचारी राज्य बीमा न्यायालय का निर्णय प्रत्यावर्तित किया जाता है । अपीलार्थी को तारीख 2 नवम्बर, 2000 की मांग सूचना के अनुसार प्रत्यर्थी से तारीख 1 अप्रैल, 1996 से 31 मार्च, 2000 तक की अवधि के लिए कर्मचारी राज्य बीमा अभिदाय वसूल करने का हकदार ठहराया जाता है । खर्च के लिए कोई आदेश नहीं किया जा रहा है ।

अपील मंजूर की गई ।

जस.

पंकजभाई रमेशभाई जलवादिया

बनाम

जेथाभाई कालाभाई जलवादिया

3 अक्टूबर, 2017

न्यायमूर्ति अरुण मिश्र और न्यायमूर्ति मोहन एम. शंतनागौडर

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) – आदेश 22, नियम 4 और आदेश 1, नियम 10 – पक्षकार बनाया जाना – जहां वाद फाइल करने के पूर्व ही प्रतिवादी की मृत्यु हो गई हो वहां प्रतिवादी के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार बनाए जाने के लिए आदेश 22, नियम 4 का अवलंब नहीं लिया जा सकता बल्कि आदेश 1, नियम 10 का अवलंब लेकर मृतक प्रतिवादी के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों को न्यायहित में पक्षकार बनाया जा सकता है ।

वर्तमान मामले के संक्षिप्त तथ्य हैं कि अपीलार्थी ने भूमि जो प्रतिवादी सं. 7 द्वारा खरीदी गई थी, की बाबत मार्च, 1995 में निष्पादित विक्रय-विलेख को अपास्त करने की ईप्सा करते हुए तारीख 24 जून, 2008 को वाद फाइल किया । वाद फाइल करने की तारीख को प्रतिवादी सं. 7 की पहले ही मृत्यु हो चुकी थी । इस आशय की प्रक्रिया प्रदाता की रिपोर्ट पर, विचारण न्यायालय ने 31 मार्च, 2009 को आदेश दिया कि वाद प्रतिवादी सं. 7 के प्रति उपशमित हो गया है । आरंभतः अपीलार्थी ने मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक वारिसों को अभिलेख पर लाने के लिए संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन आवेदन फाइल किया । यह अपील 2011 के विशेष सिविल आवेदन सं. 16985 में अपीलार्थी द्वारा फाइल विशेष सिविल आवेदन को खारिज करते हुए और परिणामतः सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन फाइल आवेदन को खारिज करते हुए विचारण न्यायालय द्वारा पारित आदेश की पुष्टि करते हुए गुजरात उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 5 मार्च, 2014 के निर्णय के विरुद्ध यह अपील की गई । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – इस मामले में विक्रय प्रतिवादी सं. 7 के पक्ष में किया गया था और विक्रय विलेख की विधिमान्यता वाद की विषयवस्तु थी । संपत्ति का क्रेता अर्थात् प्रतिवादी सं. 7, यद्यपि वाद के फाइल करने के समय मृत्यु हो

गई थी, को गलती से एक प्रतिवादी बनाया गया था। ऐसे लोग जिन्हें अब संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन पक्षकार बनाए जाने की ईप्सा की गई है मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधि हैं। अतः इसमें कोई विवाद नहीं हो सकता है कि मृतक के विधिक प्रतिनिधियों की उपस्थिति वाद के सभी प्रश्नों को प्रभावी रूप से और पूरी तरह से न्यायनिर्णयन करने और स्थिर करने के लिए न्यायालय को समर्थ बनाने के लिए आवश्यक है। उनकी उपस्थिति विवाद के वास्तविक विषय के अवधारण के लिए वाद में आवश्यक है अतः, परिसीमा अधिनियम की धारा 21 के अधीन दी गई दलील के अनुसार, उन्हें वस्तुतः परिसीमा विधि के अधीन अभिलेख पर लाए जाने की आवश्यकता है। मात्र इस कारण कि संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन अपीलार्थी द्वारा फाइल पूर्व आवेदन को असंधार्य होने के कारण 9 सितंबर, 2009 को खारिज कर दिया गया था, यह दूसरा आवेदन जो विधि की दृष्टि से पोषणीय है, को फाइल करने से वादी को प्रतिषिद्ध नहीं करेगा। 9 सितंबर, 2009 के आदेश के आधार पर गुणागुण पर अभिलेख पर विधिक प्रतिनिधियों को लाने के आवेदन का न्यायनिर्णयन नहीं किया गया। दूसरी ओर संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन फाइल पूर्व आवेदन को असंधार्य होने के आधार पर विचारण न्यायालय द्वारा खारिज किया गया था क्योंकि प्रतिवादी सं. 7 की मृत्यु वाद के फाइल करने के पूर्व हो गई थी और यह कि संहिता का आदेश 22, नियम 4 तभी पटल पर आता है जब कोई पक्षकार की मृत्यु वाद के लंबित होने के दौरान होती है। विधि की दृष्टि से अपीलार्थी को केवल यह अनुक्रम प्राप्त था कि वह संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने के लिए पक्षकार बनाने का आवेदन फाइल करे। अतः, संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन फाइल आवेदन पर विचारण न्यायालय द्वारा तारीख 9 सितंबर, 2009 को पारित आदेश पूर्व निर्णय के रूप में कार्य नहीं करेगा। संहिता का आदेश 1, नियम 10 न्यायालय को कार्यवाहियों के किसी प्रक्रम पर किसी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में जोड़ने में समर्थ बनाता है यदि ऐसा व्यक्ति जिसकी उपस्थिति न्यायालय में वाद में अंतर्वलित सभी प्रश्नों के प्रभावी और पूर्ण न्यायनिर्णयन तथा स्थिर करने के लिए न्यायालय को समर्थ बनाने में आवश्यक हैं। कार्यवाहियों की बहुलता का परिहार भी उक्त उपबंध का एक उद्देश्य है। संहिता का आदेश 1, नियम 10 वाद में ऐसे पक्षकार को प्रतिस्थापित करने के लिए न्यायालय को शक्ति प्रदान

करता है जो वाद में गलत व्यक्ति है। यदि न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि वाद को सद्भाविक भूल से संस्थित किया गया है और यह भी कि वाद में पक्षकार को प्रतिस्थापित करना संविवाद के वास्तविक विषय के अवधारण के लिए आवश्यक है तो वह ऐसा करने का निदेश दे सकता है। जब न्यायालय यह पाता है कि वाद में पक्षकार के रूप में पक्षकार बनाए जाने के लिए ईप्सित व्यक्तियों के अभाव में वाद में उठाए गए संविवाद को प्रभावी और पूर्ण ढंग से स्थिर नहीं किया जा सकता तो न्यायालय ऐसे व्यक्तियों को पक्षकार बनाकर न्याय करेगा। संहिता का आदेश 1, नियम 10(2) न्यायालय को ऐसी स्थिति से निपटने के लिए व्यापक विवेकाधिकार प्रदान करता है जिसका परिणाम प्रभावित पक्षकार के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा यदि वाद में पक्षकार नहीं बनाया जाता और जहां उक्त पक्षकार को पक्षकार बनाया जाना वाद के विनिश्चय के लिए आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि विचारण न्यायालय ने अपोषणीय न होने के रूप में पहले उचित ही संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन आवेदन खारिज कर दिया था किंतु न्यायालय की सुविचारित राय में यह उल्लेख करने की आवश्यकता है कि विचारण न्यायालय को पक्षकारों के बीच न्याय करने के लिए स्वयं उस समय ही सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन फाइल आवेदन को संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन फाइल उक्त आवेदन मान लेना चाहिए था। वादी के अधिवक्ता द्वारा आरंभिक प्रक्रम पर संहिता के आदेश 1, नियम 10 के सही उपबंध का उल्लेख न करने मात्र के कारण पक्षकारों को कष्ट नहीं होना चाहिए। अब यह सुस्थिर है कि आवेदन में उपबंध का गलत उल्लेख मात्र पक्षकार को न्याय पाने से प्रतिषिद्ध नहीं करेगा। अंततः, न्यायालयों का उद्देश्य न्याय करना है, न कि तकनीक पर आधारित आवेदनों का विनिश्चय करना। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन उपबंध वाद के किसी प्रक्रम पर पक्षकारों को हटाने या जोड़ने के न्यायालय के न्यायिक विवेकाधिकार के बारे में है। यह ऐसे किसी पक्षकार को हटा सकता है जिसे अनुचित रूप से सम्मिलित किया गया है, यह किसी को वादी या प्रतिवादी के रूप में जोड़ सकता है यदि वह यह पाता है कि ऐसा व्यक्ति आवश्यक या उचित पक्षकार है। वस्तुतः, संहिता के आदेश 1, नियम 10(2) के अधीन न्यायालय तर्क और निष्पक्षता से कार्य करेगा न कि सनक और मनमौजीपन के अनुसार। संहिता के आदेश 1, नियम 10(2) में प्रयुक्त “अंतर्वलित सभी प्रश्नों को निपटाने” पद का निर्वचन उदारतापूर्ण

और व्यापकता के अधीन है जिससे कि उस विषयवस्तु से संबंधित सभी प्रश्नों का न्यायनिर्णयन किया जा सके । संसद् ने अपनी बुद्धिमत्ता से इस नियम को विरचित करते समय यह सोचा होगा कि वाद के सभी पक्षकारों और तृतीय पक्षकारों के सभी तार्किक प्रश्नों का विचारण एक बार में और हमेशा के लिए किया जाना चाहिए । न्यायालय में तीसरे पक्षकार सहित पक्षकारों को जोड़ने की न्यायिक विवेकाधिकार के साथ पूर्वोक्त परिणाम पाने की शक्ति निहित है । इसमें कोई विवाद नहीं हो सकता कि पक्षकार बनाए गए पक्ष का मुकदमे की विषयवस्तु में प्रत्यक्ष हित हो । यथा- पूर्वोक्त, विक्रय विलेख को रद्द करने की ईप्सा करने वाले वाद में, ऐसा व्यक्ति जिसने संपत्ति क्रय की है और जिसके अधिकार की वाद के निर्णय के अनुसरण में प्रभावित होने की संभावना है, आवश्यक पक्षकार है और उसे जोड़ा जाना चाहिए । यदि ऐसे क्रेता की मृत्यु हो गई है तो उसके विधिक प्रतिनिधि आवश्यक पक्षकार हैं । प्रस्तुत मामले में, चूंकि उक्त संपत्ति का क्रेता अर्थात् प्रतिवादी सं. 7 की वाद फाइल करने के पूर्व मृत्यु हो गई है इसलिए उसके विधिक प्रतिनिधियों को वादपत्र प्रस्तुत करते समय वाद के पक्षकार के रूप में पक्षकार बनाया जाना चाहिए । चूंकि इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि वादी क्रेता की मृत्यु के बारे में नहीं जानता था, वादपत्र के फाइल करने के समय ऐसा पक्षकार नहीं बनाया गया इसलिए उसे उक्त तथ्य की उसकी अनभिज्ञता के कारण मात्र से उसे वाद का पक्षकार बनाए जाने से हीन नहीं किया जा सकता । पक्षकारों के बीच न्याय करने के लिए और क्योंकि वादगत संपत्ति के क्रेता के विधिक प्रतिनिधि आवश्यक पक्षकार हैं इसलिए उन्हें संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन पक्षकार बनाया जाना चाहिए क्योंकि संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन आवेदन अपोषणीय है । यथा-पूर्वोक्त, यह तभी है यदि किसी प्रतिवादी की मृत्यु वाद के लंबित रहने के दौरान हो जाती है तो संहिता के आदेश 22, नियम 4 के उपबंधों का अवलंब लिया जा सकता है । चूंकि प्रतिवादियों में से एक अर्थात् प्रतिवादी सं. 7 की मृत्यु वाद फाइल करने के पूर्व हो गई इसलिए मात्र इस कारण संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार बनाए जाने में कोई विधिक अड़चन नहीं है कि वादी को किसी भी दशा में परिसीमा विधि के अनुक्रम के अधीन रहते हुए इन विधिक प्रतिनिधियों के विरुद्ध उस तारीख को जिसको उसने उन्हें पक्षकार बनाने के लिए आवेदन दिया था, नए सिरे से वाद संस्थित करना चाहिए था । सामान्यतः यदि वादी

को वाद के संस्थित करने के समय प्रतिवादियों में से किसी एक प्रतिवादी की मृत्यु के बारे में जानकारी थी तो प्रथमदृष्ट्या उसे उसके वारिसों या विधिक प्रतिनिधियों के विरुद्ध वाद फाइल करना चाहिए था। ससम्मान, ऐसी कठिनाई जो उच्च न्यायालय ने संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन वादी द्वारा फाइल किए गए आवेदन को मंजूर करने में महसूस की वह अति-तकनीकी दृष्टिकोण के संबंध में है जिससे न्याय की अवहेलना हो सकती है। चूंकि मृतक प्रतिवादी सं. 7 के वारिस वाद के परिणाम में महत्वपूर्ण हित रखने वाले व्यक्ति थे इसलिए ऐसे आवेदनों को यह ध्यान में रखते हुए निपटाया जाना चाहिए कि न्यायालयों का उद्देश्य पक्षकारों के बीच सारवान् न्याय करना है और सारवान् न्याय करते समय तकनीकी नियमों या प्रक्रियाओं को अधिमानता नहीं दी जानी चाहिए। निःसंदेह, विधि के अनुसार न्याय का अभिप्राय मात्र तकनीकी न्याय करना नहीं है बल्कि इसका यह भी अभिप्राय है कि न्याय करने के लिए विधि का पालन किया जाए। पूर्वोक्त समग्र दृष्टांत को ध्यान में रखते हुए आदेश 1, नियम 10 के अधीन आवेदन फाइल करने में उस समय भी कोई रोक नहीं है जब संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन आवेदन को मामले के तथ्यों के अधीन असंधार्य ठहराते हुए खारिज कर दिया गया था। ऐसे मामलों में मृतक व्यक्ति के विधिक वारिसों को संहिता के आदेश 7, नियम 6 के अधीन और परिसीमा अधिनियम की धारा 21 के अधीन यथा अनुध्यात परिसीमा के अभिवाक् के अधीन रहते हुए संहिता की धारा 151 के साथ पठित संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन पक्षकारों की पंक्ति में जोड़ा जा सकता है जिसका विनिश्चय विचारण के दौरान किया जाए। उपरोक्त को ध्यान में रखते हुए उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय को अपास्त किया जाता है। अपील मंजूर की जाती है, विचारण न्यायालय को मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार बनाए जाने और संहिता के आदेश 7, नियम 6 के अधीन और परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 21 के अधीन यथा अनुध्यात जिसका विनिश्चय विचारण के दौरान किया जाए, उन्हें अभिलेख पर लाने का निदेश दिया जाता है। (पैरा 7, 8, 9, 14 और 15)

अवलंबित निर्णय

पैरा

[1993] (1993) 4 एस. सी. सी. 41 :

कुरुप्पास्वामी और अन्य बनाम सी. रामामूर्ति ;

12

[1983]	(1983) 2 एस. सी. सी. 132 : भगवानस्वरूप और अन्य बनाम मूलचंद और अन्य ।	11
	निर्दिष्ट निर्णय	
[2016]	(2016) 1 एस. सी. सी. 607 : बनवारी लाल बनाम बलवीर सिंह ;	13
[2013]	(2013) 4 महाराष्ट्र ला जर्नल 403 : मधुकर रामचंद्र केनी बनाम वसंत जगन्नाथ पाटिल और अन्य ;	4
[1998]	(1998) 3 महाराष्ट्र ला जर्नल 618 : जयलक्ष्मी जनार्दन वालवत्कर और अन्य बनाम लीलाचंद लक्ष्मीचंद कपासी और अन्य ;	4
[1997]	(1997) 5 एस. सी. सी. 366 : अरोड़ा इंटरप्राइजेज लिमिटेड बनाम इंदुभूषण ओभान ;	4
[1967]	ए. आई. आर. 1967 एस. सी. 278 : राम प्रसाद दग्दूरम बनाम विजय कुमार मोतीलाल मीरखानवाला और अन्य ।	4

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 16985.

2011 की विशेष सिविल अपील सं. 16985 में गुजरात उच्च न्यायालय, अहमदाबाद द्वारा पारित तारीख 5 मार्च, 2014 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से	सर्वश्री निखिल गोयल, सुश्री नवीन गोयल और आशुतोष घाडे
प्रत्यर्थी की ओर से	सर्वश्री निखिल नय्यर, सुश्री अणुश्री प्राशित कपाडिया, सुश्री स्मृति शाह, एन. साई विनोद और दिव्यांशु राय

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति मोहन एम. शंतनागौडर ने दिया ।

न्या. शंतनागौडर – इजाजत दी गई ।

2. यह अपील 2011 के विशेष सिविल आवेदन सं. 16985 में

अपीलार्थी द्वारा फाइल विशेष सिविल आवेदन को खारिज करते हुए और परिणामतः सिविल प्रक्रिया संहिता (इसमें इसके पश्चात् “संहिता” कहा गया है) के आदेश 1, नियम 10 के अधीन फाइल आवेदन को खारिज करते हुए विचारण न्यायालय द्वारा पारित आदेश की पुष्टि करते हुए गुजरात उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 5 मार्च, 2014 के निर्णय के विरुद्ध यह अपील की गई है।

3. इस अपील के किए जाने के मुख्य संक्षिप्त तथ्य इस प्रकार हैं :-

अपीलार्थी ने भूमि जो प्रतिवादी सं. 7 द्वारा खरीदी गई थी, की बाबत मार्च, 1995 में निष्पादित विक्रय विलेख को अपास्त करने की ईप्सा करते हुए तारीख 24 जून, 2008 को वाद फाइल किया। वाद फाइल करने की तारीख को प्रतिवादी सं. 7 की पहले ही मृत्यु हो चुकी थी। इस आशय की प्रक्रिया प्रदाता की रिपोर्ट पर, विचारण न्यायालय ने 31 मार्च, 2009 को आदेश दिया कि वाद प्रतिवादी सं. 7 के प्रति उपशमित हो गया है। आरंभतः अपीलार्थी ने मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक वारिसों को अभिलेख पर लाने के लिए संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन आवेदन फाइल किया। विचारण न्यायालय ने 9 सितंबर, 2009 को उक्त आवेदन खारिज करते हुए इस प्रकार मत व्यक्त किया —

“उपरोक्त मामलों में अधिकथित तर्काधार के अनुसार संहिता का आदेश 22, नियम 4 तभी लागू होगा जब पक्षकार की मृत्यु कार्यवाही के लंबित रहने के दौरान की गई। आगे यह अभिनिर्धारित किया कि मृत व्यक्ति के विरुद्ध वाद स्वीकार्यतः अकृत है अतः आदेश 22, नियम 4 का अवलंब नहीं लिया जा सकता। आगे यह अभिनिर्धारित किया कि संहिता के आदेश 22, नियम 4 और आदेश 10, नियम 1 के उपबंध भिन्न-भिन्न और स्वतंत्र हैं। अतः, मृतक प्रतिवादी के वारिसों के अनुसार वारिसों को पक्षकार के रूप में सम्मिलित नहीं किया जा सकता क्योंकि वाद मृत व्यक्ति के विरुद्ध फाइल किया गया है।

अब इस मामले में 31 जनवरी, 2009 को प्रतिवादी सं. 7 की मृत्यु बेलिफ का पृष्ठांकन किया गया और वर्तमान आवेदन 20 मई, 2009 को दिया गया। आवेदन उपशमन को अपास्त करने और इस वाद में वारिस के रूप में सम्मिलित किए जाने के लिए खारिज किया गया है। तथापि, वादी का यह पक्षकथन

नहीं है कि उसे प्रतिवादी सं. 7 की मृत्यु के बारे में कोई जानकारी नहीं है या उसने पूछताछ की है। अतः, प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत निर्णय के अनुसार मृत व्यक्ति के विरुद्ध वाद अकृत है। तथापि, वादी ने ऐसे उपबंध का उल्लेख नहीं किया है जिसके अधीन उसने वर्तमान आवेदन फाइल किया। तथापि, वादी को वारिसों के विरुद्ध उपचार है अतः उसे कोई अन्याय कारित नहीं हुआ। तथापि, अभिलेख पर अन्य प्रतिवादी हैं।

इन परिस्थितियों के अधीन, आवेदन मंजूर नहीं किया जा सकता। अतः, मैं न्याय के हित में निम्नलिखित आदेश पारित करता हूँ -

आदेश

1. आवेदन मंजूर नहीं किया जाता है।
2. खर्च के संबंध में कोई आदेश नहीं दिया जाता है।”

इसके पश्चात् अपीलार्थी ने संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन अभिलेख पर मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार बनाने के लिए आवेदन फाइल करने का विकल्प चुना। पूर्वोक्त आवेदन को भी विचारण न्यायालय द्वारा तारीख 3 सितंबर, 2011 को खारिज कर दिया गया और उच्च न्यायालय द्वारा आक्षेपित निर्णय पारित करते हुए इसकी पुष्टि की गई। अतः, यह अपील फाइल की गई।

4. अपीलार्थी/मूल वादी के विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन पश्चात्पूर्ती आवेदन को मात्र पूर्व न्याय के सिद्धांत को लागू कर खारिज नहीं किया जा सकता क्योंकि संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन पूर्व फाइल आवेदन को गैर-संधार्यता के कारण खारिज कर दिया गया था; यह कि अपीलार्थी ने संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन फाइल आवेदन पर विचारण न्यायालय द्वारा पारित आदेश को स्वीकार किया है चूंकि विचारण न्यायालय द्वारा दिए गए कारण उचित और स्वीकार्य थे क्योंकि विधिक प्रतिनिधियों को प्रतिवादी सं. 7, जिसकी मृत्यु वाद फाइल करने के पूर्व हो गई थी, के विरुद्ध फाइल वाद में संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन अभिलेख पर नहीं लाया जा सकता; संहिता के आदेश 22, नियम 4 के उपबंध तभी लागू होंगे यदि एकमात्र या कोई एक प्रतिवादी की मृत्यु वाद के अस्तित्व के दौरान हो जाती है। चूंकि प्रतिवादी सं. 7 की मृत्यु वाद फाइल करने

के पूर्व हो गई थी इसलिए अपीलार्थी के पास केवल एकमात्र अनुक्रम संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन अभिलेख पर मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों/वारिसों को पक्षकार बनाने का रह गया था ; अतः, संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन फाइल आवेदन को असंघार्य होने के आधार पर खारिज करने का पूर्व आदेश संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन मृतक प्रतिवादी सं. 7 के मृतक के विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार बनाने के पश्चात्पूर्वी आवेदन को ग्रहण करने में पूर्व न्याय लागू नहीं होगा । चूंकि अपीलार्थी को प्रतिवादी सं. 7 की मृत्यु के बारे में जानकारी नहीं थी इसलिए वाद को अस्तित्व में बने रहने का अधिकार है और वाद के फाइल करने के समय मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार न बनाने में अपीलार्थी द्वारा की गई भूल सद्भाविक भूल है न कि जानबूझकर की गई भूल । चूंकि ऐसी भूल सद्भाव में की गई है अतः, मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों के विरुद्ध वाद के बने रहने का अधिकार अस्तित्व में रहता है । विचारण अभी आरंभ नहीं हुआ है अतः, अभिलेख पर विधिक प्रतिनिधियों को लाने का विलंब यदि कोई है का मुद्दा प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगा । चूंकि प्रस्तावित पक्षकार वाद के आवश्यक पक्षकार हैं और उनके पक्षकार बनाने से किसी पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ सकता है अतः, अभिलेख पर मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों को लाना न्यायहित में है ।

समानांतर स्तंभ में प्रत्यर्थियों की ओर से उपस्थित विद्वान् काउंसल ने राम प्रसाद दग्दूरम बनाम विजय कुमार मोतीलाल मीरखानवाला और अन्य¹, मधुकर रामचंद्र केनी बनाम वसंत जगन्नाथ पाटिल और अन्य², जयलक्ष्मी जनार्दन वालवत्कर और अन्य बनाम लीलाचंद लक्ष्मीचंद कपासी और अन्य³ और अरोड़ा इंटरप्राइजेज लिमिटेड बनाम इंदुभूषण ओभान⁴ वाले मामलों के प्रतिवेदित निर्णयों का अवलंब लेते हुए यह दलील दी कि विचारण न्यायालय और उच्च न्यायालय द्वारा संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन फाइल मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार बनाने के लिए दिए गए आवेदन को नामंजूर करना न्यायोचित है ; चूंकि संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन आरंभतः अपीलार्थी द्वारा

¹ ए. आई. आर. 1967 एस. सी. 278.

² (2013) 4 महाराष्ट्र ला जर्नल 403.

³ (1998) 3 महाराष्ट्र ला जर्नल 618.

⁴ (1997) 5 एस. सी. सी. 366.

फाइल आवेदन को खारिज कर दिया गया था और चूंकि संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन फाइल दूसरा आवेदन उसी प्रयोजन के लिए ही था इसलिए निचले न्यायालयों द्वारा संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन किए गए आवेदन को नामंजूर करना न्यायोचित था। उन्होंने आगे यह निवेदन किया कि मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार बनाने के लिए संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन किया गया आवेदन संघार्य नहीं है चूंकि अपीलार्थी ने संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन फाइल आवेदन को नामंजूर करने वाले पूर्व आदेश तारीख 9 सितंबर, 2009 को प्रश्नगत नहीं किया है अतः उक्त आदेश ने अंतिमता प्राप्त कर ली है और यह अपीलार्थी को बाध्य करता है; अपीलार्थी को संहिता के भिन्न उपबंध का अवलंब लेकर उसी अनुतोष के लिए दूसरा आवेदन फाइल करने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती।

5. इस अपील में केवल इस प्रश्न का विनिश्चय किया जाना है कि क्या प्रतिवादियों में से एक प्रतिवादी के विधिक प्रतिनिधियों को संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन पक्षकार बनाया जा सकता है जहां ऐसे प्रतिवादी की मृत्यु वाद फाइल करने के पूर्व हो गई थी विशेषकर जब संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन अभिलेख पर मृतक के विधिक प्रतिनिधियों को लाने के वादी द्वारा फाइल आवेदन को असंघार्य होने के आदेश पर पहले खारिज कर दिया गया हो।

6. संहिता के आदेश 22, नियम 4 के पढ़ने मात्र से यह स्पष्ट होता है कि संहिता का आदेश 22, नियम 4 ऐसे मामलों में ही लागू होता है जहां कई प्रतिवादियों में से एक या एक मात्र प्रतिवादी की मृत्यु वाद के अस्तित्व के दौरान हो जाती है। यदि प्रतिवादियों में से एक प्रतिवादी की मृत्यु वाद के फाइल करने के पूर्व हुई है तो ऐसे मृतक प्रतिवादी के विधिक प्रतिनिधि को संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन वाद में अभिलेख पर नहीं लाया जा सकता। आगे कार्यवाही आरंभ करने के पूर्व, संहिता के आदेश 1, नियम 10 और धारा 151 और 153 के उपबंधों का उल्लेख करना सुसंगत है जो इस प्रकार है :-

“आदेश 1, नियम 10 : गलत वादी के नाम से वाद –

(1) जहां कोई वाद वादी के रूप में गलत व्यक्ति के नाम से संस्थित किया गया है, या जहां संदेहपूर्ण है कि वह सही वादी के नाम में संस्थित किया गया है वहां यदि वाद के किसी भी प्रक्रम में

न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि वाद सद्भाविक भूल से संस्थित किया गया है और विवाद में के वास्तविक विषय के अवधारण के लिए ऐसा करना आवश्यक है तो, वह ऐसे निबंधनों पर, जो वह न्यायसंगत समझे, वाद के किसी भी प्रक्रम में किसी अन्य व्यक्ति को वादी के रूप में प्रतिस्थापित किए जाने या जोड़े जाने का आदेश दे सकेगा ।

(2) **न्यायालय पक्षकारों का नाम काट सकेगा या जोड़ सकेगा** – न्यायालय कार्यवाहियों के किसी भी प्रक्रम में या तो दोनों पक्षकारों में से किसी के आवेदन पर या उसके बिना और ऐसे निबंधनों पर जो न्यायालय को न्यायसंगत प्रतीत हों, यह आदेश दे सकेगा कि वादी के रूप में या प्रतिवादी के रूप में अनुचित तौर पर संयोजित किसी भी पक्षकार का नाम काट दिया जाए और किसी व्यक्ति का नाम जिसे वादी या प्रतिवादी के रूप में ऐसे संयोजित किया जाना चाहिए था या न्यायालय के सामने जिसकी उपस्थिति वाद में अंतर्वलित सभी प्रश्नों का प्रभावी तौर पर और पूरी तरह न्यायनिर्णयन और निपटारा करने के लिए न्यायालय को समर्थ बनाने की दृष्टि से आवश्यक हो, जोड़ दिया जाए ।

(3) कोई भी व्यक्ति, वाद-मिश्र के बिना वाद लाने वाले वादी के रूप में अथवा उस वादी के, जो किसी निर्योग्यता के अधीन है, वाद-मिश्र के रूप में उसकी सहमति के बिना जोड़ा जाएगा ।

(4) **जहां प्रतिवादी जोड़ा जाए वहां वादपत्र का संशोधन किया जाना** – जहां कोई प्रतिवादी जोड़ा जाता है वहां जब तक न्यायालय अन्यथा निर्दिष्ट न करे वादपत्र का इस प्रकार संशोधन किया जाएगा, जैसा आवश्यक हो, और समन की और वादपत्र को संशोधित प्रतियों की तामील नए प्रतिवादी पर, और यदि न्यायालय ठीक समझे तो मूल प्रतिवादी पर की जाएगी ।

(5) इंडियन लिमिटेशन ऐक्ट, 1877 (1877 का 15) की धारा 22 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, प्रतिवादी के रूप में जोड़े गए किसी भी व्यक्ति के विरुद्ध कार्यवाही समन की तामील पर ही प्रारंभ की गई समझी जाएगी ।

धारा 151 : न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों की व्यावृत्ति – इस संहिता की किसी भी बात के बारे में यह नहीं समझा जाएगा कि

वह ऐसे आदेशों के देने की न्यायालय की अंतर्निहित शक्ति को परिसीमित या अन्यथा प्रभावित करती है, जो न्याय के उद्देश्यों के लिए या न्यायालय की आदेशिका के दुरुपयोग का निवारण करने के लिए आवश्यक है।

धारा 153 : संशोधन करने की साधारण शक्ति – न्यायालय किसी भी समय और खर्च संबंधी ऐसी शर्तों पर या अन्यथा जो वह ठीक समझे, वाद की किसी भी कार्यवाही में की किसी भी त्रुटि या गलती को संशोधित कर सकेगा, और ऐसी कार्यवाही द्वारा उठाए गए या उस पर अवलंबित वास्तविक प्रश्न या विवाद के अवधारण के प्रयोजन के लिए सभी आवश्यक संशोधन किए जाएंगे।¹

7. प्रस्तुत मामले में, विक्रय प्रतिवादी सं. 7 के पक्ष में किया गया था और विक्रय विलेख की विधिमान्यता वाद की विषयवस्तु थी। संपत्ति का क्रेता अर्थात् प्रतिवादी सं. 7, यद्यपि वाद के फाइल करने के समय मृत्यु हो गई थी, को गलती से एक प्रतिवादी बनाया गया था। ऐसे लोग जिन्हें अब संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन पक्षकार बनाए जाने की ईप्सा की गई है मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधि हैं। अतः इसमें कोई विवाद नहीं हो सकता है कि मृतक के विधिक प्रतिनिधियों की उपस्थिति वाद के सभी प्रश्नों को प्रभावी रूप से और पूरी तरह से न्यायनिर्णयन करने और स्थिर करने के लिए न्यायालय को समर्थ बनाने के लिए आवश्यक है। उनकी उपस्थिति विवाद के वास्तविक विषय के अवधारण के लिए वाद में आवश्यक है अतः, परिसीमा अधिनियम की धारा 21 के अधीन दी गई दलील के अनुसार, उन्हें वस्तुतः परिसीमा विधि के अधीन अभिलेख पर लाए जाने की आवश्यकता है।

8. मात्र इस कारण कि संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन अपीलार्थी द्वारा फाइल पूर्व आवेदन को असंधार्य होने के कारण 9 सितंबर, 2009 को खारिज कर दिया गया था, यह दूसरा आवेदन जो विधि की दृष्टि से पोषणीय है, को फाइल करने से वादी को प्रतिषिद्ध नहीं करेगा। 9 सितंबर, 2009 के आदेश के आधार पर गुणागुण पर अभिलेख पर विधिक प्रतिनिधियों को लाने के आवेदन का न्यायनिर्णयन नहीं किया गया। दूसरी ओर संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन फाइल पूर्व आवेदन को असंधार्य होने के आधार पर विचारण न्यायालय द्वारा खारिज किया गया था क्योंकि प्रतिवादी सं. 7 की मृत्यु वाद के फाइल करने के पूर्व हो गई थी और यह कि संहिता का आदेश 22, नियम 4 तभी पटल पर आता है जब

कोई पक्षकार की मृत्यु वाद के लंबित होने के दौरान होती है। विधि की दृष्टि से अपीलार्थी को केवल यह अनुक्रम प्राप्त था कि वह संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने के लिए पक्षकार बनाने का आवेदन फाइल करे। अतः, संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन फाइल आवेदन पर विचारण न्यायालय द्वारा तारीख 9 सितंबर, 2009 को पारित आदेश पूर्व निर्णय के रूप में कार्य नहीं करेगा।

9. संहिता का आदेश 1, नियम 10 न्यायालय को कार्यवाहियों के किसी प्रक्रम पर किसी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में जोड़ने में समर्थ बनाता है यदि ऐसा व्यक्ति जिसकी उपस्थिति न्यायालय में वाद में अंतर्वलित सभी प्रश्नों के प्रभावी और पूर्ण न्यायनिर्णयन तथा स्थिर करने के लिए न्यायालय को समर्थ बनाने में आवश्यक हैं। कार्यवाहियों की बहुलता का परिहार भी उक्त उपबंध का एक उद्देश्य है। संहिता का आदेश 1, नियम 10 वाद में ऐसे पक्षकार को प्रतिस्थापित करने के लिए न्यायालय को शक्ति प्रदान करता है जो वाद में गलत व्यक्ति है। यदि न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि वाद को सद्भाविक भूल से संस्थित किया गया है और यह भी कि वाद में पक्षकार को प्रतिस्थापित करना संविवाद के वास्तविक विषय के अवधारण के लिए आवश्यक है तो वह ऐसा करने का निदेश दे सकता है। जब न्यायालय यह पाता है कि वाद में पक्षकार के रूप में पक्षकार बनाए जाने के लिए ईप्सित व्यक्तियों के अभाव में वाद में उठाए गए संविवाद को प्रभावी और पूर्ण ढंग से स्थिर नहीं किया जा सकता तो न्यायालय ऐसे व्यक्तियों को पक्षकार बनाकर न्याय करेगा। संहिता का आदेश 1, नियम 10(2) न्यायालय को ऐसी स्थिति से निपटने के लिए व्यापक विवेकाधिकार प्रदान करता है जिसका परिणाम प्रभावित पक्षकार के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा यदि वाद में पक्षकार नहीं बनाया जाता और जहां उक्त पक्षकार को पक्षकार बनाया जाना वाद के विनिश्चय के लिए आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं।

10. **विजय कुमार मोती लाल मीरखानवाला** (पूर्वोक्त) वाले मामले में, न्यायपीठ ने बहुमत द्वारा यह निर्धारित किया कि पक्षकार के विधिक प्रतिनिधियों को संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन जोड़ा जा सकता है किंतु ऐसी तारीख जिसको उन्हें जोड़ा जाए वह तारीख होगी जिसको वाद उनके द्वारा या उनके विरुद्ध संस्थित किया गया था। उक्त मामले में इस न्यायालय ने तथ्यों पर यह अभिनिर्धारित किया कि वाद 1908 के

परिसीमा अधिनियम की धारा 22 के अनुसार परिसीमा द्वारा वर्जित है। इस न्यायालय ने यद्यपि यह निष्कर्ष निकाला कि न्यायालय को संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन किसी विशिष्ट व्यक्ति को पक्षकार के रूप में सम्मिलित करने की शक्ति है, फिर भी मामले में हस्तक्षेप नहीं किया क्योंकि इस न्यायालय ने यह पाया कि वाद परिसीमा द्वारा वर्जित है। यह उल्लेख करना सुसंगत है कि उक्त वाद वर्ष 1958 का है। चूंकि परिसीमा अधिनियम, 1963 (इस समय प्रवृत्त) उस समय अस्तित्व में नहीं था इसलिए इस न्यायालय ने पुराना परिसीमा अधिनियम लागू किया और यह अभिनिर्धारित किया कि वाद परिसीमा द्वारा वर्जित है। वर्तमान अनुसार, परिसीमा अधिनियम, 1963 धारा 21(1) का परंतुक न्यायालय को यह निदेश देने की शक्ति प्रदान करता है कि वाद को पूर्व तारीख को संस्थित किया गया समझा जाएगा जहां नए वादी या प्रतिवादी को सम्मिलित करने का लोप सद्भाव में की गई भूल के कारण था। अतः, वादी इस मामले में, वाद के विचारण के दौरान मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों को सम्मिलित न करने की उनकी ओर से “सद्भाव” साबित करने के लिए स्वतंत्र हैं।

11. यह उल्लेख करना सुसंगत है कि **भगवानस्वरूप और अन्य बनाम मूलचंद और अन्य¹** वाले मामले में, इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया :-

“4. यह सही है कि अपीलार्थियों के लिए मृतक प्रत्यर्थी सं. 1 के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों को समय से पक्षकार बनाना आवश्यक था। यह भी समानतः सही है कि अपीलार्थी उचित आवेदन पेश करने के प्रति लापरवाह थे। हम उच्च न्यायालय के निष्कर्ष पर प्रश्न नहीं उठाना चाहते कि अपीलार्थी सं. 2, 3 और 4 मृतक प्रत्यर्थी सं. 1 की मृत्यु के बारे में जानते थे। यह संयुक्त कुटुम्ब संपत्ति के विभाजन का वाद होने के कारण, पक्षकार एक दूसरे के घनिष्ठ संबंधी हैं और यह विश्वास करना युक्तिसंगत है कि कम से कम कुछ अपीलार्थियों ने मृतक प्रत्यर्थी सं. 1 के शवदाह में भाग लिया होगा जैसाकि प्रतिकूल प्रत्यर्थी सं. 2 की ओर से दलील दी गई है। इस दलील में कुछ बल है कि जब आदेश 22, नियम 4 में यथा उपबंधित विनिर्दिष्ट उपबंध है तो आदेश 1, नियम 10 जैसे सामान्य उपबंध का

¹ (1983) 2 एस. सी. सी. 132.

अवलंब लेना उचित नहीं होगा। किंतु प्रक्रिया की विधियां न्याय की प्रगति के लिए बनाई गई हैं न कि उनमें अड़चन डालने के लिए। संग्राम सिंह बनाम निर्वाचन अधिकरण, कोट, (ए. आई. आर. 1955 एस. सी. 425) वाले मामले में, इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि प्रक्रिया संहिता न्याय को सुकर बनाने और इसके प्रयोजनों को आगे बढ़ाने के लिए परिकल्पित है न कि दंड और शास्तियों के लिए एक दंड अधिनियमिति है और न ही, यह लोगों को उलझाने के लिए परिकल्पित है। इसकी पुनः पुष्टि कालीपर दास बनाम विमल कृष्ण (1983) 1 एस. सी. सी. 14 वाले मामले में की गई है।

5. विभाजन के बाद में, वादियों और प्रतिवादियों की स्थिति परस्पर परिवर्तनीय हो सकती है। यह इसलिए है कि प्रत्येक अन्य पक्षकारों के साथ वही स्थिति अंगीकार करते हैं। अन्य लक्षण जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिए इस प्रकार हैं कि अपील वर्ष 1972 में किसी समय फाइल की गई थी। इसकी सुनवाई नहीं की गई और मामला न्यायालय को सूचित करते हुए द्वितीय प्रत्यर्थी के आवेदन पर ही बोर्ड के सामने आया कि प्रथम प्रत्यर्थी की मृत्यु काफी पहले हो गई है और चूंकि उनके वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों को प्रतिस्थापित नहीं किया गया है इसलिए अपील उपशमित हो गई। इसके पश्चात् गति आरंभ हुई। अपीलार्थियों ने प्रत्यास्थापन के लिए आवेदन दिया। मामला वहीं समाप्त नहीं हुआ। मृतक प्रत्यर्थी सं. 1 के वारिसों ने तब अभिलेख पर लाए जाने के लिए आवेदन दिया। यदि आवेदन को मंजूर किया गया होता तो अपील का निपटान सभी पक्षकारों की उपस्थिति में किया जा सकता था। उच्च न्यायालय द्वारा ऐसे अति-तकनीकी दृष्टिकोण को अपनाया जाता तो न्याय की अवहेलना हो सकती थी अतः, ससम्मान आवेदन को मंजूर करने में कठिनाई महसूस की। मृतक प्रत्यर्थी सं. 1 के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों को प्रतिस्थापित करने की अपीलार्थियों की असफलता के बारे में सर्वाधिक गंभीर शिकायत किसे करना चाहिए था? सुस्पष्टतः, मृतक प्रत्यर्थी सं. 1 के वारिस ऐसे व्यक्ति थे जो अपील के निष्कर्ष से सर्वाधिक हितबद्ध थे। उन्हें यह दलील देनी थी कि उनके विरुद्ध अपील उपशमित हो गई है और उनके शेयर (अंश) अविवादित हो गए हैं। उनका यह पक्षकथन नहीं है। प्रतिकूलतः वे मृतक प्रत्यर्थी सं. 1 के वारिस और विधिक प्रतिनिधि के रूप में पक्षकार बनाए जाने और

प्रतिस्थापित किए जाने की इच्छा रखते हैं। उन्हें अभिलेख पर लाए जाने में विलंब के बारे में बिल्कुल कोई शिकायत नहीं है। यह द्वितीय प्रत्यर्थी है जो दोनों अपीलार्थियों से लड़ रहा है और प्रथम प्रत्यर्थी जो इस प्रक्रियागत चूक द्वारा तकनीकी फायदा लेना चाहता है। यदि प्रशासनिक विधि की कार्यवाही में निष्पक्षता को प्रोत्साहित करना है तो न्यायिक दृष्टिकोण को पूर्णतया अंतर्निहित करना चाहिए। ऐसे आवेदनों पर इस दृष्टि से विचार करना चाहिए कि क्या पक्षकारों के बीच सारवान् न्याय किया गया है या न्यायालय में सारवान् न्याय करते समय प्रक्रिया के तकनीकी नियमों को अधिमानता दी गई है। निःसंदेह, विधि के अनुसार न्याय को आगे बढ़ाने के लिए विधि का पालन किया जाना चाहिए।”

12. इस न्यायालय ने कुरुप्पास्वामी और अन्य बनाम सी. रामामूर्ति¹ वाले मामले में वादी को संहिता की धारा 151 और 153 के उपबंधों के अधीन इसे लागू करने के लिए संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन उनके द्वारा फाइल आवेदन को उपांतरित करने की अनुज्ञा दी। उक्त मामले में भी वाद मृत व्यक्ति के विरुद्ध फाइल किया गया था। इस न्यायालय ने आगे कार्यवाही करते हुए यह भी निष्कर्ष निकाला कि वादी ने परिसीमा अधिनियम की धारा 21(1) के अधीन यथा अनुध्यात सद्भाव दर्शाया अतः, विधिक प्रतिनिधियों/वारिसों को पक्षकार बनाया जाना वादपत्र के प्रस्तुतीकरण की तारीख से पूर्व की तारीख से होना चाहिए। इस मामले में इस प्रकार यह मत व्यक्त किया गया :—

“4. उपधारा (1) के परंतुक के तुलनात्मक पठन से यह दर्शित होता है कि इसके परिवर्धन से पूर्णतः अंतर हो गया है। यह भी स्पष्ट है कि परंतुक को ऐसी गलती का सुधार करने की अनुज्ञा देने के लिए लाया गया जो सद्भाव में की गई भूल के कारण हुई है। किंतु तब जब न्यायालय ऐसी भूल का सुधार करने की अनुज्ञा देती है। उस दशा में इसका प्रभाव उस तारीख जिसको प्रयोजन के लिए आवेदन किया गया था से आरंभ नहीं होता या अनुज्ञा की तारीख से किंतु वाद की तारीख से यह मानते हुए कि सुधार आवेदन करने की तारीख से नहीं बल्कि पूर्व तारीख से किया गया हो। अधिनियम की धारा 21 की उपधारा (1) का परंतुक अधिनियम के भाग 3 के किसी

¹ (1993) 4 एस. सी. सी. 41.

अन्य उपबंध की भावना और विचार से संगत है जैसे कि धारा 14 अधिकारिता के बिना न्यायालय में सद्भाविक कार्यवाही के समय के अपवर्जन का उपबंध करती है जब किसी वाद के लिए परिसीमा की अवधि की गणना करते समय होता है और धारा 17(1) परिसीमा की भिन्न अवधि का उपबंध करती है और यह तब आरंभ होती है जब कपट या भूल किए जाने के बजाय कपट या भूल का पता चलता है। अधिनियम की धारा 21 की उपधारा (1) के लाभदायी परंतुक का अवलंब लेते समय ऐसा प्रकथन कि वाद में मृतक प्रतिवादी के पक्षकार बनाने द्वारा सद्भाव में भूल की गई थी, किया जाना चाहिए और न्यायालय का सबूत के आधार पर यह समाधान होना चाहिए कि प्रतिस्थापन या परिवर्धन द्वारा सही प्रतिवादी सम्मिलित करने का आवेदन ठीक और उचित है तथा भूल सद्भाव में हुई है। एकमात्र न्यायालय का समाधान वाद में प्राण फूंकता है।

5. यह उल्लेखनीय है कि यह नहीं माना जा सकता कि विचारण न्यायालय ने वादी-प्रत्यर्थी के आचरण के प्रति कोई उपेक्षा या उदंडता नहीं पाया। बल्कि यह मत व्यक्त किया कि वादी को 1975 के अंतर्वर्ती आवेदन सं. 265 में फाइल किए गए प्रत्युत्तर द्वारा ही प्रथम प्रतिवादी की मृत्यु की तारीख की जानकारी हो सकती थी। सामान्यतः यदि उसे प्रतिवादी की मृत्यु की तारीख की जानकारी थी तो उसे पहली नजर में ही उनके वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों के विरुद्ध वाद फाइल करना चाहिए था। विचारण न्यायालय ने भी यह राय दी कि वादी को ऐसी मृत्यु के बारे में जानकारी नहीं थी और इसलिए ही उसने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन 1975 का अंतर्वर्ती आवेदन सं. 265 फाइल किया। उच्च न्यायालय ने भी यह निष्कर्ष अभिलिखित किया कि यह साबित करने के लिए कुछ नहीं है कि वादी को प्रथम प्रत्यर्थी की मृत्यु के बारे में जानकारी थी किंतु इसके बारे में जानकारी होते हुए भी उसने मृत व्यक्ति के विरुद्ध वाद फाइल करने पर बल दिया। निष्कर्षतः, विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि क्योंकि वादी प्रत्यर्थी ने तत्काल कार्रवाई की जिससे यह स्पष्टतः उपदर्शित होता है कि उसने सद्भाव में कार्य किया। इस प्रकार, उच्च न्यायालय ने वादी-प्रत्यर्थी के पक्ष में अधिनियम की धारा 21 की उपधारा (1) के परंतुक का अवलंब लेते हुए यह मामला बनाया। क्रमबद्धतः, उच्च न्यायालय

ने ऐसे उपबंध के परिवर्तन की अनुज्ञा देते हुए 1975 के अंतर्वर्ती आवेदन सं. 785 को अनुज्ञात करने और वह तारीख अर्थात् 14 नवंबर, 1974 को, जिसको वाद मूलतः प्रस्तुत किया गया था, को प्रतिवादी सं. 1 के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों के विरुद्ध वाद का आदेश देते हुए 1975 की अंतर्वर्ती आवेदन सं. 265 को अनुज्ञात करने में कोई कठिनाई महसूस नहीं की जिसके अंतर्गत 1975 का अंतर्वर्ती आवेदन सं. 265 फाइल की गई थी।¹

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया।)

13. **बनवारी लाल बनाम बलवीर सिंह¹** वाले मामले में प्रतिवादी सं. 1 (जो प्रथम अपील में प्रत्यर्थी सं. 1 था) की मृत्यु प्रथम अपील के विनिश्चय के दो वर्ष पूर्व हो गई थी, किंतु अभिलेख पर उसके विधिक प्रतिनिधियों को लाने के लिए कोई कदम नहीं उठाया गया। प्रथम अपीली न्यायालय ने वादी के पक्ष में विनिश्चय किया। जब मामला द्वितीय अपील में आया तो प्रतिवादी सं. 1 के विधिक प्रतिनिधियों ने विलंब की माफी और प्रत्यावर्तन के लिए आवेदन फाइल किया। इस न्यायालय ने यद्यपि यह मत व्यक्त किया कि आवेदन संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन फाइल किया जाना चाहिए क्योंकि मृत्यु न्यायालय के समक्ष मामले के अस्तित्व के दौरान हुई थी और संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन आवेदन संघार्य नहीं नहीं है, यदि इस आधार पर आवेदन मंजूर करने की कार्यवाही की गई तो यह तकनीक के आधार पर आवेदक को वादकारी न बनाए जाने के संबंध में अनुचित होगा। इस न्यायालय ने प्रतिवादी सं. 1 के विधिक प्रतिनिधियों को बदलकर आवेदन संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन फाइल करने की अनुज्ञा दी।

प्रत्यर्थियों द्वारा अवलंबित मामलों अर्थात् **जयलक्ष्मी जनार्दन वालवल्कर** (पूर्वोक्त) और **मधुकर रामचंद्र केनी** (पूर्वोक्त) वाले मामले में मृत्यु मामले के लंबित न होने के दौरान हो गई थी और परिणामतः वाद उपशमित हो गया था। **अरोड़ा इंटरप्राइजेज** (पूर्वोक्त) वाला मामला भी लागू नहीं होता है क्योंकि यह उपशमन आदेश की अंतिमता के बारे में है। उस संदर्भ में न्यायालयों ने यह निष्कर्ष निकाला कि वादी/अपीलार्थी को मामले के लंबित रहने के दौरान मृत्यु की दशा में संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन आवेदन फाइल करने का ही एकमात्र अनुक्रम है न कि संहिता के आदेश 1,

¹ (2016) 1 एस. सी. सी. 607.

नियम 10 के अधीन या संहिता की धारा 151 के अधीन ।

14. इस मामले में यद्यपि विचारण न्यायालय ने अपोषणीय न होने के रूप में पहले उचित ही संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन आवेदन खारिज कर दिया था किंतु हमारी सुविचारित राय में यह उल्लेख करने की आवश्यकता है कि विचारण न्यायालय को पक्षकारों के बीच न्याय करने के लिए स्वयं उस समय ही सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन फाइल आवेदन को संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन फाइल उक्त आवेदन मान लेना चाहिए था । वादी के अधिवक्ता द्वारा आरंभिक प्रक्रम पर संहिता के आदेश 1, नियम 10 के सही उपबंध का उल्लेख न करने मात्र के कारण पक्षकारों को कष्ट नहीं होना चाहिए । अब यह सुस्थिर है कि आवेदन में उपबंध का गलत उल्लेख मात्र पक्षकार को न्याय पाने से प्रतिषिद्ध नहीं करेगा । अंततः, न्यायालयों का उद्देश्य न्याय करना है, न कि तकनीक पर आधारित आवेदनों का विनिश्चय करना । सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन उपबंध वाद के किसी प्रक्रम पर पक्षकारों को हटाने या जोड़ने के न्यायालय के न्यायिक विवेकाधिकार के बारे में है । यह ऐसे किसी पक्षकार को हटा सकता है जिसे अनुचित रूप से सम्मिलित किया गया है, यह किसी को वादी या प्रतिवादी के रूप में जोड़ सकता है यदि वह यह पाता है कि ऐसा व्यक्ति आवश्यक या उचित पक्षकार है । वस्तुतः, संहिता के आदेश 1, नियम 10(2) के अधीन न्यायालय तर्क और निष्पक्षता से कार्य करेगा न कि सनक और मनमौजीपन के अनुसार । संहिता के आदेश 1, नियम 10(2) में प्रयुक्त “अंतर्वलित सभी प्रश्नों को निपटान” पद का निर्वचन उदारतापूर्ण और व्यापकता के अधीन है जिससे कि उस विषयवस्तु से संबंधित सभी प्रश्नों का न्यायनिर्णयन किया जा सके । संसद् ने अपनी बुद्धिमत्ता से इस नियम को विरचित करते समय यह सोचा होगा कि वाद के सभी पक्षकारों और तृतीय पक्षकारों के सभी तार्किक प्रश्नों का विचारण एक बार में और हमेशा के लिए किया जाना चाहिए । न्यायालय में तीसरे पक्षकार सहित पक्षकारों को जोड़ने की न्यायिक विवेकाधिकार के साथ पूर्वोक्त परिणाम पाने की शक्ति निहित है । इसमें कोई विवाद नहीं हो सकता कि पक्षकार बनाए गए पक्ष का मुकदमे की विषयवस्तु में प्रत्यक्ष हित हो । यथा पूर्वोक्त, विक्रय-विलेख को रद्द करने की ईप्सा करने वाले वाद में, ऐसा व्यक्ति जिसने संपत्ति क्रय की है और जिसके अधिकार की वाद के निर्णय के अनुसरण में प्रभावित होने की संभावना है, आवश्यक पक्षकार है और उसे

जोड़ा जाना चाहिए। यदि ऐसे क्रेता की मृत्यु हो गई है तो उसके विधिक प्रतिनिधि आवश्यक पक्षकार हैं। प्रस्तुत मामले में, चूंकि उक्त संपत्ति का क्रेता अर्थात् प्रतिवादी सं. 7 की वाद फाइल करने के पूर्व मृत्यु हो गई है इसलिए उसके विधिक प्रतिनिधियों को वादपत्र प्रस्तुत करते समय वाद के पक्षकार के रूप में पक्षकार बनाया जाना चाहिए। चूंकि इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि वादी क्रेता की मृत्यु के बारे में नहीं जानता था, वादपत्र के फाइल करने के समय ऐसा पक्षकार नहीं बनाया गया इसलिए उसे उक्त तथ्य की उसकी अनभिज्ञता के कारण मात्र से उसे वाद का पक्षकार बनाए जाने से हीन नहीं किया जा सकता। पक्षकारों के बीच न्याय करने के लिए और क्योंकि वादगत संपत्ति के क्रेता के विधिक प्रतिनिधि आवश्यक पक्षकार हैं इसलिए उन्हें संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन पक्षकार बनाया जाना चाहिए क्योंकि संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन आवेदन अपोषणीय है।

यथा पूर्वोक्त, यह तभी है यदि किसी प्रतिवादी की मृत्यु वाद के लंबित रहने के दौरान हो जाती है तो संहिता के आदेश 22, नियम 4 के उपबंधों का अवलंब लिया जा सकता है। चूंकि प्रतिवादियों में से एक अर्थात् प्रतिवादी सं. 7 की मृत्यु वाद फाइल करने के पूर्व हो गई इसलिए मात्र इस कारण संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार बनाए जाने में कोई विधिक अड़चन नहीं है कि वादी को किसी भी दशा में परिसीमा विधि के अनुक्रम के अधीन रहते हुए इन विधिक प्रतिनिधियों के विरुद्ध उस तारीख को जिसको उसने उन्हें पक्षकार बनाने के लिए आवेदन दिया था, नए सिरे से वाद संस्थित करना चाहिए था। सामान्यतः यदि वादी को वाद के संस्थित करने के समय प्रतिवादियों में से किसी एक प्रतिवादी की मृत्यु के बारे में जानकारी थी तो प्रथमदृष्ट्या उसे उसके वारिसों या विधिक प्रतिनिधियों के विरुद्ध वाद फाइल करना चाहिए था। ससम्मान, ऐसी कठिनाई जो उच्च न्यायालय ने संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन वादी द्वारा फाइल किए गए आवेदन को मंजूर करने में महसूस की वह अति-तकनीकी दृष्टिकोण के संबंध में है जिससे न्याय की अवहेलना हो सकती है। चूंकि मृतक प्रतिवादी सं. 7 के वारिस वाद के परिणाम में महत्वपूर्ण हित रखने वाले व्यक्ति थे इसलिए ऐसे आवेदनों को यह ध्यान में रखते हुए निपटाया जाना चाहिए कि न्यायालयों का उद्देश्य पक्षकारों के बीच सारवान् न्याय करना है और सारवान् न्याय करते समय तकनीकी नियमों या प्रक्रियाओं

को अधिमानता नहीं दी जानी चाहिए । निःसंदेह, विधि के अनुसार न्याय का अभिप्राय मात्र तकनीकी न्याय करना नहीं है बल्कि इसका यह भी अभिप्राय है कि न्याय करने के लिए विधि का पालन किया जाए ।

15. पूर्वोक्त समग्र दृष्टांत को ध्यान में रखते हुए आदेश 1, नियम 10 के अधीन आवेदन फाइल करने में उस समय भी कोई रोक नहीं है जब संहिता के आदेश 22, नियम 4 के अधीन आवेदन को मामले के तथ्यों के अधीन असंधार्य ठहराते हुए खारिज कर दिया गया था । ऐसे मामलों में मृतक व्यक्ति के विधिक वारिसों को संहिता के आदेश 7, नियम 6 के अधीन और परिसीमा अधिनियम की धारा 21 के अधीन यथा अनुध्यात परिसीमा के अभिवाक् के अधीन रहते हुए संहिता की धारा 151 के साथ पठित संहिता के आदेश 1, नियम 10 के अधीन पक्षकारों की पंक्ति में जोड़ा जा सकता है जिसका विनिश्चय विचारण के दौरान किया जाए ।

उपरोक्त को ध्यान में रखते हुए उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय को अपास्त किया जाता है । अपील मंजूर की जाती है, विचारण न्यायालय को मृतक प्रतिवादी सं. 7 के विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार बनाए जाने और संहिता के आदेश 7, नियम 6 के अधीन और परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 21 के अधीन यथा अनुध्यात जिसका विनिश्चय विचारण के दौरान किया जाए, उन्हें अभिलेख पर लाने का निदेश दिया जाता है ।

अपील मंजूर की गई ।

पा.

10 अक्टूबर, 2017

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति अभय मनोहर साग्रे

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 133 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 का आदेश 39 का नियम 1] – सिविल अपील – व्यादेश – बेकब्जा करने की आशंका – वादी के पक्ष में वाद भूमि का पट्टा और कब्जा साबित होना – उसे उससे बेकब्जा करने की कोशिश करने की आशंका होना – बेकब्जा करने के विरुद्ध व्यादेश के लिए वाद फाइल करना – वाद डिक्री होना – यदि वाद भूमि पर वादी का कब्जा है और उसे उसने विधिपूर्ण तरीके से पट्टे पर प्राप्त किया है तो अन्यायोचित तरीके से उसे उससे बेकब्जा नहीं किया जा सकता है और बेकब्जा के विरुद्ध उसके पक्ष में पारित व्यादेश की डिक्री युक्तियुक्त और विधिमान्य होगी।

वर्तमान मामले में, अपीलार्थी, नगर पालिका रायसिंहनगर (राजस्थान) का निवासी है। अपीलार्थी प्रतिवादी है जबकि प्रत्यर्थी पूर्वोक्त उल्लिखित वाद में वादी है, जिससे यह अपील उद्भूत हुई है। विवाद, गौशाला ब्लाक, वार्ड सं. 10 (जिसे पूर्व में “ई ब्लाक” के रूप में जाना जाता था), रायसिंहनगर में स्थित एक छोटे भूखंड (जिसे इसमें इसके पश्चात् “वाद भूमि” कहा गया है) से संबंधित है। प्रत्यर्थी (वादी) ने तारीख 13 फरवरी, 1957 के संकल्प सं. 7 द्वारा वर्ष 1957 में इसमें के अपीलार्थी द्वारा अपने दादा पोखर राम के पक्ष में जारी पट्टा के आधार पर वाद भूमि के धारक और कब्जे में होने का दावा किया है, अपीलार्थी के विरुद्ध एक वाद फाइल किया था जिससे यह अपील उद्भूत हुई जिसके द्वारा वाद भूमि से उसे बेकब्जा करने से अपीलार्थी को अवरुद्ध करते हुए, स्थायी व्यादेश की ईप्सा की गई है। सारांशतः, प्रत्यर्थी का पक्षकथन, जैसा कि वादपत्र में दिया गया है, यह था कि अपीलार्थी-नगर पालिका ने मूल तौर पर प्रत्यर्थी के दादा पोखर राम को वर्ष 1957 में वाद भूमि आबंटित किया था जिसके एवज में प्रतिफल का संदाय किया जाना था, जिसे पोखर राम द्वारा तारीख 18 मार्च, 1957 के प्राप्ति सं. 51 द्वारा अपीलार्थी को सम्यक् रूप से संदत्त

कर दिया गया था । यह अभिकथित है कि पोखर राम ने तब वाद भूमि पर अपनी झोपड़ी का निर्माण किया था और अपने जीवनकाल के दौरान तक उसमें रह रहे थे । उनकी मृत्यु होने पर प्रत्यर्थी के पिता अपने जीवनकाल के दौरान तक उसमें रहे और उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रत्यर्थी ने वाद भूमि/झोपड़ी को उत्तराधिकार में प्राप्त कर लिया था और वाद फाइल किए जाने की तारीख तक वह इसके निरंतर अधिभोग में रह रहा है । प्रत्यर्थी के अनुसार, वाद फाइल किए जाने की आवश्यकता उद्भूत हुई है क्योंकि उसे यह कुछ आशंका थी कि अपीलार्थी-नगर पालिका ने नगर पालिका क्षेत्र में नगर पालिका से संबंधित भूमि से कुछ अतिक्रमणकर्ताओं की बेदखली कर रही थी, उसे भी वाद भूमि के अतिक्रमणकर्ता के रूप में मानते हुए प्रत्यर्थी द्वारा बेदखल किया जा सकता है । यही कारण था, जिससे प्रत्यर्थी ने पट्टा, जो अपीलार्थी के हक-पूर्वाधिकारी के पक्ष में पहले ही मंजूर हो चुका था, के आधार पर वाद भूमि के संबंध में अपीलार्थी के विरुद्ध स्थायी व्यादेश की ईप्सा करते हुए सिविल वाद फाइल किया । अपीलार्थी ने अपना लिखित कथन फाइल किया । प्रत्यर्थी के दावे से इनकार करते हुए, अपीलार्थी ने अन्य बातों के साथ यह अभिकथित किया कि प्रत्यर्थी के दादा को कुछ भूमि दी गई थी, उक्त भूमि के संबंध में इस प्रकार दिए गए अनुदान को रद्द कर दिया गया था और प्राप्त धन को भी उसे वापस कर दिया गया था, यह कि वाद भूमि, नगर पालिका भूमि है और प्रत्यर्थी ने नगर पालिका के कुछ कर्मचारियों की सहायता से अप्राधिकृत तौर पर वाद भूमि को अपने पक्ष में आबंटित करा लिया है और अंतिम तौर पर, वाद भूमि की लोक प्रयोजन के लिए आवश्यक है । विवाद्यक विरचित किए गए । पक्षकारों ने साक्ष्य प्रस्तुत किया । विचारण न्यायालय ने तारीख 6 सितम्बर, 1988 के निर्णय द्वारा वाद खारिज कर दिया । प्रत्यर्थी (वादी) ने इससे व्यथित होकर प्रथम अपील न्यायालय के समक्ष प्रथम अपील फाइल की । प्रथम अपील न्यायालय ने तारीख 17 अप्रैल, 1989 के निर्णय/डिक्री द्वारा अपील मंजूर कर लिया और विचारण न्यायालय के निर्णय/डिक्री को अपास्त करते हुए, प्रत्यर्थी के वाद को डिक्री कर दिया और तदनुसार, प्रत्यर्थी द्वारा यथाप्रार्थित वाद भूमि के संबंध में अपीलार्थी के विरुद्ध स्थायी व्यादेश मंजूर कर लिया । प्रथम अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी के दादा को अपीलार्थी द्वारा वाद भूमि के संबंध में पट्टा मंजूर किया गया था और यह कि अपीलार्थी यह साबित करने में असफल रहा है कि इसे रद्द कर दिया गया था और प्रत्यर्थी के पूर्वाधिकारी को इसके अनुसरण में रकम वापस कर दिया गया था और यह कि मंजूर पट्टा वाद

भूमि के संबंध में था और यह कि प्रत्यर्थी वाद भूमि के कब्जे में था । अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के समक्ष द्वितीय अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा अपील खारिज कर दिया और प्रथम अपील न्यायालय के निर्णय/डिक्री को कायम रखते हुए प्रतिवादी अर्थात् नगर पालिका द्वारा इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत के माध्यम से वर्तमान अपील फाइल करने का अवसर दिया । न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – यह विवादित नहीं है कि अब कोई भी यह कह सकता है कि प्रत्यर्थी के हक-पूर्वाधिकारी को संदाय करने पर वाद भूमि के संबंध में पट्टा मंजूर किया गया था । यह भी विवादित नहीं है कि प्रत्यर्थी, मूल आबंटी का पौत्र है । यह भी विवादित नहीं है कि अपीलार्थी (प्रतिवादी) ने यद्यपि, यह आधार लिया है कि प्रश्नगत पट्टा रद्द कर दिया गया था और धन वापस कर दिया गया था किन्तु अपीलार्थी ने किसी भी साक्ष्य से इसे साबित नहीं कर सका है । यह भी विवादित नहीं है कि यद्यपि, अपीलार्थी ने यह आधार लिया है कि प्रत्यर्थी के हक-पूर्वाधिकारी को मंजूर पट्टा वाद भूमि से संबंधित नहीं है, अपितु किसी अन्य भूमि से संबंधित है, किन्तु अपीलार्थी किसी साक्ष्य की सहायता से इस तथ्य को भी साबित करने में असफल रहा है । न्यायालय के मत में, अपीलार्थी द्वारा लिए गए पूर्वोक्त आधारों को अपीलार्थी द्वारा साबित किया जाना अपेक्षित था क्योंकि इन तथ्यों को साबित करने का भार उन पर था किन्तु वे उद्भूत विवादकों में से किसी को भी साबित करने में असफल रहे हैं । न्यायालय की राय में, प्रत्यर्थी (वादी) ने साक्ष्यों अर्थात् प्रथमदृष्ट्या वाद, सुविधा का संतुलन और अपूरणीय हानि और क्षति की सहायता से स्थायी व्यादेश मंजूर करने के लिए सभी तीनों आवश्यक अवयवों को साबित करने में समर्थ रहा है, यदि उसे व्यादेश मंजूर किया जाता है । चूंकि प्रत्यर्थी वाद भूमि का पट्टा धारित करता है, इसलिए, उसके पक्ष में प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है । द्वितीयतः, उसे वाद भूमि के कब्जे में होना भी अभिनिर्धारित किया गया है और अतएव, अन्य दोनों अवयवों अर्थात् सुविधा का संतुलन और अपूरणीय हानि और क्षति भी उसके पक्ष में साबित होते हैं । हमारे मत में, इन कारणों से भी वादी को वाद भूमि के संबंध में, अपीलार्थी (प्रतिवादी) के विरुद्ध सही ही स्थायी व्यादेश का दावा करने के लिए हकदार होना अभिनिर्धारित किया गया है । (पैरा 18, 19 और 20)

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2010 की सिविल अपील सं. 10833.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से	सर्वश्री पुनीत जैन, (सुश्री) गौशिका शर्मा, अभिनव गुप्ता, (सुश्री) प्रियाल जैन और हर्ष जैन (सुश्री प्रतिभा जैन की ओर से), अधिवक्तागण
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री दुष्यंत पाराशर, प्रणव व्यास और सूर्य कांत, अधिवक्तागण

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर साप्रे ने दिया ।

न्या. साप्रे – यह अपील प्रतिवादी द्वारा उच्च न्यायालय राजस्थान, जोधपुर द्वारा 1989 की एस. बी. सिविल नियमित द्वितीय अपील सं. 70 में पारित तारीख 3 नवम्बर, 2006 के अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने प्रतिवादी द्वारा फाइल अपील को खारिज कर दिया था और प्रथम अपील न्यायालय द्वारा 1988 की सिविल अपील सं. 19 में पारित तारीख 17 अप्रैल, 1989 के निर्णय और डिक्री की पुष्टि कर दी थी जो मुंसिफ और न्यायिक मजिस्ट्रेट, रायसिंहनगर द्वारा 1983 की सिविल वाद सं. 28 में पारित तारीख 6 सितम्बर, 1988 के विनिश्चय से उद्भूत हुआ था ।

2. मामले के तथ्य हैं जो अपील में अंतर्बलित हैं, साधारण हैं । तथापि, उनका संक्षिप्त में उल्लेख किया जाना आवश्यक है ।

3. अपीलार्थी, नगर पालिका रायसिंहनगर (राजस्थान) का निवासी है । अपीलार्थी प्रतिवादी है जबकि प्रत्यर्थी पूर्वोक्त उल्लिखित वाद में वादी है, जिससे यह अपील उद्भूत हुई है ।

4. विवाद, गौशाला ब्लाक, वार्ड सं. 10 (जिसे पूर्व में “ई ब्लाक” के रूप में जाना जाता था), रायसिंहनगर में स्थित एक छोटे भूखंड (जिसे इसमें इसके पश्चात् “वाद भूमि” कहा गया है) से संबंधित है ।

5. प्रत्यर्थी (वादी) ने तारीख 13 फरवरी, 1957 के संकल्प सं. 7 द्वारा वर्ष 1957 में इसमें के अपीलार्थी द्वारा अपने दादा पोखर राम के पक्ष में जारी पट्टा के आधार पर वाद भूमि के धारक और कब्जे में होने का दावा किया है, अपीलार्थी के विरुद्ध एक वाद फाइल किया था जिससे यह

अपील उद्भूत हुई जिसके द्वारा वाद भूमि से उसे बेकब्जा करने से अपीलार्थी को अवरुद्ध करते हुए, स्थायी व्यादेश की ईप्सा की गई है।

6. सारांशतः, प्रत्यर्थी का पक्षकथन, जैसा कि वादपत्र में दिया गया है, यह था कि अपीलार्थी-नगर पालिका ने मूल तौर पर प्रत्यर्थी के दादा पोखर राम को वर्ष 1957 में वाद भूमि आबंटित किया था जिसके एवज में प्रतिफल का संदाय किया जाना था, जिसे पोखर राम द्वारा तारीख 18 मार्च, 1957 के प्राप्ति सं. 51 द्वारा अपीलार्थी को सम्यक् रूप से संदत्त कर दिया गया था।

7. यह अभिकथित है कि पोखर राम ने तब वाद भूमि पर अपनी झोपड़ी का निर्माण किया था और अपने जीवनकाल के दौरान तक उसमें रह रहे थे। उनकी मृत्यु होने पर प्रत्यर्थी के पिता अपने जीवनकाल के दौरान तक उसमें रहे और उनकी मृत्यु के पश्चात् प्रत्यर्थी ने वाद भूमि/झोपड़ी को उत्तराधिकार में प्राप्त कर लिया था और वाद फाइल किए जाने की तारीख तक वह इसके निरंतर अधिभोग में रह रहा है।

8. प्रत्यर्थी के अनुसार, वाद फाइल किए जाने की आवश्यकता उद्भूत हुई है क्योंकि उसे यह कुछ आशंका थी कि अपीलार्थी-नगर पालिका ने नगर पालिका क्षेत्र में नगर पालिका से संबंधित भूमि से कुछ अतिक्रमणकर्ताओं की बेदखली कर रही थी, उसे भी वाद भूमि के अतिक्रमणकर्ता के रूप में मानते हुए प्रत्यर्थी द्वारा बेदखल किया जा सकता है। यही कारण था, जिससे प्रत्यर्थी ने पट्टा, जो अपीलार्थी के हक-पूर्वाधिकारी के पक्ष में पहले ही मंजूर हो चुका था, के आधार पर वाद भूमि के संबंध में अपीलार्थी के विरुद्ध स्थायी व्यादेश की ईप्सा करते हुए सिविल वाद फाइल किया।

9. अपीलार्थी ने अपना लिखित कथन फाइल किया। प्रत्यर्थी के दावे से इनकार करते हुए, अपीलार्थी ने अन्य बातों के साथ यह अभिकथित किया कि प्रत्यर्थी के दादा को कुछ भूमि दी गई थी, उक्त भूमि के संबंध में इस प्रकार दिए गए अनुदान को रद्द कर दिया गया था और प्राप्त धन को भी उसे वापस कर दिया गया था, यह कि वाद भूमि, नगर पालिका भूमि है और प्रत्यर्थी ने नगर पालिका के कुछ कर्मचारियों की सहायता से अप्राधिकृत तौर पर वाद भूमि को अपने पक्ष में आबंटित करा लिया है और अंतिम तौर पर, वाद भूमि की लोक प्रयोजन के लिए आवश्यक है।

10. विवाद्यक विरचित किए गए। पक्षकारों ने साक्ष्य प्रस्तुत किया।

विचारण न्यायालय ने तारीख 6 सितम्बर, 1988 के निर्णय द्वारा वाद खारिज कर दिया। प्रत्यर्थी (वादी) ने इससे व्यथित होकर प्रथम अपील न्यायालय के समक्ष प्रथम अपील फाइल की। प्रथम अपील न्यायालय ने तारीख 17 अप्रैल, 1989 के निर्णय/डिक्री द्वारा अपील मंजूर कर लिया और विचारण न्यायालय के निर्णय/डिक्री को अपास्त करते हुए, प्रत्यर्थी के वाद को डिक्री कर दिया और तदनुसार, प्रत्यर्थी द्वारा यथाप्रार्थित वाद भूमि के संबंध में अपीलार्थी के विरुद्ध स्थायी व्यादेश मंजूर कर लिया।

11. प्रथम अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रत्यर्थी के दादा को अपीलार्थी द्वारा वाद भूमि के संबंध में पट्टा मंजूर किया गया था और यह कि अपीलार्थी यह साबित करने में असफल रहा है कि इसे रद्द कर दिया गया था और प्रत्यर्थी के पूर्वाधिकारी को इसके अनुसरण में रकम वापस कर दिया गया था और यह कि मंजूर पट्टा वाद भूमि के संबंध में था और यह कि प्रत्यर्थी वाद भूमि के कब्जे में था।

12. अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के समक्ष द्वितीय अपील फाइल की। उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा अपील खारिज कर दिया और प्रथम अपील न्यायालय के निर्णय/डिक्री को कायम रखते हुए प्रतिवादी अर्थात् नगर पालिका द्वारा इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत के माध्यम से वर्तमान अपील फाइल करने का अवसर दिया।

13. अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल श्री पुनीत जैन और प्रत्यर्थी के विद्वान् काउंसेल श्री दुष्यंत पाराशर को सुना।

14. पक्षकारों के विद्वान् काउंसेल को सुना और मामले के अभिलेखों का परिशीलन किया, हम इस अपील में कोई गुणागुण नहीं पाते हैं।

15. यह ऐसा मामला है, जिसमें विधि का कोई प्रश्न अंतर्वलित नहीं है, कम से कम विधि का ऐसा कोई सारवान् प्रश्न अंतर्वलित नहीं है जिससे यह कहा जा सके कि इसमें लोक महत्व से संबंधित कोई प्रश्न अंतर्वलित है।

16. जब दोनों न्यायालयों अर्थात् प्रथम अपील न्यायालय और उच्च न्यायालय ने इस अपील में कोई गुणागुण नहीं पाया और तथ्य के निष्कर्षों की पुष्टि कर दी है तो हमारी राय में, ऐसे समवर्ती निष्कर्ष इस न्यायालय पर आबद्धकर है।

17. इतना ही नहीं, ऐसे निष्कर्ष न तो अभिवचनों के विरुद्ध पाए गए

हैं न ही साक्ष्यों या विधि के उपबंधों के विरुद्ध पाए गए हैं और न ही इसे इस सीमा तक अनुचित पाया गया है कि कोई भी न्यायिक व्यक्ति कभी भी इस प्रकार अभिलिखित नहीं कर सकता है ।

18. यह विवादित नहीं है कि अब कोई भी यह कह सकता है कि प्रत्यर्थी के हक-पूर्वाधिकारी को संदाय करने पर वाद भूमि के संबंध में पट्टा मंजूर किया गया था । यह भी विवादित नहीं है कि प्रत्यर्थी, मूल आबंटी का पौत्र है । यह भी विवादित नहीं है कि अपीलार्थी (प्रतिवादी) ने यद्यपि, यह आधार लिया है कि प्रश्नगत पट्टा रद्द कर दिया गया था और धन वापस कर दिया गया था किन्तु अपीलार्थी ने किसी भी साक्ष्य से इसे साबित नहीं कर सका है । यह भी विवादित नहीं है कि यद्यपि, अपीलार्थी ने यह आधार लिया है कि प्रत्यर्थी के हक-पूर्वाधिकारी को मंजूर पट्टा वाद भूमि से संबंधित नहीं है, अपितु किसी अन्य भूमि से संबंधित है, किन्तु अपीलार्थी किसी साक्ष्य की सहायता से इस तथ्य को भी साबित करने में असफल रहा है ।

19. हमारे मत में, अपीलार्थी द्वारा लिए गए पूर्वोक्त आधारों को अपीलार्थी द्वारा साबित किया जाना अपेक्षित था क्योंकि इन तथ्यों को साबित करने का भार उन पर था किन्तु वे उद्भूत विवादकों में से किसी को भी साबित करने में असफल रहे हैं ।

20. हमारी राय में, प्रत्यर्थी (वादी) ने साक्ष्यों अर्थात् प्रथमदृष्ट्या वाद, सुविधा का संतुलन और अपूरणीय हानि और क्षति की सहायता से स्थायी व्यादेश मंजूर करने के लिए सभी तीनों आवश्यक अवयवों को साबित करने में समर्थ रहा है, यदि उसे व्यादेश मंजूर किया जाता है । चूंकि प्रत्यर्थी वाद भूमि का पट्टा धारित करता है, इसलिए, उसके पक्ष में प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है । द्वितीयतः, उसे वाद भूमि के कब्जे में होना भी अभिनिर्धारित किया गया है और अतएव, अन्य दोनों अवयवों अर्थात् सुविधा का संतुलन और अपूरणीय हानि और क्षति भी उसके पक्ष में साबित होते हैं । हमारे मत में, इन कारणों से भी वादी को वाद भूमि के संबंध में, अपीलार्थी (प्रतिवादी) के विरुद्ध सही ही स्थायी व्यादेश का दावा करने के लिए हकदार होना अभिनिर्धारित किया गया है ।

21. इसलिए, हम, दोनों निचले न्यायालयों द्वारा अभिलिखित तथ्यात्मक निष्कर्षों में हस्तक्षेप करने का कोई आधार नहीं पाते हैं न ही हम अपीलार्थी के विद्वान् काउंसेल के किसी भी तर्कों में कोई गुणागुण पाते हैं जो मात्र तथ्य और साक्ष्य पर आधारित हों ।

22. यह न्यायालय, इस अपील की सुनवाई करते समय “नए सिरे से” पुनः साक्ष्य का मूल्यांकन नहीं कर सकता है। यद्यपि यह अनुज्ञेय नहीं है, फिर भी हम जांच करने के पश्चात् आक्षेपित निर्णय में हस्तक्षेप करने के लिए कोई त्रुटि नहीं पाते हैं। तथापि, हम इसमें कुछ नहीं पाते हैं।

23. पूर्ववर्ती चर्चा के प्रकाश में हम, इस अपील में कोई गुणागुण नहीं पाते हैं, जो असफल होती है और तदनुसार इसे खारिज किया जाता है।

अपील खारिज की गई।

क.

[2018] 1 उम. नि. प. 287

हिमांगी इंटरप्राइजेज

बनाम

कमलजीत सिंह अहलूवालिया

12 अक्टूबर, 2017

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति अभय मनोहर साप्रे

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 133 [सपठित माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 की धारा 8 और संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882] – सिविल अपील – किसी करार से उद्भूत होने वाले विवादक – करार में माध्यस्थम् खंड अंतर्विष्ट होना – करार की विधिमान्यता समाप्त होना – यदि करार करते समय भविष्य में उससे उद्भूत होने वाले विवादक के बारे में, कोई माध्यस्थम् खंड अंतर्विष्ट है तो उस विवादक को मध्यस्थ के पास तभी तक निर्दिष्ट किया जा सकता है जब तक कि ऐसे करार की विधिमान्यता बनी रहती है, अन्यथा नहीं।

वर्तमान मामले में, विचार के लिए उद्भूत प्रश्न यह हैं कि क्या दोनों निचले न्यायालय, इसमें के अपीलार्थी द्वारा माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 (जिसे इसमें इसके पश्चात् “अधिनियम” कहा गया है) की धारा 8 के अधीन फाइल आवेदन को नामंजूर करने में न्यायोचित थे जो प्रश्नगत परिसर से अपीलार्थी के बेदखली की ईप्सा करते हुए और इसमें कुछ आनुषंगिक अनुतोषों का दावा करते हुए प्रत्यर्थी द्वारा फाइल सिविल वाद में लंबित थे। सिविल वाद में, अपीलार्थी, प्रतिवादी है जबकि प्रत्यर्थी,

वादी है जिससे यह अपील उद्भूत हुई है। प्रत्यर्थी ने अपर जिला न्यायाधीश-05, दक्षिण-पूर्व जिला, साकेत, नई दिल्ली के न्यायालय में तारीख 17 अगस्त, 2015 को अपीलार्थी के विरुद्ध 2016 की सिविल वाद सं. 132 फाइल की है। यह वाद, ब्लॉक सं. 14, नॉन-हायराकी कामर्शियल सेंटर, जिला सेंटर जसोला, नई दिल्ली में स्थित “ओमैक्स स्क्वायर” के रूप में ज्ञात कामर्शियल कम्प्लेक्स में द्वितीय फ्लोर में स्थित लगभग 317.29 वर्ग फीट माप के दुकान सं. एस. एफ. - 2 (जिसे इसमें इसके पश्चात् “वाद परिसर” कहा गया है) से अपीलार्थी की बेदखली और असंदत्त बकाया किराया की वसूली तथा स्थायी व्यादेश मंजूर करने की ईप्सा करते हुए फाइल किया गया है। प्रत्यर्थी के अनुसार, वाद परिसरों को तारीख 7 अक्टूबर, 2010 से 3 वर्षों की अवधि के लिए अपीलार्थी और प्रत्यर्थी के हक-पूर्वाधिकारी के बीच निष्पादित तारीख 31 अगस्त, 2010 के पट्टा द्वारा अपीलार्थी को दिया गया था। पट्टा विलेख में पट्टा अवधि अनुध्यात थी, तथापि, समय बीतने के साथ समाप्त हो गई थी और इसके पश्चात् समयावधि का विस्तार करने के लिए पक्षकारों के बीच कोई नया पट्टा विलेख निष्पादित नहीं हुआ था। अपीलार्थी की किराएदारी, माहवार थी और प्रत्येक माह के 1 तारीख से आरंभ होती थी और प्रत्येक महीने के अंतिम दिन समाप्त होती थी। अपीलार्थी ने सिविल वाद की नोटिस तामील होने पर, अधिनियम, 1996 की धारा 8 के अधीन एक आवेदन फाइल किया। अपीलार्थी के अनुसार, चूंकि वाद तारीख 31 अगस्त, 2010 के पट्टा विलेख पर आधारित था, जिसमें पक्षकारों के बीच पट्टा विलेख से उद्भूत होने वाले विवादक को हल करने के लिए माध्यस्थम् खंड (9.8) अंतर्विष्ट था और स्वीकृततः विवादक वाद परिसरों के संबंध में उद्भूत हुआ था, जो पट्टा विलेख के निबंधनों द्वारा शासित थे। यह दलील दी गई कि इसलिए, वाद परिसरों के संबंध में अनुतोषों का दावा करते हुए फाइल सिविल वाद कायम रखे जाने योग्य नहीं है और वस्तुतः वर्जित है और प्रत्यर्थी को ऐसे विवादक को हल करने के लिए उपचार के संबंध में स्वयमेव पट्टा विलेख के खंड 9.8 में विहित प्रक्रिया का अवलंब लेते हुए मध्यस्थ की अधिकारिता में निवेदन करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, अपने आवेदन के समर्थन में अपीलार्थी की दलील यह थी कि चूंकि विवादक, जिसके लिए सिविल वाद फाइल की गई है, तारीख 31 अक्टूबर, 2010 के पट्टा विलेख से उद्भूत हुए हैं, जिसमें मध्यस्थ के माध्यम से न्यायनिर्णयन कराने के लिए माध्यस्थम् खंड (9.8) अंतर्विष्ट है, इसलिए, ऐसे विवादकों को हल करने के लिए सिविल न्यायालय द्वारा विनिश्चय हेतु

सिविल वाद फाइल करना वर्जित है। विचारण न्यायालय ने तारीख 11 अप्रैल, 2016 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी के आक्षेपों को कायम रखा और अपीलार्थी के आवेदन को खारिज कर दिया। प्रत्यर्थी ने इससे व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की। आक्षेपित निर्णय द्वारा उच्च न्यायालय ने अपील खारिज कर दी। इससे व्यथित होकर वर्तमान अपील फाइल की गई। न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – न्यायालय को यह अभिनिर्धारित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि दोनों निचले न्यायालय, अधिनियम, 1996 की धारा 8 के अधीन फाइल अपीलार्थी के आवेदन को खारिज करने में सही थे और वे तद्द्वारा यह अभिनिर्धारित करने में न्यायानुमत थे कि प्रत्यर्थी द्वारा फाइल सिविल वाद, वादपत्र में दावाकृत अनुतोषों को मंजूर करने के लिए कायम रखे जाने योग्य है, बावजूद इसके कि पक्षकारों के बीच ऐसे विवादों को मध्यस्थ द्वारा विनिश्चित किए जाने के लिए सहमति हुई थी। तथापि, अपीलार्थी के विद्वान् काउंसिल ने यह तर्क दिया कि दिल्ली किराया अधिनियम, 1955 के उपबंध, अधिनियम, 1996 की धारा 3(ग) को ध्यान में रखते हुए, परिसरों में लागू नहीं होते हैं और अतएव, पूर्वोक्त दोनों मामलों में अधिकथित विधि लागू नहीं होती है। न्यायालय सहमत नहीं है। दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1955 जो परिसरों के किराए और बेदखली से संबंधित मामलों पर विचार करता है, एक विशेष अधिनियम है। यद्यपि, इसे (धारा 3) ध्यान में रखते हुए, जो उपबंध इसमें अंतर्विष्ट है, अधिनियम के उपबंध कतिपय परिसरों में लागू नहीं होते हैं, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि माध्यस्थम् अधिनियम, 1996 स्वतः ही ऐसे परिसरों को लागू नहीं होगी जिनके संबंध में, बेदखली/किराया से संबंधित विवादों का विनिश्चय करने के लिए मध्यस्थ को अधिकारिता प्रदान की गई है। ऐसी स्थिति में, पक्षकारों के अधिकार और पट्टाधृत परिसर, संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 द्वारा शासित होंगे और सिविल वाद, सिविल न्यायालय द्वारा विचारण करने योग्य होंगे न कि मध्यस्थ द्वारा विचारण करने योग्य होंगे। न्यायालय, अपीलार्थी के विद्वान् काउंसिल द्वारा अपनी दलील के समर्थन में उद्धृत विनिश्चयों का परिशीलन किया है, उनका परिशीलन करने के पश्चात् न्यायालय की यह सुविचारित राय है कि प्रथमतः, उच्च न्यायालय द्वारा कुछ विनिश्चय दिए गए हैं, द्वितीयतः, शेष विनिश्चय, तथ्यों पर विभेदनीय है और अंततः, इस न्यायालय के दोनों प्रमाणिक विनिश्चयों के प्रकाश में, जो प्रत्यक्षतः इस मुद्दे पर हैं और इस विषय पर निरंतर अभिनिर्धारित किए गए हैं, अपीलार्थी के विद्वान् काउंसिल

द्वारा उच्च न्यायालय के किसी विनिश्चय का अवलंब नहीं लिया जा सकता है। वस्तुतः, उच्च न्यायालय का ऐसा कोई विनिश्चय जो इस न्यायालय के मत के प्रतिकूल है, उन्हें उलटा जाता है। (पैरा 24, 25, 26 और 27)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

[2013]	(2013) 3 महाराष्ट्र ला जर्नल 250 : खादी और ग्राम उद्योग आयोग बनाम सरस्वती रामकृष्ण डालमिया और अन्य ;	15
[2012]	(2012) एस. सी. सी., पी. एंड एच. 11449 : मै. लवली आब्सेशन्स प्रा. लि. गुड़गांव बनाम मै. सहारा इंडिया कामर्शियल कार्पोरेशन लि. गुड़गांव ;	15
[2012]	आई. एल. आर. (2012) II दिल्ली, 770 : अंजुमन तारकी उर्दू (हिन्द) बनाम वर्द्धमान यार्न्स एंड थ्रीड्स लि. ;	15
[2012]	(2012) 2 एस. सी. सी. 93 : रेवा इलेक्ट्रिक कार कंपनी प्रा. लि. बनाम ग्रीन मोबाइल ;	15
[2011]	(2011) 5 एस. सी. सी. 532 : बूज एलेन एंड हमिल्टन इंश्योरेंस कंपनी बनाम एस. बी. आई. होम फाइनेंस लि. और अन्य ;	18,23
[2004]	(2004) 9 एस. सी. सी. 780 : हरिशचंद्र हेगड़े बनाम कर्नाटक राज्य और अन्य ;	15
[1981]	(1981) 1 एस. सी. सी. 523 : नटराज स्टूडियो (प्रा.) लि. बनाम नवरंग स्टूडियो और एक अन्य ।	18,19

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2017 की सिविल अपील सं. 16850.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से

श्रीमती गीता लुथरा, ज्येष्ठ
अधिवक्ता, सुश्री सुप्रिया जुनेजा, सुश्री
शिवानी लोहिया श्री अल्लमीश और
श्री भरत मोंगा, अधिवक्तागण

प्रत्यर्थी की ओर से

सर्वश्री ध्रुव मेहता, ज्येष्ठ अधिवक्ता,
प्रीत पाल सिंह और पलस अग्रवाल,
अधिवक्तागण

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर साप्रे ने दिया ।

न्या. साप्रे – विलम्ब माफ किया जाता है । इजाजत दी जाती है ।

2. यह अपील, प्रतिवादी ने दिल्ली उच्च न्यायालय, नई दिल्ली द्वारा 2016 की एफ. ए. ओ. सं. 344 में पारित तारीख 27 जुलाई, 2017 के अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की है जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने इसमें के अपीलार्थी द्वारा फाइल अपील को खारिज कर दिया था और अपर जिला न्यायाधीश-05, दक्षिण-पूर्व जिला, साकेत न्यायालय, नई दिल्ली द्वारा 2016 की सिविल वाद सं. 132 में पारित तारीख 11 अप्रैल, 2016 के आदेश को कायम रखा था ।

3. अपील में अंतर्वलित प्रश्न संक्षिप्त है । यह जिन तथ्यों पर उद्भूत हुआ है, उन्हें संक्षेप में दिया जाता है ।

4. प्रश्न जो इस अपील में विचार के लिए उद्भूत हुए हैं, यह हैं कि क्या दोनों निचले न्यायालय, इसमें के अपीलार्थी द्वारा माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 (जिसे इसमें इसके पश्चात् “अधिनियम” कहा गया है) की धारा 8 के अधीन फाइल आवेदन को नामंजूर करने में न्यायोचित थे जो प्रश्नगत परिसर से अपीलार्थी के बेदखली की ईप्सा करते हुए और इसमें कुछ आनुषंगिक अनुतोषों का दावा करते हुए प्रत्यर्थी द्वारा फाइल सिविल वाद में लंबित थे ।

5. सिविल वाद में, अपीलार्थी, प्रतिवादी है जबकि प्रत्यर्थी, वादी है जिससे यह अपील उद्भूत हुई है ।

6. प्रत्यर्थी ने अपर जिला न्यायाधीश-05, दक्षिण-पूर्व जिला, साकेत, नई दिल्ली के न्यायालय में तारीख 17 अगस्त, 2015 को अपीलार्थी के विरुद्ध 2016 की सिविल वाद सं. 132 फाइल की है ।

7. यह वाद, ब्लॉक सं. 14, नॉन-हायराकी कामर्शियल सेंटर, जिला सेंटर जसोला, नई दिल्ली में स्थित “ओमैक्स स्क्वायर” के रूप में ज्ञात कामर्शियल कम्प्लेक्स में द्वितीय फ्लोर में स्थित लगभग 317.29 वर्ग फीट माप के दुकान सं. एस. एफ.-2 (जिसे इसमें इसके पश्चात् “वाद परिसर” कहा गया है) से अपीलार्थी की बेदखली और असंदत बकाया किराया की

वसूली तथा स्थायी व्यादेश मंजूर करने की ईप्सा करते हुए फाइल किया गया है ।

8. प्रत्यर्थी के अनुसार, वाद परिसरों को तारीख 7 अक्टूबर, 2010 से 3 वर्षों की अवधि के लिए अपीलार्थी और प्रत्यर्थी के हक-पूर्वाधिकारी के बीच निष्पादित तारीख 31 अगस्त, 2010 के पट्टा द्वारा अपीलार्थी को दिया गया था । पट्टा विलेख में पट्टा अवधि अनुध्यात थी, तथापि, समय बीतने के साथ समाप्त हो गई थी और इसके पश्चात् समयावधि का विस्तार करने के लिए पक्षकारों के बीच कोई नया पट्टा विलेख निष्पादित नहीं हुआ था । अपीलार्थी की किराएदारी, माहवार थी और प्रत्येक माह के 1 तारीख से आरंभ होती थी और प्रत्येक महीने के अंतिम दिन समाप्त होती थी ।

9. अपीलार्थी ने सिविल वाद की नोटिस तामील होने पर, अधिनियम 1996 की धारा 8 के अधीन एक आवेदन फाइल किया । अपीलार्थी के अनुसार, चूंकि वाद तारीख 31 अगस्त, 2010 के पट्टा विलेख पर आधारित था, जिसमें पक्षकारों के बीच पट्टा विलेख से उद्भूत होने वाले विवादक को हल करने के लिए माध्यस्थम् खंड (9.8) अंतर्विष्ट था और स्वीकृततः विवादक वाद परिसरों के संबंध में उद्भूत हुआ था, जो पट्टा विलेख के निबंधनों द्वारा शासित थे । यह दलील दी गई कि इसलिए, वाद परिसरों के संबंध में अनुतोषों का दावा करते हुए फाइल सिविल वाद कायम रखे जाने योग्य नहीं है और वस्तुतः वर्जित है और प्रत्यर्थी को ऐसे विवादक को हल करने के लिए उपचार के संबंध में स्वयमेव पट्टा विलेख के खंड 9.8 में विहित प्रक्रिया का अवलंब लेते हुए मध्यस्थ की अधिकारिता में निवेदन करना चाहिए ।

10. दूसरे शब्दों में, अपने आवेदन के समर्थन में अपीलार्थी की दलील यह थी कि चूंकि विवादक, जिसके लिए सिविल वाद फाइल की गई है, तारीख 31 अक्टूबर, 2010 के पट्टा विलेख से उद्भूत हुए हैं, जिसमें मध्यस्थ के माध्यम से न्यायनिर्णयन कराने के लिए माध्यस्थम् खंड (9.8) अंतर्विष्ट है, इसलिए, ऐसे विवादकों को हल करने के लिए सिविल न्यायालय द्वारा विनिश्चय हेतु सिविल वाद फाइल करना वर्जित है ।

11. प्रत्यर्थी ने आवश्यक तौर पर दो आधारों पर आवेदन का विरोध किया । प्रथमतः, पट्टा अवधि, पट्टा विलेख में आरंभतः नियत थी, जो समय बीतने के साथ समाप्त होनी थी, इसलिए, ऐसे पट्टा विलेख को अपीलार्थी द्वारा अब प्रवर्तित नहीं कराया जा सकता है और द्वितीयतः

विवादक, जो सिविल वाद की विषयवस्तु है, मध्यस्थ को निर्दिष्ट होने के नाते सक्षम नहीं है। यह दलील दी गई कि इसलिए, प्रत्यर्थी ने वाद परिसरों से अपीलार्थी की बेदखली और उससे उद्भूत होने वाले आनुषंगिक अनुतोषों की ईप्सा करते हुए, सिविल न्यायालय में सही ही वाद फाइल किया है और उसे विचारण न्यायालय द्वारा विचारित किया जाना है।

12. विचारण न्यायालय ने तारीख 11 अप्रैल, 2016 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थी के आक्षेपों को कायम रखा और अपीलार्थी के आवेदन को खारिज कर दिया। प्रत्यर्थी ने इससे व्यथित होकर उच्च न्यायालय के समक्ष अपील फाइल की।

13. आक्षेपित निर्णय द्वारा उच्च न्यायालय ने अपील खारिज कर दी और इस न्यायालय के समक्ष प्रतिवादी (इसमें का अपीलार्थी) द्वारा विशेष इजाजत अपील फाइल करने के लिए विचारण न्यायालय के आदेश को कायम रखा।

14. अपीलार्थी के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसल सुश्री गीता लुथरा और प्रत्यर्थी के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसल श्री ध्रुव मेहता को सुना।

15. यद्यपि, अपीलार्थी (प्रतिवादी) के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसल ने अपील में अंतर्वलित मुद्दे पर विस्तार से तर्क दिया और अंजुमन तारकी उर्दू (हिन्द) बनाम वर्द्धमान यार्न्स एंड थ्रीड्स लि.¹, मै. लवली आब्सेशन्स प्रा. लि. गुड़गांव बनाम मै. सहारा इंडिया कामर्शियल कार्पोरेशन लि. गुड़गांव², रेवा इलेक्ट्रिक कार कंपनी प्रा. लि. बनाम ग्रीन मोबाइल³, हरिशचंद्र हेगड़े बनाम कर्नाटक राज्य और अन्य⁴ तथा खादी और ग्राम उद्योग आयोग बनाम सरस्वती रामकृष्ण डालमिया और अन्य⁵ वाले मामलों के कतिपय विनिश्चयों को भी उद्धृत करते हुए, यह दलील दी कि अधिनियम, 1996 की धारा 8 के अधीन अपीलार्थी द्वारा फाइल आवेदन निचले न्यायालयों द्वारा मंजूर किया जाना चाहिए था और प्रत्यर्थी को सिविल न्यायालय द्वारा अवधारित करने के लिए सिविल वाद फाइल करने के बजाय मध्यस्थ द्वारा विवादकों का अवधारण करने के लिए पट्टा विलेख के खंड 9.8 के निबंधनों में मध्यस्थ के अधिकारिता आवेदन प्रस्तुत

¹ आई. एल. आर. (2012) II दिल्ली, 770.

² (2012) एस. सी. सी., पी. एंड एच. 11449.

³ (2012) 2 एस. सी. सी. 93.

⁴ (2004) 9 एस. सी. सी. 780.

⁵ (2013) 3 महाराष्ट्र ला जर्नल 250.

करने के लिए भेजा जाना चाहिए था ।

16. उत्तर में, प्रत्यर्थी (वादी) के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल ने आक्षेपित निर्णय का समर्थन किया और यह दलील दी कि इसमें किसी प्रकार के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है और इसलिए, अपील खारिज किए जाने योग्य है ।

17. पक्षकारों के विद्वान् ज्येष्ठ काउंसेल को विस्तारपूर्वक सुना और मामले के अभिलेखों का परीक्षण किया, हम मामले में कोई गुणागुण नहीं पाते हैं ।

18. हमारे सुविचारित राय में, अपील में अंतर्ग्रस्त प्रश्न “अनिर्णीत विषय” के रूप में अब नहीं रहा और **नटराज स्टूडियो (प्रा.) लि. बनाम नवरंग स्टूडियो और एक अन्य¹** तथा **बूज एलेन एंड हमिल्टन इंश्योरेंस कंपनी बनाम एस. बी. आई. होम फाइनेंस लि. और अन्य²** वाले मामलों में इस न्यायालय के दोनों विनिश्चयों के उत्तर अपीलार्थी के विरुद्ध जाता है और प्रत्यर्थी के पक्ष में जाता है ।

19. जहां तक, **नटराज स्टूडियो** (उपर्युक्त) वाले मामले का संबंध है, उसमें भी मकान मालिक ने पट्टाधृत परिसरों से किराएदार की बेदखली का दावा करते हुए, लघु वाद न्यायालय, बाम्बे में किराएदार के विरुद्ध सिविल वाद फाइल किया था । उसमें भी किराएदार की मकान मालिक और किराएदार के बीच निष्पादित करार “इजाजत और अनुज्ञप्ति” के अनुसरण में संलिप्तता थी ।

20. किराएदार ने माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 की धारा 8 के अधीन आवेदन फाइल करते हुए यह दलील दी है कि चूंकि करार “इजाजत और अनुज्ञप्ति” में करार “इजाजत और अनुज्ञप्ति” के संबंध में पक्षकारों के बीच उद्भूत होने वाले सभी प्रकार के विवादों को हल करने के लिए एक माध्यस्थम् खंड अंतर्विष्ट है और चूंकि करार “इजाजत और अनुज्ञप्ति” के संबंध में पक्षकारों के बीच विवादक उद्भूत हुआ है, अतएव, ऐसे विवादों को मात्र मध्यस्थ द्वारा ही हल किया जा सकता था जैसा कि करार में पक्षकारों द्वारा सहमति हुई थी । यह दलील दी गई कि इसलिए, सिविल वाद कायम रखे जाने योग्य नहीं है और विवादकों, जिसके लिए सिविल वाद फाइल किया गया है, को मध्यस्थ के पास न्यायनिर्णयन के लिए

¹ (1981) 1 एस. सी. सी. 523.

² (2011) 5 एस. सी. सी. 532.

निर्दिष्ट किया जाना चाहिए ।

21. न्यायालय (तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ) ने न्यायमूर्ति ओ. चिनप्पा रेड्डी के माध्यम से सकारण निर्णय देते हुए, किराएदार द्वारा अधिनियम, 1940 की धारा 8 के अधीन फाइल आवेदन को नामंजूर कर दिया और अन्य बातों के साथ यह अभिनिर्धारित किया कि मकान मालिक द्वारा फाइल सिविल वाद कायम रखे जाने योग्य है । यह अभिनिर्धारित किया कि ऐसी प्रकृति के विवादों को मध्यस्थ के पास निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता है ।

22. माननीय न्यायाधीशों द्वारा निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया है :—

“24. पूर्ववर्ती चर्चा और पूर्ववर्ती प्रमाणिकताओं के प्रकाश में, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि बाम्बे किराया, होटल और आवास-गृह दर नियंत्रण अधिनियम, 1947 की धारा 28 के कारण और हमारे द्वारा पूर्ववर्ती में उल्लिखित लोक नीति के बृहत्तर विचार करने के कारण और डेकन मर्वेन्ट्स को-ऑपरेटिव बैंक लि. बनाम दलीचंद जुगराज जैन वाले मामले में दिए गए विनिश्चय के कारण, लघु वाद न्यायालय और मध्यस्थ को इस प्रश्न का विनिश्चय करने की अधिकारिता नहीं है कि क्या प्रत्यर्थी-अनुज्ञापक मकान मालिक को अपीलार्थी-अनुज्ञप्तिधारी किराएदार से दोनों स्टूडियो और मशीन तथा उपकरणों सहित अन्य परिसरों का कब्जा प्राप्त करने की ईप्सा करने का हकदार है । पक्षकारों के बीच वास्तविक विवादक यह है कि जो माध्यस्थ अधिनियम, 1940 की धारा 8 के अधीन प्रत्यर्थी द्वारा बाम्बे उच्च न्यायालय के समक्ष फाइल याचिका से पूर्णतः स्पष्ट है, माध्यस्थ को निर्देश करने की ईप्सा की गई है । याचिका में पक्षकारों द्वारा नोटिसों की अदला-बदली करने का निर्देश दिया है, प्रत्यर्थी द्वारा अपीलार्थी को स्टूडियो का कब्जा सौंपने का निर्देश दिया गया है और अपीलार्थी ने स्टूडियो के संबंध में किराएदार या संरक्षित अनुज्ञप्तिधारी होने का दावा किया है । पक्षकारों के बीच अनुज्ञापक-मकान मालिक और अनुज्ञप्तिधारी किराएदार होने के नाते संबंध है और उनके बीच विवादक अनुज्ञप्त पट्टाधृत परिसरों के कब्जे से संबंधित विवादक है, इसलिए, इस निष्कर्ष से उन्हें कोई सहायता नहीं मिलती है कि पक्षकारों के बीच विवादक का न्यायनिर्णयन करने के लिए एकमात्र लघु वाद न्यायालयों को ही अधिकारिता है न कि मध्यस्थ को ही अधिकारिता है ।”

23. बूज एलेन एंड हमिल्टन इंश्योरेंस कंपनी (उपरोक्त) वाले एक अन्य मामले में भी इस न्यायालय (दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ) ने न्यायमूर्ति आर. वी. रविन्द्रन के माध्यम से इस प्रश्न की परीक्षा करने के पश्चात् कि कौन से मामले मध्यस्थ के न्यायनिर्णयन योग्य है और कौन से मामले मध्यस्थ के न्यायनिर्णयन योग्य नहीं है, सकारण निर्णय देते हुए, विधि की निम्नलिखित प्रतिपादना अधिकथित की है :-

“36. गैर-मध्यस्थ योग्य विवादों के सुस्थिर उदाहरण है – (i) अधिकारों और दायित्वों से संबंधित विवादक जो दांडिक अपराधों को उद्भूत करते हैं या जिनसे दांडिक अपराध उद्भूत होते हैं, (ii) विवाह-विच्छेद, न्यायिक पृथक्करण, दाम्पत्य अधिकारों का प्रत्यास्थापन, बाल अभिरक्षा से संबंधित वैवाहिक विवादक, (iii) संरक्षकता से संबंधित मामले, (iv) दिवालियापन और परिसमापन से संबंधित मामले, (v) वसियती मामले (प्रोबेट की मंजूरी, प्रशासनपत्र और उत्तराधिकार प्रमाणपत्र) तथा (vi) विशेष संविधियों द्वारा शासित बेदखली या किराएदारी मामले जहां किराएदार बेदखली के विरुद्ध कानूनी संरक्षक का उपभोग करता है और विनिर्दिष्ट न्यायालयों को ही बेदखली की मंजूरी या विवादकों को विनिश्चित करने के लिए अधिकारिता प्रदत्त की गई है।”

(रेखांकन जोर देने के लिए किया गया है)

24. पूर्वोक्त दोनों विनिश्चयों में इस न्यायालय द्वारा अधिकथित विधि को ध्यान में रखते हुए और इस मामले के तथ्यों में इसे लागू करते हुए, हमें यह अभिनिर्धारित करने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि दोनों निचले न्यायालय, अधिनियम, 1996 की धारा 8 के अधीन फाइल अपीलार्थी के आवेदन को खारिज करने में सही थे और वे तद्द्वारा यह अभिनिर्धारित करने में न्यायानुमत थे कि प्रत्यर्थी द्वारा फाइल सिविल वाद, वादपत्र में दावाकृत अनुतोषों को मंजूर करने के लिए कायम रखे जाने योग्य है, बावजूद इसके कि पक्षकारों के बीच ऐसे विवादकों को मध्यस्थ द्वारा विनिश्चित किए जाने के लिए सहमति हुई थी।

25. तथापि, अपीलार्थी के विद्वान् काउंसिल ने यह तर्क दिया कि दिल्ली किराया अधिनियम, 1955 के उपबंध, अधिनियम, 1996 की धारा 3(ग) को ध्यान में रखते हुए, परिसरों में लागू नहीं होते हैं और अतएव, पूर्वोक्त दोनों मामलों में अधिकथित विधि लागू नहीं होती है। हम सहमत नहीं हैं।

26. दिल्ली किराया नियंत्रण अधिनियम, 1955 जो परिसरों के किराए और बेदखली से संबंधित मामलों पर विचार करता है, एक विशेष अधिनियम है। यद्यपि, इसे (धारा 3) ध्यान में रखते हुए, जो उपबंध इसमें अंतर्विष्ट है, अधिनियम के उपबंध कतिपय परिसरों में लागू नहीं होते हैं, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि माध्यस्थ अधिनियम, 1996 स्वतः ही ऐसे परिसरों को लागू नहीं होगी जिनके संबंध में, बेदखली/किराया से संबंधित विवादों का विनिश्चय करने के लिए मध्यस्थ को अधिकारिता प्रदान की गई है। ऐसी स्थिति में, पक्षकारों के अधिकार और पट्टाधृत परिसर, संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 द्वारा शासित होंगे और सिविल वाद, सिविल न्यायालय द्वारा विचारण करने योग्य होंगे न कि मध्यस्थ द्वारा विचारण करने योग्य होंगे। दूसरे शब्दों में, अधिनियम, 1955 के उपबंध, अधिनियम, 1996 की धारा 3 के उपबंधों में, कतिपय परिसरों में लागू नहीं होंगे, किन्तु इसके विशिष्ट परिसरों में लागू होने के संबंध में प्रत्याहरण या समाप्त होने के कोई उदाहरण नहीं हैं, अधिनियम, 1996 ऐसे परिसरों में लागू हो सकते हैं। मामले के इस मत को ध्यान में रखते हुए, यह दलील नहीं दी जा सकती है कि इसलिए, माध्यस्थ अधिनियम, 1996 के उपबंध ऐसे परिसरों में लागू नहीं होंगे।

27. हमने, अपीलार्थी के विद्वान् काउंसिल द्वारा अपनी दलील के समर्थन में उद्धृत विनिश्चयों का परिशीलन किया है, उनका परिशीलन करने के पश्चात् हमारी यह सुविचारित राय है कि प्रथमतः, उच्च न्यायालय द्वारा कुछ विनिश्चय दिए गए हैं, द्वितीयतः, शेष विनिश्चय, तथ्यों पर विभेदनीय है और अंततः, इस न्यायालय के दोनों प्रमाणिक विनिश्चयों के प्रकाश में, जो प्रत्यक्षतः इस मुद्दे पर हैं और इस विषय पर निरंतर अभिनिर्धारित किए गए हैं, अपीलार्थी के विद्वान् काउंसिल द्वारा उच्च न्यायालय के किसी विनिश्चय का अवलंब नहीं लिया जा सकता है। वस्तुतः, उच्च न्यायालय का ऐसा कोई विनिश्चय जो इस न्यायालय के मत के प्रतिकूल है, उन्हें उलटा जाता है। यहां ऐसा ही मामला है।

28. इसलिए, हमारी राय में, अपीलार्थी के विद्वान् काउंसिल द्वारा दिए गए ऐसे किसी निवेदन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है, जो वस्तुतः हमारे द्वारा उपर्युक्त अभिनिर्धारण के प्रकाश में उद्भूत नहीं हुआ है।

29. पूर्ववर्ती चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हम, इस अपील में कोई गुणागुण नहीं पाते हैं, अतएव, यह असफल होती है और तदनुसार, इसे खारिज किया जाता है।

30. तदनुसार, हम संबंधित सिविल न्यायालय को जिसने इसमें हमारे द्वारा व्यक्त मताभिव्यक्तियों की अवहेलना करते हुए, विधि के अनुसरण में गुणागुण पर वाद का विचारण करने की सिविल वाद को बंद कर दिया था, यह निर्देश देते हैं कि वह तत्पश्चात्पूर्वक उसका विचारण करे।

अपील खारिज की गई।

क.

[2018] 1 उम. नि. प. 298

बिमल किशोर पालीवाल और अन्य

बनाम

धन-कर आयुक्त

13 अक्टूबर, 2017

न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी और न्यायमूर्ति अशोक भूषण

धन-कर अधिनियम, 1957 (1957 का 27) — धारा 7 और 16क — चालू कारबार के मामलों में संपत्ति का मूल्यांकन — निर्धारण अधिकारी द्वारा विभागीय मूल्यांकन अधिकारी को निर्देश — धन-कर अधिकारी चालू कारबार के मामलों में धारा 7(1) में उपबंधित आस्तियों के प्राक्कलित मूल्य के आधार पर मूल्यांकन की प्रसामान्य पद्धति के बजाय धारा 7(2)(क) में यथा उपबंधित संपूर्ण कारबार की आस्तियों के शुद्ध मूल्य का अवधारण करके मूल्यांकन करने की शक्ति एक वैवेकिक और सामर्थ्यकारी शक्ति है तथा धन-कर अधिकारी सभी मामलों में आज्ञापक रूप से इस पद्धति को अपनाने के लिए आबद्ध नहीं है, अतः निर्धारण अधिकारी द्वारा चालू सिनेमा कारबार की आस्तियों का उक्त पद्धति के आधार पर निर्धारण करना उचित था।

मामले के तथ्यों के अनुसार, मैसर्स जी. डी. एंड संस, जिसकी फर्म में अपीलार्थी भागीदार हैं, ने तारीख 4 जून, 1965 को भूमि सहित अर्द्ध-निर्मित अवस्था में एक भवन खरीदा था। भवन का निर्माण पूरा किया गया और इसमें सिनेमा थियेटर, अल्पना ने काम करना आरंभ कर दिया। अल्पना सिनेमा की संपत्ति का मूल्यांकन लेखा-बहियों के निर्धारण द्वारा किया गया। भागीदारों में से एक के धन-कर का निर्धारण लंबित रहने पर

धन-कर अधिकारी ने अल्पना सिनेमा का मूल्यांकन करने के लिए विभागीय मूल्यांकन अधिकारी, नई दिल्ली को एक निर्देश किया। मूल्यांकन अधिकारी ने स्थल का निरीक्षण करने के पश्चात् निर्धारण वर्ष 1970-1971, 1972-1973, 1973-1974 और 1974-1975 के लिए संपत्ति का मूल्यांकन करते हुए अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। धन-कर अधिनियम, 1957 की धारा 17 के अधीन तारीख 30 मार्च, 1979 को अपीलार्थियों को सूचनाएं जारी की गईं। निर्धारितियों ने एक अनुमोदित मूल्यांकक से आय पूंजीकरण पद्धति अपनाते हुए संपत्ति का मूल्यांकन कराया। धन-कर अधिकारी द्वारा वर्ष 1970-71 से 1974-75 की अवधि के लिए निर्धारण करते हुए मार्च, 1983 में निर्धारण आदेश पारित किया गया। फर्म में भिन्न-भिन्न निर्धारितियों के अधिकार की प्रतिशतता के अनुसार निर्धारण पूर्ण किया गया था। निर्धारण अधिकारी ने विभागीय मूल्यांकक द्वारा प्रस्तुत की गई मूल्यांकन रिपोर्ट का अवलंब लिया। निर्धारितियों ने निर्धारण आदेश से व्यथित होकर सहायक धन-कर आयुक्त अपील के समक्ष अपील फाइल की। अपील प्राधिकारी ने निर्धारण अधिकारी द्वारा भूमि और भवन पद्धति से किए गए मूल्यांकन के आधार पर निर्धारण की अभिपुष्टि की और निर्धारितियों द्वारा अवलंब ली गई आय पूंजीकरण पद्धति का अनुमोदन नहीं किया गया। निर्धारितियों ने व्यथित होकर आय-कर अपील अधिकरण, दिल्ली न्यायपीठ, दिल्ली के समक्ष धन-कर अपील फाइल की। आय-कर अपील अधिकरण ने निर्धारितियों का यह पक्षकथन स्वीकार किया कि सिनेमा भवन का मूल्यांकन करने के लिए आय का पूंजीकरण समुचित आधार होगा। आय-कर अपील अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि भवन का उपयोग केवल फिल्म का प्रदर्शन करने के लिए किया जा सकता है और इसका उपयोग किसी अन्य प्रयोजन के लिए नहीं किया जा सकता है, इसलिए इसके मूल्यांकन की पद्धति आवश्यक रूप से उस पद्धति से भिन्न होनी चाहिए जो प्रसामान्यतः उन भवनों के मामले में अपनाई जाती है जिनका वाणिज्यिक भवनों के रूप में उपयोग किया जा सकता है। राजस्व विभाग ने अधिकरण के आदेश से व्यथित होकर विभाग की मार्फत निर्देश आवेदन फाइल किया। यद्यपि, प्रारंभ में अधिकरण द्वारा यह आवेदन नामंजूर कर दिया गया, किंतु उच्च न्यायालय के निदेश पर दो प्रश्न विनिश्चय करने के लिए निर्दिष्ट किए गए। उच्च न्यायालय ने तारीख 21 अक्टूबर, 2015 के अपने निर्णय और आदेश द्वारा प्रश्नों का उत्तर राजस्व विभाग के पक्ष में और निर्धारितियों के विरुद्ध दिया। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि धन-कर अधिकारी द्वारा भूमि और भवन पद्धति अपनाया जाना न्यायोचित था। उच्च न्यायालय के निर्णय से

व्यथित होकर निर्धारितियों ने उच्चतम न्यायालय में अपीलें फाइल कीं । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित — प्रस्तुत मामला, ऐसा है जहां निर्धारण अधिकारी ने अल्पना सिनेमा के लिए तारीख 29 अप्रैल, 1976 को एक निर्देश किया था । अभिलेख पर यह भी आया है कि मूल्यांकन अधिकारी को किए गए निर्देश आदेश को निर्धारिती द्वारा दिल्ली उच्च न्यायालय में रिट याचिका फाइल करके चुनौती दी गई थी । अपील प्राधिकारी ने अपने आदेश में निर्धारण अधिकारी द्वारा मूल्यांकन अधिकारी को किए गए निर्देश को दी गई चुनौती के बारे में उल्लेख किया है । अभिलेख पर ऐसा कुछ नहीं है कि अल्पना सिनेमा का मूल्यांकन करने के लिए निर्धारण अधिकारी द्वारा विभागीय मूल्यांकक को निर्देशित करने वाले आदेश में दिल्ली उच्च न्यायालय ने हस्तक्षेप किया था । यह सही है कि धारा 7 की उपधारा (2) सर्वोपरि खंड से आरंभ होती है, जिसमें धन-कर अधिकारी को ऐसे कारबार में निर्धारिती द्वारा धृत हर एक आस्ति का मूल्य पृथक्त्तः अवधारित करने के बजाय समस्त कारबार की आस्तियों के शुद्ध मूल्य का अवधारण करने के लिए समर्थ बनाया गया है । उपधारा (2) की भाषा में धन-कर अधिकारी की ऐसे कारबार के तुलनपत्र को ध्यान में रखते हुए कारबार के शुद्ध मूल्य का अवधारण करने की अध्यारोही शक्ति का उपबंध किया गया है । धन-कर अधिकारी को संपत्तियों का मूल्यांकन करने के प्रसामान्य नियम को अध्यारोही करने की सामर्थ्यकारी शक्ति दी गई है अर्थात् वह मूल्य जो खुले बाजार में उनके लिए प्राप्त हो सकेगा और धन-कर अधिकारी इस पद्धति को ऐसे मामले में, जहां वह इसे अपनाना उचित समझे, अपना सकता है । अपीलार्थियों की दलील यह है कि धारा 7(2)(क) एक स्वतंत्र उपबंध है और इसे उन सभी मामलों में लागू किया जाना चाहिए जहां निर्धारिती कोई कारबार कर रहा हो । यह न्यायालय उपरोक्त दलील से सहमत नहीं है । अध्यारोही शक्ति, धारा 7 की उपधारा (1) द्वारा संपत्ति का मूल्यांकन करने की प्रसामान्य पद्धति को अध्यारोही करने और उपधारा 2(क) में दी गई मूल्यांकन की पद्धति अपनाने के लिए धन-कर अधिकारी को सज्जित करने के लिए उपबंधित की गई है । अध्यारोही शक्ति देने का प्रयोजन और उद्देश्य विवेकाधिकार को नियंत्रित करना नहीं है । धन-कर अधिकारी उन सभी मामलों में, जहां निर्धारिती कोई कारबार कर रहा है, आज्ञापक रूप से धारा 7(2)(क) में उपबंधित पद्धति अपनाने के लिए आबद्ध नहीं है । उपधारा (2)(क) से यह उपदर्शित नहीं होता कि उपबंध धन-कर अधिकारी को चालू कारबार के सभी मामलों में इस पद्धति को

अपनाने की आज्ञा देते हों। न्यायालय द्वारा यह भी अधिकथित किया गया कि यह इस स्थिति के अतिरिक्त है कि स्वतः धारा 7(2) का अवलंब लेना वैवेकिक और वैकल्पिक है क्योंकि यह सामर्थ्यकारी उपबंध है। इस प्रकार न्यायालय ने स्पष्ट रूप से यह अधिकथित किया है कि किसी चालू कारबार के लिए धन-कर अधिकारी द्वारा धारा 7(2)(क) में अधिकथित पद्धति अपनाने हेतु धारा 7(2)(क) का अवलंब लेना वैवेकिक है और यह सामर्थ्यकारी उपबंध है किंतु उपरोक्त सामर्थ्यकारी शक्ति को निर्धारण अधिकारी द्वारा समुचित पद्धति अपनाने के अधिकार पर बाध्यता या बंधन के रूप में अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है। प्रस्तुत मामले में निर्धारण अधिकारी द्वारा धारा 7(3) के अधीन विभागीय मूल्यांकक को निर्देश किया गया था। इस प्रकार, विभागीय मूल्यांकक से रिपोर्ट प्राप्त करने का निर्धारण अधिकारी का विनिश्चय एक भानपूर्वक किया गया विनिश्चय है। उपरोक्त भानपूर्वक विनिश्चय में ही निर्धारण अधिकारी का धारा 7(2)(क) का अवलंब न लेने का विनिश्चय भी अंतर्विष्ट है। विभागीय मूल्यांकक की मूल्यांकन रिपोर्ट प्राप्त हुई थी जिसका निर्धारण अधिकारी द्वारा सुसंगत वर्ष में निर्धारिती का निर्धारण करने के लिए अवलंब लिया गया। अतः यह न्यायालय निर्धारण अधिकारी के भूमि और भवन पद्धति अपनाकर संपत्ति का उक्त पद्धति के आधार पर मूल्यांकन करने के लिए विभागीय मूल्यांकक को निर्देश करने वाले आदेश में कोई गलती नहीं पाता है। (पैरा 13, 14, 15 और 23)

अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउंसिल ने यह भी दलील दी है कि ऐसी स्थिति में, जहां कि आस्ति के मूल्यांकन की एक से अधिक पद्धति हों, वहां उस पद्धति को स्वीकार किया जाना चाहिए जिसके अधीन मूल्यांकन करना निर्धारिती के पक्ष में हो। इस न्यायालय द्वारा जो प्रतिपादना अधिकथित की गई है वह यह है कि यदि कर लगाने संबंधी कानून के दो युक्तियुक्त अर्थान्वयन संभव हो सकते हैं, तो उस अर्थान्वयन को, जो कि निर्धारिती के पक्ष में हो, अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। उपरोक्त प्रतिपादना का अनुशीलन यह अर्थ लगाने के लिए नहीं किया जा सकता कि मूल्यांकन की दो पद्धतियों के अधीन जो मूल्य निर्धारिती के पक्ष में हो उसे अपनाया जाना चाहिए। यहां प्रस्तुत मामले में, धारा 7 के उपबंध न तो अस्पष्ट हैं और न ही दो अर्थान्वयन किए जा सकते हैं। धन-कर अधिकारी ने संपत्ति के मूल्यांकन के लिए मामला विभागीय मूल्यांकक को निर्देशित किया था और मूल्यांकन के लिए निर्देश के परिणामस्वरूप रिपोर्ट पहले ही तारीख 26 जुलाई, 1977 को प्राप्त हो गई थी, जिसका

निर्धारण में अवलंब लिया गया था। अपील प्राधिकारी द्वारा मूल्यांकन रिपोर्ट के विरुद्ध आक्षेपों पर विचार किया गया था और उन्हें नामंजूर कर दिया गया था, इसलिए यह न्यायालय धन-कर अधिकारी द्वारा किए गए निर्धारण में कोई त्रुटि नहीं पाता है। न्यायालय का यह मत है कि उच्च न्यायालय ने आय-कर अपील अधिकरण के आदेश में हस्तक्षेप करके कोई गलती नहीं की है। (पैरा 28, 29 और 30)

निर्दिष्ट निर्णय

पैरा

- | | | |
|--------|--|----|
| [1984] | [1984] 3 उम. नि. प. 1 =
(1984) 145 आई. टी. आर. 485 :
जग्गीलाल कमलापत्त बैंकर्स और एक अन्य बनाम
धन-कर अधिकारी, विशेष सर्कल, सी-वार्ड कानपुर
और अन्य ; | 19 |
| [1973] | [1973] 2 उम. नि. प. 1207 =
(1973) 1 एस. सी. सी. 442 :
आय-कर आयुक्त, पश्चिमी बंगाल, कलकत्ता बनाम
मैसर्स वेजिटेबल्स प्रोडक्ट्स लि. ; | 28 |
| [1970] | [1970] 2 उम. नि. प. 827 =
(1969) 2 एस. सी. सी. 528 :
धन-कर आयुक्त, कलकत्ता बनाम तुंगभद्रा
इंडस्ट्रीज लि. कलकत्ता ; | 15 |
| [1968] | [1968] 2 उम. नि. प. 120 =
ए. आई. आर. 1968 एस. सी. 1201 :
केरल राज्य बनाम पी. पी. हसन कोया । | 17 |

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2011 की सिविल अपील सं. 3836 (इसके साथ 2011 की सिविल अपील सं. 3837, 3838, 3839, 3840 और 3841 की भी सुनवाई की गई)।

1991 के धन-कर निर्देश सं. 27 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 21 अक्टूबर, 2005 को पारित निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से	सर्वश्री रोहित अमित स्थालेकर और कमलेन्द्र मिश्रा
प्रत्यर्थी की ओर से	सर्वश्री संजय कुमार पाठक, (सुश्री) रश्मि मल्होत्रा, रूपेश कुमार, (सुश्री) गार्गी खन्ना और अनिल कटियार

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अशोक भूषण ने दिया ।

न्या. भूषण — इन सभी अपीलों में विधि के सामान्य प्रश्न उठाए गए हैं; इसलिए इनकी एक साथ सुनवाई की गई है और इस सामान्य निर्णय द्वारा विनिश्चय किया जा रहा है । उच्च न्यायालय ने तारीख 21 अक्टूबर, 2005 के अपने अलग-अलग निर्णयों द्वारा छह धन-कर निर्देशों का विनिश्चय किया था, जिनसे व्यथित होकर निर्धारिती अपील में आए हैं । सभी निर्धारिती एक फर्म-मैसर्स जी. डी. एंड संस में भागीदार हैं । भागीदार फर्म की आस्तियों में एक आस्ति माडल टाउन, नई दिल्ली में स्थित “अल्पना सिनेमा” के रूप में ज्ञात एक सिनेमा भवन है । जो प्रश्न उच्च न्यायालय को उत्तर देने के लिए निर्देशित किया गया था, वह संपत्ति अर्थात् अल्पना सिनेमा का धन-कर अधिनियम के अधीन निर्धारण करने के लिए मूल्यांकन की सही पद्धति के संबंध में था । इन सभी अपीलों का विनिश्चय करने के लिए 2011 की सिविल अपील सं. 3836 के तथ्यों और कार्यवाहियों का संदर्भ देना पर्याप्त रहेगा ।

2. मैसर्स जी. डी. एंड संस, जिसकी फर्म में अपीलार्थी भागीदार हैं, ने तारीख 4 जून, 1965 को 8,00,000/- रुपए में भूमि और अर्द्ध-निर्मित अवस्था में भवन खरीदा । निर्माण पूरा किया गया और सिनेमा थियेटर, अल्पना ने परिसर में काम करना आरंभ कर दिया । अल्पना सिनेमा की संपत्ति का मूल्यांकन लेखा-बहियों के निर्धारण द्वारा किया गया । भागीदारों में से एक के धन-कर का निर्धारण लंबित रहने पर धन-कर अधिकारी ने अल्पना सिनेमा का मूल्यांकन करने के लिए एक निर्देश विभागीय मूल्यांकन अधिकारी, नई दिल्ली को तारीख 29 अप्रैल, 1976 के निर्देश द्वारा किया । मूल्यांकन अधिकारी ने स्थल का निरीक्षण करने के पश्चात् निर्धारण वर्ष 1970-1971, 1972-1973, 1973-1974 और 1974-1975 के लिए संपत्ति का मूल्यांकन करते हुए तारीख 25 अप्रैल, 1977 को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की । धन-कर अधिनियम, 1957 की धारा 17 के अधीन तारीख 30 मार्च, 1979 को अपीलार्थियों को सूचनाएं जारी की गईं । निर्धारितियों ने एक अनुमोदित मूल्यांकक से आय पूंजीकरण पद्धति अपनाते हुए संपत्ति का

मूल्यांकन कराया । धन-कर अधिकारी द्वारा वर्ष 1970-71 से 1974-75 की अवधि के लिए निर्धारण करते हुए मार्च, 1983 में निर्धारण आदेश पारित किया गया । फर्म में भिन्न-भिन्न निर्धारितियों के अधिकार की प्रतिशतता के अनुसार निर्धारण पूर्ण किया गया था । निर्धारण अधिकारी ने विभागीय मूल्यांकक द्वारा प्रस्तुत की गई मूल्यांकन रिपोर्ट का अवलंब लिया । निर्धारितियों ने निर्धारण आदेश से व्यथित होकर सहायक धन-कर आयुक्त अपील के समक्ष अपील फाइल की । अपील प्राधिकारी ने अपने तारीख 23 जनवरी, 1986 के विस्तृत आदेश द्वारा निर्धारण अधिकारी द्वारा भूमि और भवन पद्धति से किए गए मूल्यांकन के आधार पर निर्धारण की अभिपुष्टि की । निर्धारितियों द्वारा अवलंब ली गई आय पूंजीकरण पद्धति का अनुमोदन नहीं किया गया ।

3. निर्धारितियों ने भिन्न-भिन्न निर्धारण आदेशों से व्यथित होकर आय-कर अपील अधिकरण, दिल्ली न्यायपीठ, दिल्ली के समक्ष धन-कर अपील फाइल की । आय-कर अपील अधिकरण ने निर्धारितियों का यह पक्षकथन स्वीकार किया कि सिनेमा भवन का मूल्यांकन करने के लिए आय का पूंजीकरण समुचित आधार होगा । आय-कर अपील अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया कि चूंकि भवन का उपयोग केवल फिल्म का प्रदर्शन करने के लिए किया जा सकता है और इसका उपयोग किसी अन्य प्रयोजन के लिए नहीं किया जा सकता है, इसलिए इसके मूल्यांकन की पद्धति आवश्यक रूप से उस पद्धति से भिन्न होनी चाहिए जो प्रसामान्यतः उन भवनों के मामले में अपनाई जाती है जिनका वाणिज्यिक भवनों के रूप में उपयोग किया जा सकता है । राजस्व विभाग ने अधिकरण के आदेश से व्यथित होकर विभाग की मार्फत निर्देश आवेदन फाइल किया । यद्यपि, प्रारंभ में अधिकरण द्वारा यह आवेदन नामंजूर कर दिया गया था, किंतु उच्च न्यायालय के निदेश पर उच्च न्यायालय को निम्नलिखित दो प्रश्न विनिश्चय करने के लिए निर्दिष्ट किए गए :-

“1. क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में आय-कर अपील अधिकरण ने धन-कर अधिनियम की धारा 7(1) के प्रयोजन के लिए भागीदार फर्म में निर्धारितियों के हित का अवधारण, धन-कर अधिकारी द्वारा अपनाई गई भूमि और भवन पद्धति के बजाय, प्रश्नगत आस्तियों अर्थात् सिनेमा भवन का आय संचालन आधार पर उचित बाजार मूल्य अपना करके विधि के अनुसार सही किया है या नहीं ?

2. यदि उपरोक्त प्रश्न का उत्तर नकारात्मक और निर्धारितियों

के विरुद्ध है तो प्रश्नगत आस्तियों का सही उचित बाजार मूल्य क्या होना चाहिए था ?

4. उच्च न्यायालय ने तारीख 21 अक्टूबर, 2015 के अपने निर्णय और आदेश द्वारा प्रश्नों का उत्तर राजस्व विभाग के पक्ष में और निर्धारितियों के विरुद्ध दिया। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि धन-कर अधिकारी द्वारा भूमि और भवन पद्धति अपनाया जाना न्यायोचित था। उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्राप्ति/किराया पूंजीकरण पद्धति प्रश्नगत संपत्ति के मूल्यांकन की सही पद्धति नहीं होगी। उच्च न्यायालय ने 1985 के धन-कर निर्देश सं. 39 [धन-कर आयुक्त (केन्द्रीय), कानपुर बनाम बांके लाल और अन्य] वाले मामले में के अपने विनिश्चय का अवलंब लिया, जो उसी दिन अर्थात् तारीख 21 अक्टूबर, 2005 को विनिश्चित किया गया था। उच्च न्यायालय के तारीख 21 अक्टूबर, 2005 के निर्णय से व्यथित होकर निर्धारिती अपील में आए हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, सभी धन-कर निर्देशों में प्रश्न का उत्तर राजस्व विभाग के पक्ष में दिया गया था।

5. हमने अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउंसिल रोहित अमित स्थालेकर तथा विभाग की ओर से विद्वान् काउंसिल को सुना।

6. अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउंसिल श्री स्थालेकर ने यह दलील दी कि धन-कर अधिनियम की धारा 7(2)(क) सर्वोपरि खंड के साथ आरंभ होती है जो कि किसी चालू कारबार की आस्तियों के मूल्य का निर्धारण करने के लिए आय पूंजीकरण पद्धति, जो आय-कर अपील अधिकरण द्वारा लागू की गई थी, विहित करने वाला एक स्वतंत्र उपबन्ध है। विद्वान् काउंसिल ने यह भी दलील दी कि उच्च न्यायालय ने अधिकरण द्वारा निकाले गए तथ्य के निष्कर्षों को अस्वीकार नहीं किया है। अधिकरण तथ्यों का पता लगाने वाला अंतिम प्राधिकरण है, इसलिए उच्च न्यायालय को अधिकरण के आदेश में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए था। प्रत्येक मामला उसके स्वयं के तथ्यों के आधार पर विनिश्चित किया जाना चाहिए और संपत्ति का मूल्यांकन एक तथ्य का प्रश्न है जिसे आय-कर अपील अधिकरण द्वारा ठीक प्रकार से अवधारित किया गया था, इसलिए उच्च न्यायालय ने उक्त निर्णय में हस्तक्षेप करके गलती की है। अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउंसिल द्वारा आगे यह दलील दी गई कि यदि संपत्ति का मूल्यांकन करने की एक से अधिक पद्धति हों, तो जो मूल्यांकन निर्धारिती के पक्ष में हो उसे अपनाया जाना चाहिए, यही कानूनों के

निर्वचन का सुस्थिर नियम है ।

7. विभाग की ओर से विद्वान् काउंसेल ने अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउंसेल द्वारा दी गई दलील का खंडन करते हुए यह दलील दी कि धन-कर अधिकारी द्वारा संपत्ति का निर्धारण करने के लिए भूमि और भवन पद्धति का ठीक ही अनुसरण किया गया है । विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि धारा 7(1)(क) का उपबंध एक सामर्थ्यकारी उपबंध है जो धन-कर अधिकारी को चालू कारबार की दशा में आय पूंजीकरण पद्धति लागू करने, यदि वह ऐसा विनिश्चय करता है, का विवेकाधिकार देता है । यह दलील दी गई कि धन-कर अधिकारी के लिए सभी मामलों में आय पूंजीकरण पद्धति लागू करना आज्ञापक नहीं है । यह दलील दी गई है कि सिनेमा भवन निर्धारिती के स्वामित्व और कब्जे में था जो कोई विल्लंगम न होने के कारण खुले बाजार में आसानी से सर्वोत्तम कीमत प्राप्त कर सकता था और ऐसे मामलों में भूमि और भवन पद्धति संपत्ति का मूल्यांकन करने के लिए अपनायी जाने वाली समुचित पद्धति है ।

8. पक्षकारों की ओर से विद्वान् काउंसेलों ने विभिन्न निर्णयों का अवलंब लिया है, जिन्हें उनकी अपनी-अपनी दलीलों पर विचार करते समय निर्दिष्ट किया जाएगा ।

9. हमें पहले धारा 7 के उपबंधों का उल्लेख करने की आवश्यकता है, जिस पर प्रस्तुत मामले में विचार करना है । धन-कर अधिनियम, 1957 की धारा 7, जैसी कि वह सुसंगत समय पर थी, निम्नलिखित है :-

“7(1) इस निमित्त बनाए गए किन्हीं नियमों के अधीन रहते हुए, इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए नकदी से भिन्न किसी आस्ति का प्राक्कलित मूल्य ऐसी कीमत होगी जो धन-कर अधिकारी की राय में उसके लिए मिलेगी यदि वह मूल्यांकन की तारीख को खुले बाजार में बेची जाए ।

(2) उपधारा (1) में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी —

(क) जहां निर्धारिती कोई ऐसा कारबार कर रहा है, जिसके लिए वह नियमित रूप से लेखा रखता है, वहां धन-कर अधिकारी ऐसे कारबार में निर्धारिती द्वारा धृत हर एक आस्ति का मूल्य पृथक्त्तः अवधारित करने के बजाय समस्त कारबार की आस्तियों का शुद्ध मूल्य मूल्यांकन की तारीख पर ऐसे कारबार के तुलनपत्र को ध्यान में रखकर और उसमें ऐसे समायोजन

करके, जैसे विहित किए जाएं, अवधारित कर सकेगा ।

(ख) जहां कारबार करने वाला निर्धारिती भारत में निवास न करने वाली कोई कंपनी है और खंड (क) के अनुसार संगणना, भारत में ऐसे कारबार के कामकाज के लिए तैयार किए गए किसी पृथक् तुलनपत्र के न होने के कारण नहीं की जा सकती, वहां धन-कर अधिकारी भारत के कारबार की आस्तियों का शुद्ध मूल्य, कहीं भी किए जा रहे संपूर्ण कारबार की आस्तियों के उस शुद्ध मूल्य का, जो यथापूर्वोक्त रूप में अवधारित किया गया है, वह अनुपात मान सकेगा, जो मूल्यांकन की तारीख को समाप्त होने वाले वर्ष के दौरान भारत में कारबार से उद्भूत होने वाली आय का उस वर्ष के कारबार से कहीं भी उद्भूत संकलित आय से है ।

(3) उपधारा (1) में किसी बात के होते हुए भी, जहां धन-कर अधिकारी द्वारा धारा 16क के अधीन मूल्यांकन अधिकारी को किन्हीं आस्तियों का मूल्यांकन निर्दिष्ट किया जाता है, वहां ऐसी आस्ति का मूल्य वह कीमत प्राक्कलित की जाएगी जो, मूल्यांकन अधिकारी की राय में यदि मूल्यांकन की तारीख को वह आस्ति खुले बाजार में विक्रय की जाती तो उसके लिए प्राप्त होती ।”

10. धन-कर अधिनियम के प्रयोजनों के लिए किसी आस्ति का मूल्यांकन करने के लिए प्रसामान्य नियम आस्ति की वह प्राक्कलित कीमत है, जो धन-कर अधिकारी की राय में, उस आस्ति के लिए मिलेगी यदि वह खुले बाजार में बेची जाए । उपधारा (2) सर्वोपरि खंड से आरंभ होती है । उपधारा (2)(क) के उपखंड (क) में यह उपदर्शित है कि जहां निर्धारिती कोई ऐसा कारबार कर रहा है, जिसके लिए वह नियमित रूप से लेखा रखता है, वहां धन-कर अधिकारी ऐसे कारबार में निर्धारिती द्वारा धृत हर एक आस्ति का मूल्य पृथक्तः अवधारित करने के बजाय समस्त कारबार की आस्तियों का शुद्ध मूल्य, मूल्यांकन की तारीख पर ऐसे कारबार के तुलनपत्र को ध्यान में रखकर और उसमें ऐसे समायोजन करके, जो विहित किए जाएं, अवधारित कर सकेगा ।

11. पुनः, उपधारा (3) भी सर्वोपरि खंड से यह उपबंधित करते हुए आरंभ होती है कि जहां किसी आस्ति का मूल्यांकन धारा 16क के अधीन निर्देशित किया जाता है, वहां ऐसी आस्ति का मूल्य वह कीमत प्राक्कलित की जाएगी जो, मूल्यांकन अधिकारी की राय में, यदि वह खुले बाजार में

बेची जाए तो उसे प्राप्त होगी ।

12. धन-कर अधिकारी धारा 16क के अधीन मूल्यांकन अधिकारी को किसी आस्ति के मूल्यांकन के लिए निर्देश कर सकता है । धारा 16क का उपखंड (1) निम्नलिखित है :-

“मूल्यांकन अधिकारी को निर्देश

16क.(1) इस अधिनियम के अधीन निर्धारण (इस धारा के प्रवृत्त होने की तारीख से पूर्व प्रारंभ किसी निर्धारण वर्ष की बाबत निर्धारण सहित) करने के प्रयोजन के लिए जहां, यथास्थिति इस अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों या अनुसूची 3 में बनाए गए नियमों के साथ पठित धारा 7 के अधीन ऐसे निर्धारण में किसी आस्ति का बाजार मूल्य विचार में लिया जाना है, तो निर्धारण अधिकारी ऐसी दशा किसी आस्ति का मूल्यांकन करने के लिए मूल्यांकन अधिकारी को निर्दिष्ट कर सकेगा -

(क) जहां आस्ति का जो मूल्य लगाया गया है वह रजिस्ट्रीकृत मूल्यांकक द्वारा लगाए गए प्राक्कलन के अनुसार है, यदि निर्धारण अधिकारी की यह राय है कि जो मूल्य लगाया गया है, वह उस आस्ति के उचित बाजार मूल्य से कम है;

(ख) किसी अन्य दशा में कर सकता है, यदि निर्धारण अधिकारी की यह राय है कि -

(i) आस्ति का उचित बाजार मूल्य, आस्ति के विवरणी में दिए गए मूल्य के इतने प्रतिशत से या इतनी रकम से अधिक है जो इस निमित्त विहित की जाए, या

(ii) आस्ति की प्रकृति और अन्य सुसंगत परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ऐसा करना आवश्यक है ।”

13. प्रस्तुत मामला, ऐसा है जहां निर्धारण अधिकारी ने अल्पना सिनेमा के लिए तारीख 29 अप्रैल, 1976 को एक निर्देश किया था । अभिलेख पर यह भी आया है कि मूल्यांकन अधिकारी को किए गए निर्देश आदेश को निर्धारिती द्वारा दिल्ली उच्च न्यायालय में रिट याचिका फाइल करके चुनौती दी गई थी । अपील प्राधिकारी ने अपने आदेश में निर्धारण अधिकारी द्वारा मूल्यांकन अधिकारी को किए गए निर्देश को दी गई चुनौती

के बारे में उल्लेख किया है। अभिलेख पर ऐसा कुछ नहीं है कि अल्पना सिनेमा का मूल्यांकन करने के लिए निर्धारण अधिकारी द्वारा विभागीय मूल्यांकक को निर्देशित करने वाले आदेश में दिल्ली उच्च न्यायालय ने हस्तक्षेप किया था।

14. यह सही है कि धारा 7 की उपधारा (2) सर्वोपरि खंड से आरंभ होती है, जिसमें धन-कर अधिकारी को ऐसे कारबार में निर्धारिती द्वारा धृत हर एक आस्ति का मूल्य पृथक्त्व अवधारित करने के बजाय समस्त कारबार की आस्तियों के शुद्ध मूल्य का अवधारण करने के लिए समर्थ बनाया गया है। उपधारा (2) की भाषा में धन-कर अधिकारी की ऐसे कारबार के तुलनपत्र को ध्यान में रखते हुए कारबार के शुद्ध मूल्य का अवधारण करने की अध्यारोही शक्ति का उपबंध किया गया है। धन-कर अधिकारी को संपत्तियों का मूल्यांकन करने के प्रसामान्य नियम को अध्यारोही करने की सामर्थ्यकारी शक्ति दी गई है अर्थात् वह मूल्य जो खुले बाजार में उनके लिए प्राप्त हो सकेगा और धन-कर अधिकारी इस पद्धति को ऐसे मामले में, जहां वह इसे अपनाना उचित समझे, अपना सकता है। अपीलार्थियों की दलील यह है कि धारा 7(2)(क) एक स्वतंत्र उपबंध है और इसे उन सभी मामलों में लागू किया जाना चाहिए जहां निर्धारिती कोई कारबार कर रहा हो। हम उपरोक्त दलील से सहमत नहीं हैं।

15. अध्यारोही शक्ति, धारा 7 की उपधारा (1) द्वारा संपत्ति का मूल्यांकन करने की प्रसामान्य पद्धति को अध्यारोही करने और उपधारा 2(क) में दी गई मूल्यांकन की पद्धति अपनाने के लिए धन-कर अधिकारी को सज्जित करने के लिए उपबंधित की गई है। अध्यारोही शक्ति देने का प्रयोजन और उद्देश्य विवेकाधिकार को नियंत्रित करना नहीं है। धन-कर अधिकारी उन सभी मामलों में, जहां निर्धारिती कोई कारबार कर रहा है, आज्ञापक रूप से धारा 7(2)(क) में उपबंधित पद्धति अपनाने के लिए आबद्ध नहीं है। उपधारा (2)(क) से यह उपदर्शित नहीं होता कि उपबंध धन-कर अधिकारी को चालू कारबार के सभी मामलों में इस पद्धति को अपनाने की आज्ञा देते हों। इस न्यायालय के समक्ष भी बहुत सारे मामलों में अधिनियम की धारा 7 निर्वचन के लिए आए। इनमें से कुछ मामलों को निर्दिष्ट करना उपयोगी होगा। धन-कर आयुक्त, कलकत्ता बनाम तुंगभद्रा इंडस्ट्रीज़ लि. कलकत्ता¹ वाले मामले में, यह अभिनिर्धारित किया गया था

¹ [1970] 2 उम. नि. प. 827 = (1969) 2 एस. सी. सी. 528.

कि कई मामलों में, इस न्यायालय को अधिनियम की धारा 7 पर विचार करना था । पूर्वोक्त मामले में न्यायालय के समक्ष विचार के लिए निम्नलिखित प्रश्न आया :—

“क्या मामले के तथ्यों पर और परिस्थितियों में धन-कर अधिनियम, 1957 की धारा 7(2) के अधीन निर्धारिती की आस्तियों का शुद्ध मूल्य अवधारित करने के लिए अधिकरण का यह निदेश न्यायसंगत था कि निर्धारिती की नियत आस्तियों के अवलिखित मूल्य का, न कि तुलनपत्र में उसके लिए दिखाए गए मूल्य को, उसके मूल्य के रूप में माना जाना चाहिए ?”

16. धारा 7 पर विचार करते हुए पैरा 5 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया है :—

“5..... हमारी राय में यह तर्क उचित है । अधिनियम की धारा 7 की उपधारा (1) के अधीन धन-कर अधिकारी किसी आस्ति का मूल्य अवधारित करने के प्रयोजन के लिए ऐसी कीमत प्राक्कलित करने के लिए प्राधिकृत है जो उसके लिए मिलेगी यदि वह मूल्यांकन की तारीख को खुले बाजार में बेची जाए । किंतु यह नियम चालू कारबार की दशा में प्रायः असुविधाजनक होगा और मूल्य का वास्तविक प्राक्कलन नहीं दे सकेगा । इसलिए विधान-मंडल ने उपधारा (2)(क) में यह उपबंधित किया है कि जहां निर्धारिती कोई ऐसा कारबार कर रहा है, जिसके लिए वह नियमित रूप से लेखा रखता है, वहां धन-कर अधिकारी समस्त कारबार की आस्तियों का शुद्ध मूल्य, मूल्यांकन की तारीख पर ऐसे कारबार के तुलनपत्र को ध्यान में रखते हुए और उनमें ऐसे समायोजन करके, जैसा कि मामले की परिस्थितियां अपेक्षा करें, अवधारित कर सकेगा ।”

17. अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउंसिल ने **केरल राज्य बनाम पी. पी. हसन कोया**¹ वाले मामले का अवलंब लिया है । उपरोक्त मामला भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 के संदर्भ में संपत्ति के मूल्यांकन का था । पूर्वोक्त मामले में पैरा 6 और 7 में निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की गई है :—

“6..... भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 4(1) के अधीन

¹ [1968] 2 उम. नि. प. 120 = ए. आई. आर. 1968 एस. सी. 1201.

निकाली गई अधिसूचना की तारीख के निकट पूर्व किसी तारीख को वैसे ही स्थित और वैसे ही लाभों सहित भूमि के विक्रय का उदाहरण जिसकी बाबत यह साबित हो गया है कि वह किसी रजामन्द विक्रेता और किसी रजामन्द क्रेता के बीच संव्यवहार है, बाजार मूल्य अवधारित करने के लिए एक विश्वसनीय मार्गदर्शक का काम दे सकता है। किसी मकान की बाबत जो मूल्य रजामन्द विक्रेता किसी रजामन्द क्रेता से प्राप्त करने की युक्तियुक्त प्रत्याशा करता है वह साधारणतया भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर निर्भर करता है जिनके अंतर्गत उसके सन्निर्माण का ढंग, वह कितना पुराना है, उसकी स्थिति, उसमें उपलब्ध सुख सुविधाएं, उसके विशेष लाभ और ऐसी अनेक अन्य परिस्थितियां आती हैं। जब बेची गई सम्पत्ति भवन सहित कोई भूमि हो तो प्रायः यह कठिन हो जाता है कि धारा 4 के अधीन निकाली गई अधिसूचना की तारीख के निकट पूर्व किसी तारीख को भवनों सहित वैसे ही भूमियों के विक्रय के उदाहरणों का विश्वसनीय साक्ष्य प्राप्त किया जाए। इसलिए उन भवनों सहित, जिनका उपयोग विशेषतया कारबार के प्रयोजनों के लिए किया जाता है, भूमि का मूल्य अवधारित करने के लिए जो पद्धति अपनाई जाती है वह भूमि और भवनों से वस्तुतः प्राप्त या उनसे युक्तियुक्त रूप से प्राप्त हो उस प्रत्यागम के पूंजीकरण की पद्धति है।

7. विचारण न्यायालय और उच्च न्यायालय द्वारा अपनाई गई पद्धति ठीक है। अर्जन के अधीन यूनिट का उपयोग कारबार के प्रयोजनों के लिए किया जाता है और कालिकट नगर में उसकी विशिष्ट स्थिति है। भवन की भाटक-राशि के बारे में साक्ष्य स्पष्ट है और विचारण न्यायालय ने उत्कृष्ट प्रतिभूतियों से प्राप्त 3-1/2 प्रतिशत के प्रत्यागम की दर को ध्यान में रखकर और 35 से गुणा करके शुद्ध वार्षिक भाटक-राशि का पूंजीकरण किया। उच्च न्यायालय ने उस गुणज को थोड़ा सा कम कर दिया है।”

18. न्यायालय द्वारा की गई उपरोक्त मताभिव्यक्ति साधारण मताभिव्यक्ति थी न कि अधिनियम की धारा 7 के संदर्भ में। किराया पूंजीकरण के आधार पर भवन संपत्ति के मूल्यांकन की पद्धति, विशिष्ट रूप से किराया नियत करने के मामलों में, निस्संदेह विभिन्न कानूनों में उपबन्धित है। इस मामले में अपीलार्थियों को उपरोक्त मताभिव्यक्ति से कोई सहायता नहीं मिलती है।

19. इस न्यायालय का अधिक समुचित निर्णय जो इस मामले के तथ्यों पर है, वह जग्गीलाल कमलापत्त बैंकर्स और एक अन्य बनाम धन-कर अधिकारी, विशेष सर्कल, सी-वार्ड कानपुर और अन्य¹ वाले मामले में का निर्णय है। उपरोक्त मामले में, इस न्यायालय को धारा 7 के उपबंधों पर विचार और निर्वचन करना था। धन-कर अधिकारी ने अपीलार्थी फर्म के कतिपय भवनों के मूल्यांकन के लिए मूल्यांकन अधिकारी को एक निर्देश किया था। अपीलार्थी ने रिट याचिका के माध्यम से निर्धारण अधिकारी द्वारा विभागीय मूल्यांकक को संपत्ति का मूल्यांकन करने के लिए किए गए निर्देश को चुनौती दी। निर्णय में यथा उद्धृत दो दलीलें जो उच्च न्यायालय के समक्ष दी गई थीं, निम्नलिखित हैं :-

“.....(3) अपीलार्थी सं. 1 फर्म में अपीलार्थी सं. 2 के हित का मूल्यांकन वेल्थ टैक्स रूल्स, 1957 के नियम 2 के अनुसरण में किया जाना था और इस प्रकार अधिनियम की धारा 16क लागू नहीं होती; (4) अपीलार्थी सं. 1-फर्म के कारबार की आस्तियों के भागरूप संबंधित भवनों का मूल्यांकन धारा 7(2)(क) के अधीन वाणिज्यिक सिद्धांतों के अनुसरण में किया जाना चाहिए, न कि अधिनियम की धारा 7(1) के अधीन; और.....।”

20. उच्च न्यायालय ने पक्षकारों की दलीलों पर विचार किया और उपरोक्त दोनों दलीलों को नामंजूर करते हुए निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :-

“.....तीसरी और चौथी दलील के संबंध में उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि नियम 2, धारा 7 और 16क (1)(ख)(ii) को उदारता से पढ़ना होगा और नियम 2 में किसी भागीदारी फर्म में किसी भागीदार की आस्ति का मूल्यांकन करने के लिए धारा 7 और 16क का लागू किया जाना अपवर्जित नहीं किया गया है और यह कि धारा 7(2) में अंतर्विष्ट सर्वोपरि खंड के होते हुए भी यह एक सामर्थ्यकारी उपबंध था जिसमें धन-कर अधिकारी को कारबार की संपूर्ण आस्तियों का मूल्य अवधारित करने का या हर एक आस्ति का मूल्य पृथक्त्व अवधारित करने का विवेकाधिकार प्रदान किया गया था और इस निमित्त धन-कर अधिकारी को धारा 16क के अधीन ऐसा मूल्यांकन, मूल्यांकन अधिकारी को निर्देशित करने की

¹ [1984] 3 उम. नि. प. 1 = (1984) 145 आई. टी. आर. 485.

शक्ति थी.....।”

21. अपीलार्थियों ने इस न्यायालय के समक्ष दो दलीलें दी थीं ।
द्वितीय दलील, जिसका निर्णय के पृष्ठ 490 पर स्वयं इस न्यायालय द्वारा उल्लेख किया गया है, निम्नलिखित है :-

“.....दूसरे, विद्वान् काउंसेल ने यह अनुरोध किया है कि यह मान लेने पर कि अपीलार्थी संख्या 1 के फर्म में अपीलार्थी संख्या 2 का हित (हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्ता के रूप में) अधिनियम के अधीन धन-कर के लिए आहरणीय है, चूंकि ऐसे हित के मूल्यांकन की बाबत अधिनियम की धारा 17(2)(क) सपठित धन-कर नियम, 1957 (वैल्यू टैक्स रूल्स, 1957) के नियम 2क लागू होते हैं इसलिए धन-कर अधिकारी को उन विनिर्दिष्ट गृह सम्पत्तियों के मूल्यांकन के प्रति जो फर्म की है, अधिनियम की धारा 16क के अधीन मूल्यांकन अधिकारी को निर्देश करने का अधिकार नहीं है । उनके अनुसार वस्तुतः चूंकि अपीलार्थी संख्या 1 की भागीदारी कारबार की सम्पूर्ण आस्तियों का मूल्यांकन संबंधित वर्ष के लिए उसके तुलनपत्र को ध्यान में रखते हुए, धन-कर अधिकारी द्वारा हाथ में लिया जाना चाहिए और इस प्रकार गृह सम्पत्तियों का पुस्तक मूल्य जैसा कि तुलनपत्र में प्रतीत होता है उसके द्वारा स्वीकार किया जाना था और इसलिए धन-कर अधिकारी द्वारा मूल्यांकन अधिकारियों के प्रति किया गया निर्देश तथा पश्चात्कथित द्वारा जारी किए गए नोटिस विधि में अक्षम और अनुचित होने के कारण अभिखण्डित किए जाने योग्य हैं । उन कारणों से जो अब हम उपदर्शित करेंगे किसी भी दलील में कोई सार नहीं है और दोनों ही अस्वीकार किए जाने योग्य है.....।”

22. इस न्यायालय ने उपरोक्त दलील तथा धन-कर अधिनियम, 1957 की धारा 7 सहित अधिनियम के उपबंधों पर विचार करने के पश्चात् पृष्ठ 495 पर यह अभिनिर्धारित किया :-

“.....उपर्युक्त उपबंधों के सही प्रकार से पठन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अधिनियम के प्रयोजनों के लिए आस्तियों का मूल्य अवधारित करने की प्राथमिक पद्धति वह है जो धारा 7(1) में उपदर्शित की गई है, क्योंकि इसमें यह उपबंध किया गया है कि इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए नकदी से भिन्न किन्हीं आस्तियों का मूल्य मूल्यांकन की तारीख को उसके बाजार

मूल्य के रूप में प्राक्कलित किया जाएगा। इसके पश्चात् उपधारा 2 है जिसमें यह उपबंध किया गया है कि ऐसे कारबार में निर्धारिती द्वारा धृत प्रत्येक आस्ति का मूल्य पृथक्तः अवधारित करने के बजाय समस्त कारबार की आस्तियों का शुद्ध मूल्य मूल्यांकन की तारीख को कारबार के तुलनपत्र को ध्यान रखकर और उसमें ऐसे समायोजन करके, ऐसे विहित किए जाएं, अवधारित कर सकेगा। यह सही है कि उपधारा (2) का प्रारम्भ अध्यारोही खण्ड से होता है किंतु ऐसा होने पर भी स्वतः वह समर्थनकारी उपबंध है जिसमें उपधारा (1) के अधीन कार्रवाई तुलनपत्र को ध्यान में रखते हुए उसकी आस्तियों का शुद्ध मूल्य अवधारित करने के लिए धन-कर अधिकारी को विवेकाधिकार प्रदान किया गया है। अन्य शब्दों में, धन-कर अधिकारी के लिए उस दशा में भी किसी भी पद्धति का अवलंब लेने का विकल्प प्राप्त है, जहां निर्धारिती द्वारा किए जाने वाले कारबार का शुद्ध मूल्य अवधारित करना होता है।”

23. न्यायालय द्वारा यह भी अधिकथित किया गया कि यह इस स्थिति के अतिरिक्त है कि स्वतः धारा 7(2) का अवलंब लेना वैवेकिक और वैकल्पिक है क्योंकि यह सामर्थ्यकारी उपबंध है। इस प्रकार इस न्यायालय ने स्पष्ट रूप से यह अधिकथित किया है कि किसी चालू कारबार के लिए धन-कर अधिकारी द्वारा धारा 7(2)(क) में अधिकथित पद्धति अपनाने हेतु धारा 7(2)(क) का अवलंब लेना वैवेकिक है और यह सामर्थ्यकारी उपबंध है किंतु उपरोक्त सामर्थ्यकारी शक्ति को निर्धारण अधिकारी द्वारा समुचित पद्धति अपनाने के अधिकार पर बाध्यता या बंधन के रूप में अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है। प्रस्तुत मामले में निर्धारण अधिकारी द्वारा धारा 7(3) के अधीन विभागीय मूल्यांकक को निर्देश किया गया था। इस प्रकार, विभागीय मूल्यांकक से रिपोर्ट प्राप्त करने का निर्धारण अधिकारी का विनिश्चय एक भानपूर्वक किया गया विनिश्चय है। उपरोक्त भानपूर्वक विनिश्चय में ही निर्धारण अधिकारी का धारा 7(2)(क) का अवलंब न लेने का विनिश्चय भी अंतर्विष्ट है। विभागीय मूल्यांकक की मूल्यांकन रिपोर्ट प्राप्त हुई थी जिसका निर्धारण अधिकारी द्वारा सुसंगत वर्ष में निर्धारिती का निर्धारण करने के लिए अवलंब लिया गया। अतः हम निर्धारण अधिकारी के भूमि और भवन पद्धति अपनाकर संपत्ति का उक्त पद्धति के आधार पर मूल्यांकन करने के लिए विभागीय मूल्यांकक को निर्देश करने वाले आदेश में कोई गलती नहीं पाते हैं। अपील प्राधिकारी ने निर्णय के पैरा 17 में भूमि और भवन पद्धति के विरुद्ध निर्धारिती के आक्षेप पर विचार किया है

और निम्नलिखित कारणों से इसे निरसित किया गया है :-

“17.(i) अन्य आक्षेप जिस पर जोरदार रूप से बल दिया गया है, वह भूमि और भवन पद्धति अपनाकर अल्पना थियेटर का मूल्यांकन करने के विरोध में है। इस संबंध में, यह उल्लेख करना अनावश्यक पुनरावृत्ति नहीं है कि अल्पना सिनेमा मैसर्स जी. डी. एंड संस द्वारा मैसर्स गिल एंड ब्रदर्स आसफ अली रोड, नई दिल्ली से अर्ध-निर्मित हालत में विक्रय की गई थी और उसके पश्चात् फर्म द्वारा इसका फिल्म प्रदर्शन के लिए निर्विघ्न रूप से उपयोग किया गया है। इसलिए मूल्यांकन की जाने वाली बात यह है कि स्वामियों द्वारा प्रश्नगत संपत्ति का उपयोग किन्हीं प्रतिकूल अनुवृद्धियों के बिना किया गया है, जो ऐसी संपत्ति पर लागू होती है यदि उसे किराए पर दिया जाता है। अतः इस बात पर विचार किया जाना चाहिए कि इस थियेटर की स्वामी फर्म पर कोई विल्लंगम नहीं है यदि वह इसका किसी भी क्षण व्ययन करने का विनिश्चय करे। उचित बाजार मूल्य निकालते समय इस पहलू का बहुत महत्व है। एक बिंदु पर अपीलार्थी द्वारा यह भी दलील दी गई कि जिस भूमि पर सिनेमा भवन स्थित है उसे सिनेमा भवन से भिन्न किसी अन्य प्रयोजन के लिए उपयोग नहीं किया जा सकता है, इसलिए मूल्यांकन अधिकारी के लिए इसे खाली भूमि समझना और इस प्रकार इसका मूल्यांकन करना उचित नहीं था। इस आक्षेप का कोई महत्व नहीं है क्योंकि अपीलार्थी का दावा उस तर्कणा से ही परास्त हो जाता है जो उसने दी है। मामले को पूर्ण रूप से स्पष्ट करने के लिए यह कहा जा सकता है कि किसी नगरीय भूमि पर फिल्म प्रदर्शन के लिए अनुज्ञप्ति लेना एक विशेषाधिकार है। भूमि का ऐसा उपयोग मूल्य बढ़ाने के लिए केवल सहायक है और इससे किसी भी प्रकार से इसके मूल्य में गिरावट नहीं आती है जैसा कि अपीलार्थी द्वारा गलत उपधारित किया गया है।”

24. अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउंसिल ने यह दलील दी कि आय-कर अपील अधिकरण द्वारा यह अभिनिर्धारित करने के लिए कि आय पुंजीकरण पद्धति अधिक समुचित पद्धति है, दिए गए कारणों पर उच्च न्यायालय द्वारा ध्यान नहीं दिया गया है। हमने अधिकरण के आदेश का परिशीलन किया है। अधिकरण ने यह मत व्यक्त किया है कि जब एक बार यह स्वीकार कर लिया गया है कि संपत्ति केवल सिनेमा भवन के

उपयोग-योग्य है तब इसके मूल्यांकन की पद्धति उस पद्धति से आवश्यक रूप से भिन्न होनी चाहिए जो प्रसामान्यतः उन भवनों के मामले में अपनाई जाती है जो अन्य वाणिज्यिक प्रयोजनों के लिए उपयोग की जा सकने योग्य हैं। मात्र इस तथ्य से कि भवन केवल सिनेमा प्रदर्शन के उपयोग के लिए है, किसी भी रीति में इसकी विपण्य कीमत कम नहीं हो जाती है। सुसंगत अवधि में भवन का चालू सिनेमा के रूप में उपयोग कम कीमती नहीं था। अपील प्राधिकरण द्वारा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आगे यह चुनौती नहीं दी गई है कि भवन निर्धारिती के स्व-अधिभोग और कब्जे में था और कोई विल्लंगम नहीं था।

25. यह सही है कि उच्च न्यायालय ने बहुत ज्यादा शब्दों में आय-कर अपील अधिकरण द्वारा दिए गए कारणों पर विचार नहीं किया है। तथापि, उच्च न्यायालय ने यह राय व्यक्त की है कि धन-कर अधिकारी ने भूमि और भवन पद्धति अपनाकर न्यायोचित किया है। उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए कारणों में से एक कारण यह है कि यदि कारबार में घाटा है या दूसरे शब्दों में नकारात्मक आय है तो यह कहना संभव नहीं है कि प्रश्नगत संपत्ति का कोई विपण्य मूल्य नहीं है। अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउंसेल ने यह दलील दी कि सुसंगत वर्ष में आय उपार्जित हुई थी।

26. यह उल्लेख करना सुसंगत है कि अपील प्राधिकारी ने अपने निर्णय में यह मत व्यक्त किया है कि वर्ष 1969-70 में स्वयं निर्धारिती द्वारा घाटा दिखाया गया था। अपील प्राधिकारी द्वारा पैरा 17 में उपपैरा (iv) में निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया है :-

“.....यहां तक कि अपीलार्थी के मामले में भी प्रथम निर्धारण वर्ष अर्थात् 1969-70 में 1,16,845/- रुपए का घाटा हुआ है। इस प्रकार, यदि ऐसे मामलों में जहां निर्धारिती ने आरंभिक वर्षों में दुर्भाग्यवश घाटे उठाए हों, आय पूंजीकरण पद्धति लागू की जाती है तो आस्ति का मूल्यांकन नकारात्मक आंकड़े में निकलेगा। निश्चित रूप से यह वास्तविकता से परे की स्थिति होगी और विधान-मंडल का किसी आस्ति का उचित बाजार मूल्य लेने के लिए धन-कर अधिनियम की धारा 7 में निदेश करते समय किसी भी रीति में, ऐसा आशय नहीं था।”

27. उच्च न्यायालय द्वारा विचार में ली गई उपरोक्त परिस्थितियों को असंगत नहीं कहा जा सकता है चूंकि इन आशंकाओं को अपील प्राधिकारी द्वारा यथा उल्लिखित तथ्यों द्वारा सम्यक् रूप से साबित पाया गया है।

28. अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउंसेल ने यह भी दलील दी है कि ऐसी स्थिति में, जहां की आस्ति के मूल्यांकन की एक से अधिक पद्धति हों, वहां उस पद्धति को स्वीकार किया जाना चाहिए जिसके अधीन मूल्यांकन करना निर्धारिती के पक्ष में हो। विद्वान् काउंसेल ने **आय-कर आयुक्त, पश्चिमी बंगाल, कलकत्ता बनाम मैसर्स वेजिटेबल्स प्रोडक्ट्स लि.¹** वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय का अवलंब किया। इस न्यायालय ने निर्णय के पैरा 6 में निम्नलिखित अधिकथित किया है :-

“इस बात के बारे में कोई भी संदेह नहीं है कि पक्षकारों ने धारा 27(1)(क)(i) का जो भी निर्वचन करने की कोशिश की है उनमें से एक या दूसरे को स्वीकार करने के परिणामस्वरूप कुछ असुविधाजनक परिणाम अवश्य निकलेंगे किन्तु न्यायालय का कर्तव्य धारा का निर्वचन करना है, उसकी भाषा को समझना है और उसे प्रभावी बनाना है। यदि भाषा स्पष्ट है, तो यह तथ्य कि उसे प्रभावी बनाने के परिणामस्वरूप कुछ निरर्थक परिणाम निकल सकता है, ऐसा नहीं है जिसे किसी उपबंध का निर्वचन करने में विचार में लिया जा सके। यह बात तो विधान-मंडल पर निर्भर है कि वह ऐसी बातों में हस्तक्षेप करे और निरर्थकता को समाप्त कर दे। दूसरी ओर यदि कर लगाने संबंधी उपबंध के दो युक्तियुक्त अर्थान्वयन संभव हो सकते हैं, तो उस अर्थान्वयन को जोकि निर्धारिती के पक्ष में हो, अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। यह निर्वचन का सबसे अच्छा स्वीकृत नियम है जिसे इस न्यायालय ने अपने अनेक विनिश्चयों में माना भी है। इसलिए हमें जो बात देखनी है, वह यह है कि धारा 27(1)(क)(i) में प्रयुक्त भाषा का वास्तविक प्रभाव क्या है। यदि हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वह भाषा अस्पष्ट है या एक से अधिक उसके अर्थ निकल सकते हैं, तो हमें उसी निर्वचन को स्वीकार करना पड़ेगा जो कि निर्धारिती के पक्ष में हो, विशेषकर ऐसी स्थिति में, क्योंकि यह उपबंध शास्ति के अधिरोपित किए जाने से संबंधित है।”

29. न्यायालय द्वारा जो प्रतिपादना अधिकथित की गई है वह यह है कि यदि कर लगाने संबंधी कानून के दो युक्तियुक्त अर्थान्वयन संभव हो सकते हैं, तो उस अर्थान्वयन को, जो कि निर्धारिती के पक्ष में हो, अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। उपरोक्त प्रतिपादना का अनुशीलन यह अर्थ

¹ [1973] 2 उम. नि. प. 1207 = (1973) 1 एस. सी. सी. 442.

लगाने के लिए नहीं किया जा सकता कि मूल्यांकन की दो पद्धतियों के अधीन जो मूल्य निर्धारिती के पक्ष में हो उसे अपनाया जाना चाहिए। यहां प्रस्तुत मामले में, धारा 7 के उपबंध न तो अस्पष्ट हैं और न ही दो अर्थान्वयन किए जा सकते हैं। धारा 7 का अर्थान्वयन स्पष्ट है, जैसा कि **जग्गीलाल कमलापत्त बैंकर्स** (उपरोक्त) वाले मामले के निर्णय में इस न्यायालय द्वारा पहले ही विस्तार-पूर्वक विचार किया गया है।

30. धन-कर अधिकारी ने संपत्ति के मूल्यांकन के लिए मामला विभागीय मूल्यांकक को निर्देशित किया था और मूल्यांकन के लिए निर्देश के परिणामस्वरूप रिपोर्ट पहले ही तारीख 26 जुलाई, 1977 को प्राप्त हो गई थी, जिसका निर्धारण में अवलंब लिया गया था। अपील प्राधिकारी द्वारा मूल्यांकन रिपोर्ट के विरुद्ध आक्षेपों पर विचार किया गया था और उन्हें नामंजूर कर दिया गया था, इसलिए हम धन-कर अधिकारी द्वारा किए गए निर्धारण में कोई त्रुटि नहीं पाते हैं। हमारा यह मत है कि उच्च न्यायालय ने आय-कर अपील अधिकरण के आदेश में हस्तक्षेप करके कोई गलती नहीं की है।

31. पूर्वगामी चर्चा को देखते हुए सभी अपीलें खारिज की जाती हैं।

अपीलें खारिज की गईं।

जस.

वैयक्तिक क्षति (प्रतिकर बीमा) अधिनियम, 1963
(1963 का अधिनियम संख्यांक 37)

[8 अक्टूबर, 1963]

उन कर्मकारों को, जिन्हें कोई वैयक्तिक क्षति हुई है, प्रतिकर संदत्त
करने का दायित्व नियोजकों पर अधिरोपित करने और ऐसे
दायित्व के विरुद्ध नियोजकों के बीमे का
उपबंध करने के लिए
अधिनियम

भारत गणराज्य के चौदहवें वर्ष में संसद् द्वारा निम्नलिखित रूप में यह
अधिनियमित हो :-

अध्याय 1
प्रारम्भिक

1. संक्षिप्त नाम, विस्तार और प्रारम्भ — (1) यह अधिनियम वैयक्तिक क्षति (प्रतिकर बीमा) अधिनियम, 1963 कहा जा सकेगा ।

(2) इसका विस्तार सम्पूर्ण भारत पर है ।

(3) यह उस तारीख¹ को प्रवृत्त होगा जिसे केन्द्रीय सरकार अधिसूचना द्वारा नियत करे ।

2. परिभाषाएं — इस अधिनियम में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो, —

(क) “नियोजक” के अन्तर्गत कोई व्यक्ति-निकाय, चाहे वह निगमित हो या नहीं, और नियोजक का कोई प्रबन्ध-अधिकर्ता तथा मृत नियोजक का विधिक प्रतिनिधि आते हैं और जब कि किसी कर्मकार की सेवाएं उस व्यक्ति द्वारा, जिसके साथ कर्मकार ने सेवा या शिक्षता की संविदा की है, अन्य व्यक्ति को अस्थायी तौर पर उधार दे दी गई है या भाड़े पर दी गई है, तब “नियोजक” से उस समय तक, जब तक वह कर्मकार उस अन्य व्यक्ति के लिए काम करता रहता है, वह पश्चात्कथित व्यक्ति अभिप्रेत है ;

(ख) “निधि” से धारा 13 के अधीन गठित वैयक्तिक क्षति

¹ 1-11-1965 : देखिए अधिसूचना सं. सा. का. आ. 3382, तारीख 18-10-1965, भारत का राजपत्र, भाग 2, अनुभाग 3(ii), पृ. 3570.

(प्रतिकर बीमा) निधि अभिप्रेत है ;

(ग) “अभिलाभपूर्वक लगे हुए व्यक्ति” और “वैयक्तिक क्षति” के वे ही अर्थ होंगे जो वैयक्तिक क्षति (आपात उपबन्ध) अधिनियम, 1962 (1962 का 59) में उन पदों को क्रमशः समनुदिष्ट हैं ;

(घ) “अधिसूचना” से शासकीय राजपत्र में प्रकाशित अधिसूचना अभिप्रेत है ;

(ङ) “आंशिक निःशक्तता” से जहां कि निःशक्तता अस्थायी प्रकृति की है वहां, ऐसी निःशक्तता अभिप्रेत है जिससे कर्मकार की उस नियोजन में उपार्जन करने की सामर्थ्य कम हो जाती है जिसमें वह उस समय, जब क्षति हुई, लगा हुआ था और जहां कि निःशक्तता स्थायी प्रकृति है वहां ऐसी निःशक्तता अभिप्रेत है जिससे किसी भी ऐसे नियोजन में उसकी उपार्जन करने की सामर्थ्य कम हो जाती है जिसे ग्रहण करने के लिए वह उस समय समर्थ था :

परन्तु अनुसूची में विनिर्दिष्ट हर क्षति के या क्षतियों के किसी समुच्चय के बारे में वहां, जहां कि निःशक्तता का प्रतिशत या संकलित प्रतिशत, जैसा वह अनुसूची में ऐसी क्षति या क्षतियों के समुच्चय के सामने विनिर्दिष्ट है, सौ प्रतिशत से कम होता है, यह समझा जाएगा कि उसके परिणामस्वरूप स्थायी आंशिक निःशक्तता हुई है ;

¹[(च) “आपात की कालावधि” से, संविधान के अनुच्छेद 352 के खण्ड (1) के अधीन —

(i) 26 अक्टूबर, 1962 को निकाली गई आपात की उद्घोषणा के संबंध में, 26 अक्टूबर, 1962 को आरम्भ होने वाली और 10 जनवरी, 1968 को, अर्थात् उस तारीख को जिसको कि भारत सरकार के गृह मंत्रालय की अधिसूचना सं. सा. का. नि. 93, तारीख 10 जनवरी, 1968 द्वारा उक्त आपात समाप्त हुआ घोषित किया गया था, समाप्त होने वाली कालावधि अभिप्रेत है ;

¹ 1971 के अधिनियम सं. 75 की धारा 2 द्वारा (25-12-1971 से) खण्ड (च) के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

(ii) 3 दिसम्बर, 1971 को निकाली गई आपात की उद्घोषणा के संबंध में, 3 दिसम्बर, 1971 को आरम्भ होने वाली और ऐसी तारीख को जिसे केन्द्रीय सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, उस तारीख के रूप में घोषित करे जिसको कि उक्त आपात समाप्त हो जाएगा, समाप्त होने वाली कालावधि अभिप्रेत है ;]

(छ) “विहित” से धारा 22 के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा विहित अभिप्रेत है ;

(ज) “पूर्ण निःशक्तता” से ऐसी निःशक्तता अभिप्रेत है, चाहे वह अस्थायी प्रकृति की हो या स्थायी प्रकृति की, जो किसी कर्मकार को ऐसे सब काम के लिए असमर्थ कर देती है जिसे करने के लिए वह उस समय समर्थ था जब क्षति हुई थी :

परन्तु अनुसूची में विनिर्दिष्ट हर क्षति के या क्षतियों के समुच्चय के बारे में वहां, जहां कि निःशक्तता का प्रतिशत या संकलित प्रतिशत, जैसा वह अनुसूची में ऐसी क्षति या क्षतियों के समुच्चय के सामने विनिर्दिष्ट है, सौ प्रतिशत या उससे अधिक होता है, यह समझा जाएगा कि उसके परिणामस्वरूप स्थायी पूर्ण निःशक्तता हुई है ;

(झ) “स्कीम” से धारा 8 की उपधारा (1) में निर्दिष्ट वैयक्तिक क्षति (प्रतिकर बीमा) स्कीम अभिप्रेत है ;

(ञ) “मजदूरी” से कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 (1923 का 8) में यथापरिभाषित मजदूरी अभिप्रेत है, और मासिक मजदूरी का वही अर्थ है जो इस पद को कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 की धारा 5 द्वारा समनुदिष्ट है और इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए इसका हिसाब उस रीति से किया जाएगा जो उक्त धारा में अधिकथित है ;

(ट) “कर्मकार” से (उस व्यक्ति से, जिसका नियोजन नैमित्तिक प्रकृति का है और जो नियोजक के व्यापार या कारखाने के प्रयोजनों के लिए नियोजित होने से अन्यथा नियोजित है, भिन्न) कोई व्यक्ति अभिप्रेत है जो धारा 3 में विनिर्दिष्ट नियोजनों में से किसी में नियोजित है ।

अध्याय 2 अधिनियम के अधीन संदेय प्रतिकर

3. कर्मकार जिन्हें यह अधिनियम लागू होता है — वे कर्मकार, जिन्हें यह अधिनियम लागू होता है, ये हैं —

(क) किसी ऐसे नियोजन या नियोजन-वर्ग में नियोजित कर्मकार जो '[भारत रक्षा नियम, 1962 के नियम, 126कक या भारत रक्षा नियम, 1971 के नियम 119], के अधीन आवश्यक सेवा है या घोषित किया गया है ;

(ख) कारखाना अधिनियम, 1948 (1948 का 63) की धारा 2 के खण्ड (ड) में यथापरिभाषित कारखाने में नियोजित कर्मकार ;

(ग) खान अधिनियम, 1952 (1952 का 35) के अर्थ के अंदर की किसी खान में नियोजित कर्मकार ;

(घ) किसी महापत्तन में नियोजित कर्मकार ;

(ङ) बागान श्रम अधिनियम, 1951 (1951 का 69) की धारा 2 के खण्ड (च) में यथापरिभाषित बागान में नियोजित कर्मकार ;

(च) केन्द्रीय सरकार द्वारा अधिसूचना द्वारा इस निमित्त विनिर्दिष्ट नियोजन में नियोजित कर्मकार ।

4. अधिनियम के अधीन संदेय प्रतिकर किसके द्वारा और कैसे संदेय होगा — (1) ऐसी शर्तों के अधीन जैसी कि स्कीम में विनिर्दिष्ट की जाएं, अभिलाभपूर्वक लगे हुए व्यक्ति को, जो ऐसा कर्मकार हो, जिसे यह अधिनियम लागू होता है, हुई वैयक्तिक क्षति की बाबत, वैयक्तिक क्षति (आपात उपबंध) अधिनियम, 1962 (1962 का 59) के अधीन उपबंधित किसी अनुतोष के अतिरिक्त, नियोजक द्वारा वह प्रतिकर संदेय होगा जिसकी रकम और किस्म धारा 7 द्वारा उपबंधित है :

परन्तु जहां कि किसी नियोजक ने धारा 9 की उपधारा (1) द्वारा अपेक्षित रूप में बीमा पालिसी ली हुई हो और उस पर प्रीमियम के रूप में सब संदाय, जो तत्पश्चात् उसके द्वारा शोध्द हों, स्कीम के उपबंधों के अनुसार कर दिए हों, अथवा जहां कि धारा 9 की उपधारा (1) के या धारा

¹ 1971 के अधिनियम सं. 75 की धारा 3 द्वारा (25-12-1971 से) कतिपय शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

10 की उपधारा (2) के उपबंधों के द्वारा नियोजक से बीमा कराने की अपेक्षा नहीं की गई है, वहां केन्द्रीय सरकार, नियोजक की ओर से, इस उपधारा के अधीन प्रतिकर संदत्त करने के नियोजक के दायित्व को ग्रहण करेगी और उसका निर्वहन करेगी।

(2) इस अधिनियम के अधीन संदेय प्रतिकर स्कीम में इस निमित्त किए गए उपबंधों के अनुसार संदेय होगा।

(3) यह धारा सरकार पर आबद्धकर होगी।

5. इस अधिनियम के और 1962 के अधिनियम 59 के अधीन से अन्यथा प्रतिकर प्राप्त करने के अधिकार पर परिसीमा — जहां कि किसी व्यक्ति को किसी ऐसी वैयक्तिक क्षति की बाबत, जिसकी बाबत प्रतिकर इस अधिनियम के अधीन संदेय है, नियोजक से इस अधिनियम के और वैयक्तिक क्षति (आपात उपबंध) अधिनियम, 1962 (1962 का 59) के उपबंधों के अलावा प्रतिकर चाहे वह उपदान, पेन्शन या अनुकंपा-संदाय के रूप में हो या अन्यथा या नुकसानी प्राप्त करने का अधिकारी हो, वहां उस अधिकार का विस्तार ऐसे प्रतिकर या नुकसानी के केवल उतने भाग तक होगा जितना इस अधिनियम के अधीन संदेय प्रतिकर की रकम से अधिक हो।

6. सरकार के कर्मचारियों के संबंध में विशेष उपबंध — जहां कि सरकार के नियोजन में के किसी व्यक्ति को, सरकार से, अपनी सेवा की शर्तों को विनियमित करने वाले नियमों के अधीन, उस अधिनियम के या वैयक्तिक क्षति (आपात उपबंध) अधिनियम, 1962 (1962 का 59) के उपबंधों के अलावा, किसी ऐसी वैयक्तिक क्षति की बाबत, जिसकी बाबत प्रतिकर इस अधिनियम के अधीन संदेय हो, कोई धनराशि चाहे वह असाधारण पेन्शन, उपदान या अनुकंपा-संदाय के रूप में हो या नुकसानी के रूप में, प्राप्त करने का अधिकार हो, वहां इस अधिनियम या वैयक्तिक क्षति (आपात उपबंध) अधिनियम, 1962 में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, उस व्यक्ति को उन नियमों के अधीन अनुज्ञेय धनराशि प्राप्त करने का अधिकार होगा और यदि ऐसे अनुज्ञेय धनराशि इस अधिनियम और वैयक्तिक क्षति (आपात उपबंध) अधिनियम, 1962 के अधीन संदेय रकम से कम हो, तो उसको यह अतिरिक्त अधिकार भी होगा कि वह न नियमों के अधीन अनुज्ञेय धनराशि और इस अधिनियम के अधीन संदेय प्रतिकर की रकम के अन्तर के बराबर रकम प्राप्त करे।

7. प्रतिकर की रकम — (1) इस अधिनियम के अधीन संदेय प्रतिकर इस प्रकार होगा :—

(क) जहां कि क्षति के परिणामस्वरूप मृत्यु हो जाती है वहां वैसे ही मामले में कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 (1923 का 8) के अधीन संदेय रकम में से वैयक्तिक क्षति (आपात उपबंध) अधिनियम, 1962 (1962 का 59) के अधीन संदेय रकम का एकमुश्त मूल्य घटाकर शेष रकम ;

(ख) जहां कि क्षति के परिणामस्वरूप पूर्ण निःशक्तता हो जाती है, वहां वैसे ही मामले में कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 (1923 का 8) के अधीन संदेय रकम में से वैयक्तिक क्षति (आपात उपबंध) अधिनियम, 1962 (1962 का 59) के अधीन संदेय रकम का एकमुश्त मूल्य घटाकर शेष रकम ;

(ग) जहां कि भूमि के परिणामस्वरूप स्थायी आंशिक निःशक्तता हो जाती है, वहां —

(i) ऐसी क्षति की दशा में जो अनुसूची में विनिर्दिष्ट है उस प्रतिकर का, जो स्थायी पूर्ण निःशक्तता की दशा में संदेय होता, ऐसा प्रतिशत जैसा निःशक्तता के प्रतिशत के रूप में उसमें विनिर्दिष्ट है ;

(ii) ऐसी क्षति की दशा में जो अनुसूची में विनिर्दिष्ट नहीं है, उस प्रतिकर का ऐसी निःशक्तता के लिए अनुसूची में विनिर्दिष्ट प्रतिशत जैसी वैयक्तिक क्षति (आपात उपबंध) अधिनियम, 1962 (1962 का 59) के अधीन बनाई गई स्कीम के अधीन कार्य कर रहे सक्षम चिकित्सा प्राधिकारी द्वारा तत्समान कोटि की ठहराई जाए ;

(iii) जहां कि एक से अधिक क्षतियां होती हैं, वहां उन क्षतियों की बाबत संदेय संकलित प्रतिकर, किन्तु ऐसे कि यह प्रतिकर किसी भी दशा में उस प्रतिकर से अधिक न हो, जो तब संदेय होता जब उन क्षतियों के परिणामस्वरूप स्थायी पूर्ण निःशक्तता हो गई होती ;

(घ) जहां कि क्षति के परिणामस्वरूप अस्थायी निःशक्तता, चाहे पूर्ण या आंशिक हो जाती है, वहां कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923

(1923 का 8) के अधीन वैसे ही मामले में संदेय अर्धमासिक संदाय, किन्तु हर एक मामले में जब तक वह वैयक्तिक क्षति (आपात उपबंध) अधिनियम, 1962 (1962 का 59) के अधीन बनाई गई स्कीम के अधीन संदाय प्राप्त करता रहे तब तक उस संदाय में से वह रकम घटाकर जो उक्त स्कीम के अधीन संदेय हो ।

(2) जहां कि कर्मकार की मासिक मजदूरी पांच सौ रुपए से अधिक है, वहां इस अधिनियम के अधीन संदेय प्रतिकर वह रकम होगी जो उस कर्मकार की दशा में, जिसकी मासिक मजदूरी चार सौ रुपए से अधिक है, उपधारा (1) के उपबंधों के अधीन संदेय हो ।

अध्याय 3

वैयक्तिक क्षति (प्रतिकर बीमा) स्कीम

8. वैयक्तिक क्षति (प्रतिकर बीमा) स्कीम — (1) केन्द्रीय सरकार, अधिसूचना द्वारा, एक स्कीम प्रवर्तन में लाएगी जो वैयक्तिक क्षति (प्रतिकर बीमा) स्कीम कही जाएगी, जिसके द्वारा इस अधिनियम के प्रयोजनों को प्रभावी बनाने के लिए आवश्यक सब बातों के लिए उपबंध किया जाए और जिसके द्वारा केन्द्रीय सरकार, उन कर्मकारों के नियोजकों के संबंध में, जिन्हें यह अधिनियम लागू होता है, इस अधिनियम के और स्कीम के अधीन उनके द्वारा कर्मकारों के प्रति उपगत दायित्वों के विरुद्ध ऐसे नियोजकों का बीमा करने का जिम्मा ले :

¹[परन्तु आपात की विभिन्न कालावधियों के संबंध में विभिन्न स्कीमों प्रवर्तित की जाएंगी ।]

(2) स्कीम यह सुनिश्चित करेगी कि केन्द्रीय सरकार का स्कीम के अधीन बीमाकर्ता के रूप में कोई भी दायित्व केन्द्रीय सरकार की ओर से कार्य करने वाले किसी व्यक्ति द्वारा दी गई विहित प्ररूप की बीमा पालिसी द्वारा अवधारित कर दिया जाए ।

(3) स्कीम यह उपबंध कर सकेगी कि वह उस तारीख को, जो उसमें विनिर्दिष्ट की जाए, प्रवर्तन में आएगी या प्रवर्तन में आ गई समझी जाएगी ।

(4) स्कीम केन्द्रीय सरकार द्वारा किसी भी समय संशोधित की जा सकेगी ।

¹ 1971 के अधिनियम सं. 75 की धारा 4 द्वारा (25-12-1971 से) अंतःस्थापित ।

(5) उपधारा (1) के उपबंधों की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, स्कीम -

(क) इस अधिनियम और स्कीम के अधीन संदेय प्रतिकर के संदाय को विनियमित करने वाले उपबंध बना सकेगी, जिनके अंतर्गत स्कीम की किसी अपेक्षा के उल्लंघन के लिए दो हजार रुपए से अनधिक जुर्माने द्वारा दंड का उपबंध आता है ;

(ख) वे व्यक्ति जिनको और वे अनुपात और रीति जिनमें इस अधिनियम के अधीन संदाय किए जाएंगे, विनिर्दिष्ट करने वाले उपबंध बना सकेगी ।

(ग) वैयक्तिक क्षति (आपात उपबंध) अधिनियम, 1962 (1962 का 59) के अधीन संदेय रकम का एकमुश्त मूल्य अवधारित करने के लिए उपबंध बना सकेगी ;

(घ) वे दशाएं या परिस्थितियां विनिर्दिष्ट कर सकेगी जिनमें कर्मकार इस अधिनियम के अधीन संदेय प्रतिकर के लिए निर्हकित हो जाएगा, और स्कीम के अधीन दी गई बीमा पालिसी की इसे एक अभिव्यक्त या विवक्षित शर्त बना सकेगी कि ऐसी विनिर्दिष्ट की अवज्ञा में किया गया प्रतिकर का संदाय पालिसी के अंतर्गत नहीं आएगा ;

(ङ) वे दशाएं या परिस्थितियां विनिर्दिष्ट कर सकेगी जिनमें किसी कर्मकार को संदेय प्रतिकर उस दशा में विधारित किया, रद्द किया, घटाया या पुनर्विलोकित किया जा सकेगा जिसमें वैयक्तिक क्षति (आपात उपबंध) अधिनियम, 1962 (1962 का 59) के अधीन बनाई गई स्कीम के अधीन किया गया अधिनिर्णय विधारित किया, रद्द किया, घटाया या पुनर्विलोकित किया जाए ;

(च) उन दशाओं के लिए उपबंध कर सकेगी जिनमें किसी नियोजक ने, इस अधिनियम द्वारा अधिरोपित पूरे दायित्व का या उसके किसी भाग का जिम्मा स्वेच्छा से लिया हो ;

(छ) स्कीम के अधीन किसी बीमा पालिसी पर शोध्य कुल प्रीमियम का अंतिम निर्धारण या तो नियोजक द्वारा पहले ही किए जा चुके सब प्रीमियम के अग्रिम संदायों के समतुल्य के रूप में, या नियोजक द्वारा दिए गए अग्रिम संदायों की रकम जिन कालावधियों के

संबंध में नियत की गई थी उनके लिए नियोजक के कुल मजदूरी बिलों के प्रतिशत के रूप में, या आपात की कालावधि के अवसान के अव्यवहित पूर्वगामी बारह से अन्यून और पन्द्रह से अनधिक मास की कालावधि के लिए नियोजक के कुल मजदूरी बिल के प्रतिशत के रूप में किए जाने का उपबंध कर सकेगी और किसी ऐसी पालिसी पर शोध्य कुल प्रीमियम के निर्धारण के लिए उपबंध कर सकेगी जिसका प्रवृत्त रहना आपात की कालावधि के अवसान के पूर्व ही इस कारण समाप्त हो गया हो कि नियोजक इस कारबार से निकल गया है ;

(ज) किसी बीमा पालिसी पर शोध्य कुल प्रीमियम की किसी नियोजक से वसूली के लिए उपबंध कर सकेगी, जिसके अंतर्गत किसी विहित कालावधि के लिए उसके कुल मजदूरी बिलों के प्रतिशत पर आधारित रकम के कालिक अग्रिम संदायों द्वारा वसूली के लिए, हर एक नियोजक द्वारा ऐसे किए गए संदायों के अलग-अलग निधियों में रखे जाने के लिए, और अंतिम रूप से निर्धारित कुल प्रीमियम का ऐसे कालिक संदायों के योग के विरुद्ध अंतिम समायोजन किए जाने के लिए उपबंध आता है :

परन्तु जहां कि विहित कालावधि के कुल मजदूरी बिलों पर आधारित कालिक संदाय की रकम आठ रुपए से कम हो वहां उसे बढ़ाकर आठ रुपए कर दिया जाएगा :

परन्तु यह और कि ऐसे कालिक संदायों में से प्रथम संदाय, पूर्वोक्त आठ रुपए के न्यूनतम के अध्यधीन रहते हुए उस दर से होगा जो केन्द्रीय सरकार इस निमित्त विनिर्दिष्ट करे :

परन्तु यह और कि ऐसे कालिक संदाय वर्ष की हर एक तिमाही में एक बार से अधिक बार नहीं होंगे :

परन्तु यह और कि प्रथम कालिक संदाय के पश्चात् के किसी भी कालिक संदाय के दर, पूर्वोक्त आठ रुपए के न्यूनतम के अध्यधीन रहते हुए, वह होगी जो कि केन्द्रीय सरकार, इस अधिनियम के अधीन के अपने दायित्व पर विचार करने के पश्चात् समय-समय पर नियत करे, और केन्द्रीय सरकार, जहां कि निधि में की कुल रकम को ध्यान में रखते हुए यह अपेक्षा हो वहां किसी कालिक संदाय को या तो अधित्यक्त या मुलतवी कर सकेगी ।

9. अनिवार्य बीमा — (1) ऐसे कर्मकारों का हर नियोजक जिन्हें यह अधिनियम लागू होता है या बाद में लागू कर दिया जाए, किसी ऐसे नियोजक के सिवाय जिसका इस अधिनियम के प्रारम्भ होने के पश्चात् किसी तिमाही के लिए कुल मजदूरी बिल पन्द्रह सौ रुपए से कभी अधिक न हुआ हो, उस तारीख के पूर्व जो विहित की जाए या उसके प्रथम बार ऐसा नियोजक बनने के पश्चात् उस कालावधि के अवसान के पूर्व, जो विहित की जाए, इस स्कीम के अनुसार निकाली गई एक बीमा पालिसी लेगा, जिसके द्वारा वह, अपने पर इस अधिनियम द्वारा अधिरोपित सब दायित्वों के विरुद्ध बीमा, आपात की कालावधि के अवसान के पूर्व की उस तारीख तक के लिए, यदि कोई हो, जिसको वह ऐसा नियोजक न रह जाए जिससे यह धारा लागू होती है, किया जाए।

(2) जो कोई उपधारा (1) के उपबंधों का उल्लंघन करेगा, या उस उपधारा द्वारा यथा अपेक्षित बीमा पालिसी लेकर उस पर प्रीमियम के रूप में ऐसा संदाय करने में, जो स्कीम के उपबंधों के अनुसार उसके द्वारा तत्पश्चात् शोध्य हो, असफल रहेगा, वह जुर्माने से, जो दो हजार रुपए तक का हो सकेगा, दंडनीय होगा और ऐसे दोषसिद्ध किए जाने के पश्चात् के हर ऐसे दिन के लिए, जिसको वह उल्लंघन या असफलता चालू रहे, अतिरिक्त जुर्माने से भी दंडनीय होगा जो एक हजार रुपए तक का हो सकेगा।

(3) यह धारा सरकार पर आबद्धकर न होगी।

10. मालिक और ठेकेदार — (1) जहां कि कोई व्यक्ति (जिसे इस धारा में मालिक कहा गया है) अपने व्यापार या कारबार के अनुक्रम में या के प्रयोजनों के लिए, उन कर्मकारों की सेवाओं का उपयोग करे जिनकी सेवाएं अस्थायी रूप से उसे उधार या भाड़े पर किसी अन्य ऐसे व्यक्ति के साथ ठहराव द्वारा, जिससे कि उन कर्मकारों ने सेवा या शिक्षुता की संविदाएं की हों, दी गई हों, अथवा अपने व्यापार या कारबार के अनुक्रम में या के प्रयोजनों के लिए, किसी अन्य व्यक्ति के साथ उस अन्य व्यक्ति द्वारा या के अधीन किसी ऐसे सम्पूर्ण कार्य या उसके किसी भाग के निष्पादन के लिए संविदा करे, जो मामूली तौर पर मालिक के व्यापार या कारबार का भाग हो (जिन ऐसे दोनों अन्य व्यक्तियों में से हर एक को इस धारा में ठेकेदार कहा गया है) वहां मालिक ठेकेदार से, धारा 11 के अधीन कार्य करने वाले केन्द्रीय सरकार के उस अभिकर्ता का नाम अभिप्राप्त

करेगा जिससे बीमा कराने का वह आशय रखता हो और ठेकेदार के साथ अपने ठहराव या संविदा के अस्तित्व की रिपोर्ट उस अभिकर्ता को देगा ।

(2) इस अधिनियम में अन्यत्र अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, किसी ऐसी दशा में, जैसी उपधारा (1) में निर्दिष्ट है, वहां जहां कि ठहराव या संविदा एक मास से कम की अवधि के लिए हो, ठेकेदार के लिए यह आवश्यक नहीं होगा कि वह अपने द्वारा नियोजित उन कर्मकारों की बाबत इस अधिनियम द्वारा उस पर अधिरोपित दायित्वों के लिए बीमा कराए, जिनकी सेवाएं किसी ऐसे ठहराव पर उधार या भाड़े पर दी गई हों, या किसी ऐसी संविदा के अधीन के कार्य के निष्पादन में उपयोग में लाई गई हों, जो उपधारा (1) में निर्दिष्ट हैं ।

(3) स्कीम, ठेकेदार द्वारा मालिक को किसी ऐसी जानकारी का प्रदाय किए जाने के लिए उपबंध कर सकेगी जो इस धारा के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने को समर्थ बनाने के लिए आवश्यक हो, जिसके अंतर्गत स्कीम की किसी अपेक्षा के उल्लंघन के लिए दो हजार रुपए में अनधिक के जुर्माने द्वारा दंड का उपबंध आता है ।

11. केन्द्रीय सरकार द्वारा अभिकर्ताओं का नियोजन — केन्द्रीय सरकार, अधिसूचना द्वारा किसी व्यक्ति का, इस अधिनियम के किन्हीं प्रयोजनों के लिए उसके अभिकर्ता के रूप में कार्य करने के लिए नियोजन कर सकेगी या ऐसा नियोजन प्राधिकृत कर सकेगी और ऐसे नियोजित व्यक्ति को उतना पारिश्रमिक दे सकेगी जितना वह सरकार ठीक समझे ।

12. कुछ बीमा कारबार का प्रतिषेध — (1) उस तारीख के पश्चात् जिसको स्कीम प्रवर्तन में लाई जाए, कोई भी व्यक्ति उस व्यक्ति के रूप में के सिवाय, जिसे स्कीम के अनुसरण में पालिसियां देने के लिए केन्द्रीय सरकार ने अपने अभिकर्ता के रूप में प्राधिकृत किया है, भारत के नियोजकों का उन दायित्वों के लिए बीमा करने का कारबार नहीं चलाएगा जिनके विरुद्ध बीमा का उपबंध स्कीम करती हो ।

(2) उपधारा (1) में की कोई भी बात, किसी ऐसी बीमा पालिसी को, जो उस तारीख के पहले की गई हो जिसको स्कीम प्रवर्तन में लाई जाए और उस तारीख के पश्चात् चालू रहे, अथवा किसी ऐसी बीमा पालिसी को, जो ऐसे दायित्वों के बारे में हो, जो इस अधिनियम द्वारा अधिरोपित दायित्वों से आधिक्य में हो, लागू नहीं होती है ।

(3) जो कोई उपधारा (1) के उपबंधों का उल्लंघन करेगा, वह जुर्माने से, जो पांच हजार रुपए तक का हो सकेगा और अतिरिक्त जुर्माने से, जो प्रथम दिन के पश्चात् हर ऐसे दिन के लिए, जिसको उल्लंघन चालू रहे, एक हजार रुपए तक का हो सकेगा, दंडनीय होगा ।

13. वैयक्तिक क्षति (प्रतिकर बीमा) निधि — (1) केन्द्रीय सरकार वैयक्तिक क्षति (प्रतिकर बीमा) निधि कही जाने वाली एक निधि को (जिसे एतस्मिन् पश्चात् “निधि” कहा गया है), हर एक वित्तीय वर्ष में इतनी राशियां, जितनी आवश्यक समझी जाएं, संसद् द्वारा इस निमित्त विधि द्वारा सम्यक् विनियोग कर दिए जाने के पश्चात् अंतरित कर सकेगी, जो राशियां केन्द्रीय सरकार द्वारा स्कीम के अधीन बीमा प्रीमियमों के रूप में या धारा 18 के अधीन अपराधों के शमन पर किए गए संदायों के रूप में, या इस अधिनियम के अधीन के किसी अभियोजन में अधिरोपित जुर्माने में से न्यायालय द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 (1898 का 5) की धारा 545 के अधीन दिलवाए गए व्ययों या प्रतिकर के रूप में, या स्कीम के अधीन अधिरोपित शास्तियों के रूप में, केन्द्रीय सरकार द्वारा प्राप्त राशियों से अधिक नहीं होगी ।

(2) इस निधि में से वे सब राशियां संदत्त की जाएंगी जो केन्द्रीय सरकार द्वारा इस अधिनियम या स्कीम के अधीन के अपने दायित्वों के निर्वहन के लिए, या स्कीम के प्रयोजनों के लिए नियोजित अभिकर्ताओं के पारिश्रमिक और व्ययों के केन्द्रीय सरकार द्वारा संदाय के लिए, या स्कीम के प्रशासन-खर्च के केन्द्रीय सरकार द्वारा संदाय के लिए अपेक्षित हों :

परन्तु निधि में से कोई भी संदाय सरकार द्वारा नियोजित कर्मकारों को प्रतिकर का संदाय करने के सरकार के किसी दायित्व के निर्वचन में नहीं किया जाएगा ।

(3) यदि किसी ऐसे समय जब निधि में से कोई संदाय किया जाना हो, निधि में जमा राशि, उस संदाय के लिए अपेक्षित राशि से कम हो तो कमी के बराबर रकम, संसद् द्वारा विधि द्वारा किए गए सम्यक् विनियोग के पश्चात्, भारत की संचित निधि में से अग्रिम के रूप में निधि में जमा कर दी जाएगी ।

(4) यदि किसी समय निधि में जमा रकम उस राशि से अधिक हो, जो निधि में से संदत्त किए जाने के लिए केन्द्रीय सरकार की राय में

संभाव्यतः अपेक्षित हो, तो आधिक्य का व्ययन ऐसी रीति से किया जाएगा जैसी केन्द्रीय सरकार ठीक समझे ।

(5) केन्द्रीय सरकार, निधि में प्राप्त और उसमें से संदत्त सभी राशियों का लेखा ऐसे प्ररूप में और ऐसी रीति में, जैसी विहित की जाए, तैयार करेगी और या तो प्रतिवर्ष या ऐसे लघुतर अंतरालों पर, जैसे उसमें विनिर्दिष्ट किए जाएं, प्रकाशित करेगी ।

अध्याय 4

प्रकीर्ण

14. जानकारी अभिप्राप्त करने की केन्द्रीय सरकार की शक्ति -

(1) केन्द्रीय सरकार द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत कोई व्यक्ति, यह अभिनिश्चित करने के प्रयोजन के लिए कि क्या इस अधिनियम की तथा स्कीमों की अपेक्षाओं का अनुपालन किया गया है, किसी नियोजक से यह अपेक्षा कर सकेगा कि वह उसे ऐसे लेखें, पुस्तकें या अन्य दस्तावेजें प्रस्तुत करे या से ऐसी जानकारी दे या ऐसे प्रमाणपत्र दे जैसे वह व्यक्ति युक्तियुक्त रूप से आवश्यक समझे ।

(2) जो कोई किसी व्यक्ति के इस धारा के अधीन की उसकी शक्तियों के प्रयोग में जानबूझकर बाधा डालेगा या तद्धीन की गई किसी अपेक्षा का अनुपालन करने में युक्तियुक्त प्रतिहेतु के बिना असफल रहेगा, वह उस हर एक अवसर के बारे में, जिसको ऐसी कोई बाधा या असफलता होती है, जुर्माने से, जो एक हजार रुपए तक का हो सकेगा, दंडनीय होगा ।

(3) जो कोई इस धारा के अधीन की अपनी बाध्यताओं के तात्पर्यित अनुपालन में जानते हुए या लापरवाही से ऐसा कथन करेगा, जो किसी तात्त्विक विशिष्टि में मिथ्या हो, वह जुर्माने से, जो एक हजार रुपए तक का हो सकेगा, दंडनीय होगा ।

15. असंदत्त प्रीमियम की वसूली - (1) धारा 9 की उपधारा (2) के उपबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, जहां कि कोई व्यक्ति इस अधिनियम और स्कीम द्वारा अपेक्षित रूप में या अपेक्षित पूरी रकम तक बीमा कराने में असफल रहा है और तद्वारा वह प्रीमियम के रूप में किसी ऐसे धन के संदाय से, जो उसे ऐसी असफलता न होने की दशा में स्कीम के उपबंधों के अनुसार संदत्त करना होता, बच निकला है, वहां केन्द्रीय सरकार द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत कोई आफिसर उस रकम का, जिसके संदाय से वह ऐसे बच निकला है, अवधारण कर सकेगा और ऐसे अवधारित

रकम ऐसे व्यक्ति द्वारा देय होगी और उपधारा (2) में उपबंधित रूप में उससे वसूलीय होगी ।

(2) स्कीम के अधीन की गई बीमा पालिसी पर प्रीमियम के रूप में, स्कीम के उपबंधों के अनुसार देय धनराशि और उपधारा (1) के अधीन देय के रूप में अवधारित की गई रकम भू-राजस्व की बकाया के रूप में वसूलीय होगी ।

(3) कोई भी व्यक्ति, जिसके विरुद्ध उपधारा (1) के अधीन अवधारण किया जाए, विहित कालावधि के भीतर, ऐसे अवधारण के विरुद्ध अपील केन्द्रीय सरकार को कर सकेगा, जिसका विनिश्चय अन्तिम होगा ।

16. प्रतिकर का वहां संदाय जहां कि नियोजक बीमा करने में असफल रहा हो — जहां कि कोई नियोजक, धारा 9 की उपधारा (1) द्वारा अपेक्षित रूप में बीमा पालिसी लेने में असफल रहा हो, या उस उपधारा द्वारा अपेक्षित रूप में बीमा पालिसी लेकर, उस पर के उन प्रीमियमों का संदाय करने में असफल रहा हो, जो स्कीम के उपबंधों के अनुसार तत्पश्चात् उसके द्वारा शोध्य हों, वहां किसी ऐसे प्रतिकर का संदाय, जिसके संदाय के लिए वह इस अधिनियम के अधीन दायी हो, निधि में से किया जाएगा, और ऐसे संदत्त राशि, ऐसे संदत्त राशि से अनधिक ऐसी रकम की शास्ति सहित, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत आफिसर द्वारा अवधारित की जाए, निधि में संदाय के लिए जमा किए जाने के लिए, नियोजक से भू-राजस्व की बकाया के रूप में वसूलीय होगी ।

17. अभियोजनों पर निर्बधन — इस अधिनियम के अधीन दंडनीय किसी अपराध के लिए किसी व्यक्ति के विरुद्ध कोई भी अभियोजन, केन्द्रीय सरकार या उस सरकार द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत प्राधिकारी द्वारा या की सम्मति से संस्थित किए जाने के सिवाय संस्थित नहीं किया जाएगा ।

18. अपराधों का शमन — धारा 9 की उपधारा (2) के अधीन दंडनीय किसी अपराध का, केन्द्रीय सरकार या उस सरकार द्वारा इस निमित्त प्राधिकृत प्राधिकारी द्वारा शमन, ऐसी धनराशि के जैसी, यथास्थिति, केन्द्रीय सरकार या वह प्राधिकारी ठीक समझे, निधि में जमा किए जाने के लिए संदाय पर, अभियोजन के संस्थित किए जाने के पूर्व या पश्चात् किया जा सकेगा ।

19. कोई भी दंड अधिरोपित करने की मजिस्ट्रेट के शक्ति — जहां

कि इस अधिनियम के विरुद्ध किसी अपराध का विचारण प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट या प्रथम वर्ग मजिस्ट्रेट द्वारा किया जाए, वहां अपराध का विचारण करने वाला मजिस्ट्रेट, इस अधिनियम द्वारा प्राधिकृत कोई भी दंडादेश, दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 (1898 का 5) में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, पारित कर सकेगा।

20. विधिक कार्यवाहियों का वर्जन — (1) कोई भी वाद, अभियोजन या अन्य विधिक कार्यवाही इस अधिनियम के अधीन सद्भावपूर्वक की गई या की जाने के लिए आशयित किसी बात के लिए किसी व्यक्ति के विरुद्ध नहीं होगी।

(2) किसी ऐसे धन के प्रतिदाय के लिए, जो इस अधिनियम के अधीन ली गई या ली गई तात्पर्यित बीमा पालिसी पर प्रीमियम के रूप में संदत्त किया गया हो या संदत्त किया गया तात्पर्यित हो, किसी सिविल न्यायालय में कोई भी वाद, केन्द्रीय सरकार के या धारा 11 के अधीन उसके अभिकर्ता के रूप में कार्य करने वाले किसी व्यक्ति के विरुद्ध न चल सकेगा।

21. नियोजकों को छूट देने की शक्ति — केन्द्रीय सरकार, यदि उसका समाधान हो जाए कि बीमाकर्ताओं के साथ नियोजक ने इस अधिनियम के प्रारम्भ के पहले ऐसी संविदा कर ली है जिसमें इस अधिनियम द्वारा उस नियोजक पर अधिरोपित दायित्व सारतः आ जाते हैं, उस नियोजक को, उसकी प्रार्थना पर इस अधिनियम के उपबंधों से छूट तब तक के लिए देगी जब तक वह संविदा चालू रहे।

22. नियम बनाने की शक्ति — (1) केन्द्रीय सरकार, इस अधिनियम के उपबंधों को कार्यान्वित करने के लिए नियम अधिसूचना द्वारा बना सकेगी।

(2) पूर्वगामी शक्ति की व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना ऐसे नियम निम्नलिखित विहित कर सकेंगे —

(क) वे सिद्धान्त जिनका अनुसरण नियोजक का कुल मजदूरी बिल अभिनिश्चित करने में किया जाना है, जिनके अंतर्गत उसमें से मजदूरी की कतिपय कोटियों के, या मजदूरी की परिभाषा में सम्मिलित कतिपय तत्वों के अपवर्जन के लिए उपबंध आता है ;

(ख) धारा 8 की उपधारा (2) में निर्दिष्ट बीमा पालिसियों का

प्ररूप ;

(ग) धारा 8 की उपधारा (5) के खंड (छ) में निर्दिष्ट कालावधि ;

(घ) धारा 9 की उपधारा (1) में निर्दिष्ट तारीख और कालावधि ;

(ङ) धारा 13 की उपधारा (5) में निर्दिष्ट लेखा का प्ररूप और उसे तैयार और प्रकाशित करने की रीति ;

(च) धारा 15 की उपधारा (3) में निर्दिष्ट कालावधियां ;

(छ) कोई अन्य विषय जो विहित किया जाना है या किया जाए ।

23. कठिनाइयों के निराकरण की शक्ति — यदि इस अधिनियम के उपबंधों को प्रभावी करने में कोई कठिनाई उद्भूत हो और विशिष्टतः यदि इस बारे में कि क्या इस अधिनियम के अधीन कोई प्रतिकर संदेय है, या उसके परिणाम के बारे में कोई संदेह उद्भूत हो, तो केन्द्रीय सरकार, आदेश द्वारा, ऐसा उपबंध कर सकेगी या ऐसा निदेश दे सकेगी, जो इस अधिनियम के उपबंधों से असंगत न हों, और जो उसे संदेह या कठिनाई के निराकरण के लिए आवश्यक या समीचीन प्रतीत हो ; और या ऐसे मामलों में केन्द्रीय सरकार का विनिश्चय अंतिम होगा ।

24. ¹[प्रत्येक स्कीम और नियम का संसद् के समक्ष रखा जाना] — इस अधिनियम के अधीन बनाई गई हर स्कीम और हर नियम बनाए जाने के पश्चात् यथाशक्य शीघ्र, संसद् के हर एक सदन के समक्ष, उस समय जब वह सत्र में हो, कुल मिलाकर तीस दिन की कालावधि के लिए, जो एक सत्र में या दो या अधिक क्रमवर्ती सत्रों में समाविष्ट हो सकेगी, रखा जाएगा और यदि उस सत्र के जिसमें वह ऐसे रखा गया हो या पूर्वोक्त क्रमवर्ती सत्रों के अवसान के पूर्व दोनों सदन उस स्कीम या नियम में कोई उपान्तर करने के लिए सहमत हो जाएं या दोनों सदन सहमत हो जाएं कि वह स्कीम या नियम नहीं बनाया जाना चाहिए तो तत्पश्चात्, यथास्थिति, वह स्कीम या नियम ऐसे उपान्तरित रूप में ही प्रभावशील होगा या उसका कोई भी प्रभाव न होगा, किन्तु ऐसे कि ऐसा कोई उपान्तर या बातिलकरण उस स्कीम या नियम के अधीन पहले की गई किसी बात की विधिमान्यता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना होगा ।

¹ 2005 के अधिनियम सं. 4 की धारा 2 और अनुसूची द्वारा (11-1-2005 से) कतिपय शब्दों के स्थान पर प्रतिस्थापित ।

अनुसूची
[धाराएं 2 और 7(1) देखिए]

क्षति का वर्णन	निःशक्तता का प्रतिशत
1	2
ऊर्ध्वशाखा	
दोनों हाथों की या सभी अंगुलियों और अंगूठों की हानि	100
स्कंध से दक्षिण भुजा का विच्छेदन	90
स्कंध से वाम भुजा का विच्छेदन	90
स्कंध से नीचे विच्छेदन, जबकि स्थूणक अंसकूट के सिरे से 6 इंच अधिक हो (दक्षिण)	80
स्कंध से नीचे विच्छेदन, जबकि स्थूणक 6 इंच से अधिक न हो (दक्षिण)	90
स्कंध से नीचे विच्छेदन, जबकि स्थूणक 6 इंच से अधिक न हो (वाम)	80
स्कंध से नीचे विच्छेदन, जबकि स्थूणक अंसकूट के सिरे से 6 इंच से अधिक हो (वाम)	70
कोहनी से या कोहनी से नीचे विच्छेदन, जबकि स्थूणक 5 इंच से अधिक न हो (दक्षिण)	80
कोहनी से या कोहनी के नीचे से विच्छेदन, जबकि स्थूणक 5 इंच से अधिक न हो (वाम)	70
कोहनी से नीचे विच्छेदन, जबकि स्थूणक 5 इंच से अधिक हो (दक्षिण)	70
कोहनी से नीचे विच्छेदन, जबकि स्थूणक 5 इंच से अधिक हो (वाम)	50

अंगूठे की हानि (दक्षिण)	50
अंगूठे की हानि (वाम)	40
चार अंगुलियों की हानि (दक्षिण)	50
चार अंगुलियों की हानि (वाम)	40
किसी भी हाथ की दो अंगुलियों की हानि	20
अधः शाखा	
दो या अधिक अंगों की हानि	100
दोनों पादों का विच्छेदन	100
नितम्ब पर या नितम्ब से नीचे एक टांग का विच्छेदन, जबकि स्थूणक 5 इंच से अधिक न हो	90
दोनों पादों का लिसफ्रेंक आपरेशन	80
नितम्ब से नीचे विच्छेदन, जबकि स्थूणक 5 इंच से अधिक हो	80
प्रपदांगुल्यस्थि संधि के निकट से दोनों पादों का विच्छेदन	80
प्रपदांगुल्यास्थि संधि से दोनों पादों की सब अंगुलियों की हानि	40
निकटस्थ अंतरागुल्यस्थि संधि के निकट दोनों पादों की सब अंगुलियों की हानि	30
निकटस्थ अंतरागुल्यस्थि संधि से दूर दोनों पादों की सब अंगुलियों की हानि	20
मध्य-उरु से नीचे घुटनों से या घुटनों के नीचे से टांग का विच्छेदन, जबकि स्थूणक 4 इंच से अधिक न हो	70
घुटने से नीचे टांग का विच्छेदन, जबकि स्थूणक 4 इंच से अधिक हो	60

एक पाद का लिसफ्रेंक विच्छेदन	40
प्रपदांगुल्यस्थि संधि के निकट एक पाद से विच्छेदन	30
निकटस्थ अंतरांगुल्यस्थि संधि के निकट से एक पाद की सब अंगुलियों की हानि, जिसके अंतर्गत प्रपदांगुल्यस्थि संधि से विच्छेदन आता है	20
अन्य विनिर्दिष्ट क्षति	
हाथ और पाद की हानि	100
अन्य निःशक्तताएं	
चेहरे की बहुत गम्भीर विद्रुपिता	100
वाक् शक्ति की पूर्ण हानि	70
वेधन के बिना क्षति से संधि-गति का सीमित निर्बन्धन, या अस्थिभंग से अंग की सीमित क्रिया, या ह्रासित क्रिया के साथ किसी भी हाथ के अंगूठे या 2 या अधिक अंगुलियों का विवृत्त अस्थिभंग	20

अनुकूलनतम, अर्थात् अधिकतम उपयोगिता की स्थिति में संधिग्रह

भुजा	दक्षिण	वाम
स्कंध	40%	30%
कोहनी	40%	30%
मणिबंध	30%	20%
टांग		
नितम्ब		60%
घुटना		40%
टखना		30%

त्रुटिपूर्ण दृक् शक्ति

दृष्टि की हानि	100%
एक नेत्र की हानि, जबकि कोई अन्य उपद्रव न हो और दूसरा नेत्र प्रसामान्य हो	40%
एक नेत्र की दृष्टि की हानि, उपद्रव या विद्रूपिता सहित, जब दूसरा नेत्र प्रसामान्य हो	40%
एक नेत्र की दृष्टि की हानि, जब कि उपद्रव या विद्रूपिता न हो और दूसरा नेत्र प्रसामान्य हो	30%

दृक् शक्ति की त्रुटि की अन्य मात्राएं

जबकि अधिकतम अभिप्राप्य तीक्ष्णता निम्नलिखित हो एक नेत्र में दूसरे नेत्र में				निर्धारण प्रतिशत	जबकि एक नेत्र निकाल दिया जाए, बचे हुए नेत्र में चश्मे के साथ या बिना अभिप्राप्य अधिकतम तीक्ष्णता निम्नलिखित हो				निर्धारण प्रतिशत
1.	6/6	6/24	}	15.19	1.	6/6	}	40	
	या	6/36		20	2.	6/9			
2.	6/9	6/60			3.	6/12			
	या	3/60							
3.	6/12	कुछ नहीं		30	4.	6/18		50	
4.	6/18	6/18		15.19	5.	6/24		70	
5.	6/18	6/24		30	6.	6/36		80	
6.	6/18	6/36	}	40	7.	6/60	}	90	
7.	6/18	6/60			8.	3/60			
8.	6/18	6/60							
9.	6/18	कुछ नहीं		50					
10.	6/24	6/24		30	9.	कुछ नहीं		100	
11.	6/24	6/36		40					

12.	6/24	6/60	50
13.	6/24	3/60	
14.	6/24	कुछ नहीं	70
15.	6/36	6/36	50
16.	6/36	6/60	60
17.	6/36	3/60	
18.	6/36	कुछ नहीं	80
19.	6/60	6/60	80
20.	6/60	3/60	
21.	6/60	कुछ नहीं	90
22.	3/60	3/60	80
23.	5/60	कुछ नहीं	90
24.	कुछ नहीं	कुछ नहीं	100

त्रुटिपूर्ण श्रवण शक्ति

निर्धारण दोनों कर्णों का एक साथ उपयोग करके प्राप्त श्रेणी पर आधारित होना चाहिए ; इस प्रकार प्राप्त श्रेणी के लिए समुचित निर्धारण प्रतिशत अंतिम स्तम्भ में दिया गया है ।

प्राप्त श्रवण शक्ति की श्रेणी	एक साथ उपयोग करके, दोनों कर्णों का निर्धारण
1. पूर्ण बधिरता	80%
2. उद्ध्वनि 3 फुट के परे न हो	70%
3. बातचीत की आवाज, 1 फुट से अधिक दूर नहीं	60%
4. बातचीत की आवाज, 3 फुट से अधिक दूर नहीं	40%
5. बातचीत की आवाज, 6 फुट से अधिक दूर नहीं	20%
6. बातचीत की आवाज, 9 फुट से अधिक दूर नहीं -	20%
(क) एक कर्ण पूर्णतया बधिर	
(ख) अन्यथा	20% से कम

इसलिए वह मामला जिसमें दक्षिण कर्ण ने श्रेणी 4 प्राप्त की हो, वाम कर्ण ने

श्रेणी 2 प्राप्त की हो और दोनों कर्णों ने मिलकर श्रेणी 3 प्राप्त की हो, इस प्रकार अभिलिखित किया जाना चाहिए –

d_4 वा d_2 $d_1 + d_3$ निर्धारण 60 प्रतिशत ।

ऊपर दिए हुए निर्धारण में, छोटी-छोटी व्याधियों को, जैसे शिरोवेदना, चक्कर आना, कर्ण क्षेड़, अनिद्रा आदि, जो कि साधारणतया बधिरता के साथ रहती हैं, ध्यान में रखा गया है !

प्रिवी कौंसिल

प्रिवी कौंसिल
निर्णय सूची

पृष्ठ संख्या

एटार्नी जनरल, एल्बर्ट बनाम एटार्नी जनरल, कनाडा और अन्य	92
एडगर सेमट तथा अन्य बनाम स्ट्रिकलैंड	73
नवाब मिर्जा मोहम्मद काजिम अली खां और एक अन्य बनाम नवाब मिर्जा मोहम्मद सादिक अली खां और अन्य	5
नाथू रामू महाजन और अन्य बनाम गंगाबाई	64
पंडित परमानंद बनाम निहाल चंद और एक अन्य	35
प्रताप सिंह और एक अन्य बनाम संत कौर और एक अन्य	1
भारत सचिव बनाम बैंक ऑफ इंडिया लि.	20
मलिक हरकिशन सिंह बनाम मलिक प्रताप सिंह और अन्य	16
महंत सतनाम सिंह बनाम बावन भगवान सिंह	58
मांग पो ह्ला और एक अन्य बनाम मांगवे सिन्त और अन्य	50
राजा श्याम सुन्दर सिंह और कुछ अन्य बनाम कालू राम अग्रवाल और कुछ अन्य	67
राना उमानाथ बरखा सिंह बनाम जंग बहादुर	86
राय बजरंग बहादुर सिंह और अन्य बनाम राय बेनी माधव बरखा सिंह और अन्य	53
रावलैंड एडी और अन्य बनाम बर्मा के महाप्रशासक—हुसैन हमदानी की संपदा के प्रशासक	41
सांई मौले शाह बनाम गनी शाह और अन्य	30
सूनी राम रामनिरंजन दास बनाम अलगिया नचियार कोइल (मंदिर)	78

प्रताप सिंह और एक अन्य.....अपीलार्थी

बनाम

संत कौर और एक अन्य.....प्रत्यर्थी

(लाहौर उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि.कौ. अपील सं. 1 सन् 1937)

निर्णीत : 1.4.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, लार्ड रोमर, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – आदेश 32 – जमींदारी के उत्तराधिकार विषयक वाद में अवयस्कों की ओर से समझौता उस व्यक्ति ने किया जो न उनका नैसर्गिक संरक्षक था और न न्यायालय द्वारा नियुक्त संरक्षक – समझौता अवयस्कों पर आबद्धकर नहीं – यदि बताए गए दो अवयस्कों में से एक भी अवयस्क था तब भी संपूर्ण समझौता शून्य होगा – ऐसे समझौते को कौटुम्बिक समझौता कह कर भी विधिमान्य नहीं माना जा सकता क्योंकि कौटुम्बिक समझौते में कुटुम्ब के पिता या कर्ता को अवयस्कों की ओर से कार्य करने का अधिकार होता है – जो यहां नहीं था ।

निर्णय

जस्टिस सर शादी लाल – शाम सिंह की विधवा श्रीमती जीवनी की मृत्यु 17.8.1920 को हुई । उसने दो अधर्मज पुत्रियां छोड़ी – संत कौर तथा बसंत कौर । श्रीमती जीवनी पंजाब प्रांत के लायलपुर जिले में चार भूखंडों की जमींदार थी । यह भूमि मूलतः उसके पति के दखल में सरकार के अभिधारी के रूप में थी । किंतु उसकी मृत्यु अक्टूबर, 1901 में हो गई । सरकार के अभिधारी द्वारा जमींदारी अधिकारों के अर्जन को लागू नियमों के अनुसार उसने कीमत अदा करके जमींदारी अधिकार प्राप्त नहीं किए थे । उसकी मृत्यु के बाद श्रीमती जीवनी ने वह कीमत अदा कर दी और अगस्त, 1910 में वह भूमि की जमींदार हो गई । उसकी मृत्यु के कुछ ही समय बाद भूमि के उत्तराधिकार का प्रश्न उठा । संपदा में नामांतरण के लिए राजस्व अधिकारी द्वारा की गई कार्यवाही के दौरान शाम सिंह के साम्प्रार्थिकों ने पुत्रियों के अपनी मां की मृत्यु पर विरासत के अधिकार से इनकार किया और स्वयं उन्होंने उसके वारिसों के रूप में संपूर्ण सम्पत्ति का दावा किया । ये साम्प्रार्थिक तीन थे, अर्थात् शाम सिंह के चाचा का

लड़का गूजर सिंह तथा गूजर सिंह के भाई सरमुख सिंह के लड़के प्रताप सिंह और करतार सिंह । उनका दावा था कि उनके कारण पुत्रियां विरासत से वर्जित हो गईं किंतु उनके तथा पुत्रियों के बीच के विवाद का निर्णय समझौते द्वारा हो गया । उसके निबंधन 22.4.1921 को निष्पादित एक विलेख में लिखे गए । वह संपदा सभी दावेदारों में बांट दी गई । एक-एक भूखंड दोनों लड़कियों को दे दिया गया और शेष दो भूखंड साम्प्रार्थिकों को दे दिए गए । किंतु उपबंध यह भी किया गया कि लड़कियों को दी गई भूमि में उनका केवल आजीवन हित होगा और अंतरण का अधिकार नहीं होगा और उनमें से किसी की मृत्यु पर उसकी भूमि साम्प्रार्थिकों को जाएगी ।

2. यह उभय पक्ष को मान्य है कि उस समय छोटी लड़की बसंत कौर अवयस्क थी । उसका प्रतिनिधित्व गूजर सिंह ने किया, जिसने भूमि के वितरण की सहमति देने में उसके संरक्षक के रूप में कार्य किया । नामांतरण कार्यवाही करने वाले राजस्व अधिकारी ने निदेश दिया कि भूमि विभिन्न पक्षकारों के नामों में उनके बीच हुए समझौते के अनुसार दर्ज की जाए । 15.8.1927 को गूजर सिंह ने अपना भूखंड दोनों लड़कियों को दान कर दिया और उनके पक्ष में एक दान-विलेख लिख दिया । इसके बाद उसने 16.8.1927 को दूसरी दस्तावेज लिखी, जिसके द्वारा उसने उनकी मृत्यु पर उनकी भूमि के उत्तराधिकार का अधिकार भी उसके पक्ष में त्यक्त कर दिया । तब प्रताप सिंह और करतार सिंह ने 8.10.1927 को लड़कियों और गूजर सिंह के विरुद्ध एक वाद किया कि घोषित किया जाए कि न तो दान-विलेख और न त्याग-विलेख से उनके सम्पत्ति के उत्तरभोगी अधिकार प्रभावित होंगे । 31.10.1927 को लड़कियों ने उस भूखंड के कब्जे लिए वाद दाखिल किया जो प्रताप सिंह और करतार सिंह को आबंटित किया गया था । उन्होंने दावा किया कि वे अपनी मां की संपूर्ण संपदा की उत्तराधिकारिणी हैं और वे समझौता-विलेख से आबद्ध नहीं हैं जो उनकी अवयस्कता के दौरान लिखा गया । विचारण न्यायाधीश ने निर्णय किया कि समझौता-विलेख पक्षकारों पर आबद्धकर है । उन्होंने लड़कियों के एक भूखंड के कब्जे का वाद खारिज करते हुए प्रताप सिंह और करतार सिंह के पक्ष में एक घोषणात्मक डिक्री केवल उनके द्वारा आक्षिप्त दान-विलेख की बाबत दी । लड़कियों ने उच्च न्यायालय में उन दोनों डिक्रियों के विरुद्ध, जहां तक कि वे उनके विरुद्ध थीं, अपीलें कीं और उनकी अपीलें मंजूर हो गईं । परिणामतः उनका भूखंड के कब्जे का दावा साम्प्रार्थिकों के विरुद्ध

डिक्री हो गया और साम्प्रार्थिकों द्वारा किया गया घोषणा का वाद पूर्णतः खारिज हो गया ।

3. उच्च न्यायालय के निर्णय और डिक्री के विरुद्ध प्रताप सिंह और करतार सिंह ने सपरिषद् हिज मैजेस्टी को दो अपीलें की हैं जो समेकित कर दी गई हैं । अवधारणार्थ मार्मिक प्रश्न यह है कि क्या समझौता-विलेख लड़कियों पर आबद्धकर है । जैसा कि पहले बताया गया, भूमि की कीमत उनकी मां श्रीमती जीवनी ने अदा की थी और विचारण न्यायालय में यह विवादित नहीं था कि उससे उसने उस सम्पत्ति का स्वामित्व अधिकार प्राप्त कर लिया था । वस्तुतः उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में लिखा है कि प्रताप सिंह और करतार सिंह के विद्वान् अधिवक्ता ने न्यायालय में स्वीकार किया कि “1921 के विलेख के अभाव में पुत्रियां ही श्रीमती जीवनी की साधिकार वारिस होतीं ।” क्या अपनी मां द्वारा छोड़ी गई संपूर्ण संपदा का उनका उत्तराधिकार उस विलेख से बाधित होता है ? जैसा कि स्वीकार किया गया, छोटी लड़की बसंत कौर समझौते की तारीख को अवयस्क थी ; किंतु उसकी ओर से संविदा करने के लिए गूजर सिंह ने उसके संरक्षक की भूमिका निभाई । किंतु यह स्पष्ट है कि न तो किसी न्यायालय ने उसे उसका संरक्षक नियुक्त किया था और न वह उसे लागू विधि के अधीन उस हैसियत का दावा कर सकता था । वह स्वयं संपदा में हिस्सा चाहता था और यह दावा लड़की के इस अधिकार के विरुद्ध था कि अपनी बहन के साथ वह समग्र संपदा की उत्तराधिकारिणी हो । विधि का यह नियम सुस्थापित है कि अवयस्क संविदा नहीं कर सकता और क्योंकि गूजर सिंह को उसकी ओर से संविदा करने का प्राधिकार नहीं था अतः निर्णय यह किया जाना चाहिए कि समझौता-विलेख उसके विरुद्ध शून्य संव्यवहार था ।

4. उसकी बड़ी बहन संत कौर भी उस समय अवयस्क थी या नहीं, इस पक्षकारों में विवाद है । उसके जन्म की तारीख युक्तियुक्त निश्चयता से अभिनिश्चित नहीं की जा सकी, किंतु उच्च न्यायालय द्वारा वर्णित परिस्थितियां इस निष्कर्ष को औचित्य प्रदान करती हैं कि प्रश्नगत तारीख को उसने वयस्कता की आयु प्राप्त नहीं की थी । किसी भी दशा में यदि संव्यवहार छोटी बहन के विरुद्ध अप्रवर्तनीय था तो बड़ी बहन भी आबद्ध नहीं होगी । अभिलेख पर की सुसंगत सामग्री की परीक्षा करने पर हमें इस बात के लिए कोई कारण नहीं मिलता कि उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों द्वारा निकाले गए निष्कर्ष से असहमत हों । यह किसी का कहना नहीं है कि गूजर सिंह या किसी अन्य व्यक्ति ने उसकी ओर से

उसके संरक्षक के रूप में कार्य करना आशयित था । किंतु बहस की गई कि इस संव्यवहार को मान्य ठहराना चाहिए क्योंकि वह कौटुम्बिक समझौता था । हम इस प्रतिपादना से सहमत नहीं हो सकते कि संविदा को कौटुम्बिक समझौता कह कर कोई पक्षकार उसके लिए उस विधि से छूट का दावा कर सकता है जो विधिमान्य संविदा करने के लिए व्यक्ति की सामर्थ्य को शासित करती है । यह सही है कि यदि संयुक्त हिंदू कुटुम्ब का कर्ता या उस कुटुम्ब में पिता कोई समझौता सद्भावपूर्वक करे तो कुटुम्ब के किसी अवयस्क सदस्य को अनुमत नहीं होगा कि उसमें इस आधार पर गड़बड़ करे कि उससे मिलने वाला फायदा समान नहीं है, सिवाय उस दशा के जब कि कपट या कोई अन्य ऐसा आधार हो जो विधितः उसे दूषित कर दे । यह नियम इस सिद्धांत पर आधारित है कि पिता या कुटुम्ब के कर्ता ने अवयस्क का प्रतिनिधित्व उचित तौर पर किया और इस प्रकार अवयस्क भी समझौते का पक्षकार था । यह नियम संविदा को शासित करने वाली किसी विधि के विरुद्ध नहीं है । जहां तक प्रस्तुत मामले में भूखंडों के वितरण के संव्यवहार का प्रश्न है, यह साबित नहीं हुआ है कि कोई ऐसा व्यक्ति था जिसे संविदा विधि के अधीन या अवयस्कों को लागू स्वीय विधि के अधीन प्राधिकार था कि उनकी ओर से समझौता करता और उनकी विरासत का आधा भाग उनके पक्ष में त्यक्त कर देता जो उसके हकदार नहीं थे । हमें यह निर्णय करने में कोई संकोच नहीं है कि अपीलार्थी द्वारा आश्रय लिया गया समझौता श्रीमती जीवनी की पुत्रियों को आबद्ध नहीं करता । अतः हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील खर्च सहित खारिज की जानी चाहिए ।

अपील खारिज की गई ।

नवाब मिर्जा मोहम्मद काजिम अली खां और एक अन्य.....अपीलार्थी

बनाम

नवाब मिर्जा मोहम्मद सादिक अली खां और अन्य.....प्रत्यर्थी

(अवध मुख्य न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि.कौ. अपील सं. 116 सन् 1936)

निर्णीत : 7.4.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

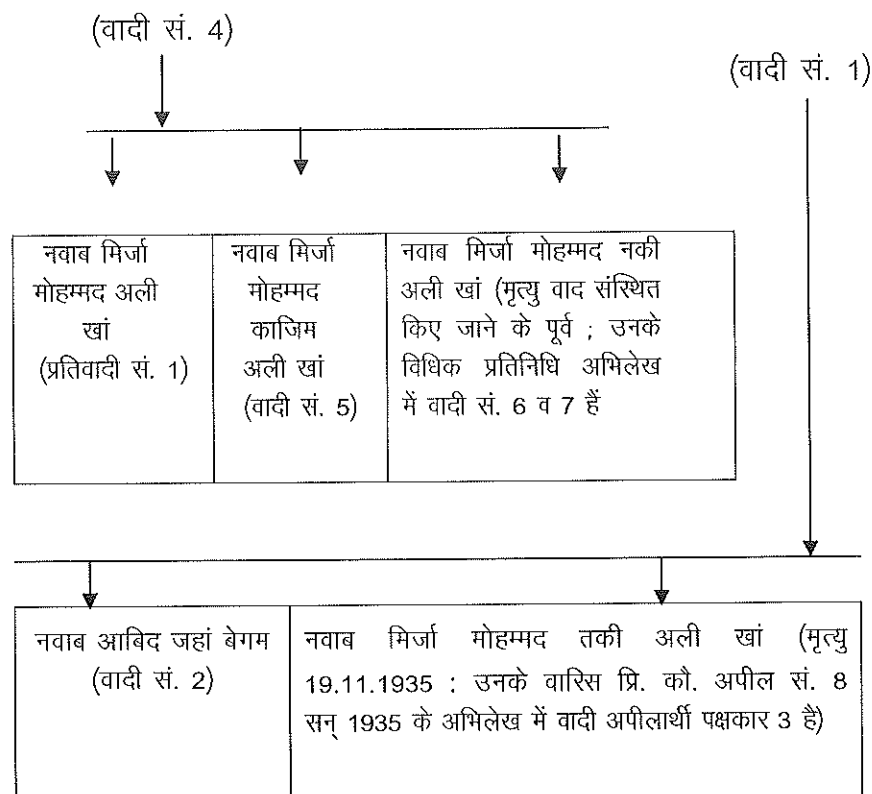
मुस्लिम विधि – वारिसों का दायित्व – एक मुसलमान की मृत्यु पर उसकी ताल्लुकेदारी संपदा अकेले वारिस को गई और अन्य सम्पत्ति उसके विभिन्न वारिसों को उनके अपने-अपने हिस्सों के अनुसार गई – मृतक की विधवा ने सभी वारिसों को पक्षकार बना कर अपने मेहर के लिए डिक्री प्राप्त कर ली – उस डिक्री का निष्पादन कराकर उसने वसूली कुछ गैर-ताल्लुकेदारी सम्पत्ति से कर ली – अंशदान का प्रश्न उठने पर निर्णय किया गया कि ताल्लुकेदारी और गैर-ताल्लुकेदारी दोनों ही सम्पत्तियां उक्त ऋण के लिए देनदार थीं – मुस्लिम विधि और सामान्य विधि दोनों के अनुसार वारिस को संपदा में हिस्सा मृतक के ऋणों को चुकाने के बाद ही मिलता है – अतः प्रत्येक वारिस अपने हिस्से की मात्रा तक उसके अनुपात से ऋण अदा करने का उत्तरदायी होता है – ऐसी दशा में प्रस्तुत मामले में गैर-ताल्लुकेदारी सम्पत्ति के हिस्सेदार वारिस दोनों प्रकार की सम्पत्तियों के वारिसों से अंशदान की मांग कर सकते हैं – अनुपात सम्पत्ति में उसके हित की मृतक की मृत्यु के समय की स्थिति से निश्चित किया जाएगा ।

निर्णय

जस्टिस सर जार्ज रैंकिन – प्रस्तुत मामले में अवध मुख्य न्यायालय की 14.3.1934 की एक डिक्री के विरुद्ध दो अपीलें वादियों के दो अलग-अलग वर्गों ने की है । मुख्य न्यायालय ने लखनऊ के अधीनस्थ न्यायाधीश की 1.9.1932 की डिक्री अपास्त कर दी और अभिदान (अंशदान) के लिए वाद खर्चे सहित खारिज कर दिया । दोनों अपीलों में एक मात्र विरोधकर्ता प्रत्यर्थी है वाद का प्रतिवादी नवाब मिर्जा मोहम्मद सादिक अली खां, जिसे यहां 'सादिक अली' कहा गया है । वह सीतापुर जिले में मकनपुर रहीमाबाद का ताल्लुकेदार है । पक्षकार शिया मुसलमान हैं और विवादित प्रश्न नवाब मोहम्मद बाकर अली खां (जिसे यहां 'दिवंगत नवाब' कहा गया है) की संपदा के प्रशासन के संबंध में है । दिवंगत नवाब की मृत्यु

17.1.1921 को हुई । पक्षकारों की उनसे तथा परस्पर रिश्तेदारी निम्नलिखित वंशावली में दिखाई गई है :-

शरफ जहां बेगम = नवाब मोहम्मद बाकर अली खां = फख्र जहां बेगम



2. दिवंगत नवाब ने दो विधवाएं और दोनों से संतानें छोड़ी मृत्यु के समय उनकी संपत्ति में मकनपुर रहीमाबाद का ताल्लुक था । यह अवध संपदा अधिनियम (1 सन् 1869) की धारा 8 के अधीन सूची 2 में ऐसी संपदा के रूप में अभिलिखित है जो कि कुटुम्ब की रूढ़ि के अनुसार मामूली तौर पर एकल वारिस को जाती है । उसके अतिरिक्त उनके पास मृत्यु के समय अन्य संपत्ति भी थी । वारिसों के बीच 1921 से 1931 तक मुकदमेबाजी इस बात के अवधारण के लिए हुई कि उक्त संपत्तियों में से कोई या सब विभाज्य हैं या अविभाज्य । 1931 में इस बोर्ड ने निर्णय किया कि ताल्लुका अकेले सादिक अली को मिला, किंतु अन्य संपत्तियां कुटुम्ब की किसी विशेष रूढ़ि से शासित नहीं हैं और वे मुस्लिम विधि के शिया सम्प्रदाय के सामान्य सिद्धांतों के अनुसार विरासत में गई : **मोहम्मद सादिक**

अली खां बनाम फख्र जहां बेगम¹ मृत्यु की तारीख को ताल्लुकेदारी संपत्ति का मूल्य वादी के आकलन के अनुसार 25,62,800/- रु. था और विभाज्य संपदा का मूल्य 8,90,314/- रु. था । 31.10.1921 को दिवंगत नवाब की ज्येष्ठ विधवा शरफ जहां बेगम ने अपने मेहर के लिए एक वाद स्वयं अपने तीन पुत्रों, अपनी सह-विधवा फख्र जहां बेगम और उसके पुत्र और पुत्री के विरुद्ध किया । इन छह प्रतिवादियों को यह कहकर पक्षकार बनाया गया कि वे वादिनी के साथ उसके पति के वारिस हैं और सम्पत्ति पर उनका कब्जा है । दावा मेहर के रूप में 5,00,000/- रु. का था । 3.1.1923 को अधीनस्थ न्यायाधीश ने निर्णय दिया कि वादी का दावा दिवंगत नवाब बाकर अली खां की संपूर्ण संपदा के विरुद्ध आनुपातिक खर्चे सहित तीन लाख रुपयों के लिए डिक्री किया जाता है । सादिक अली द्वारा न्यायिक आयुक्त न्यायालय में की गई अपील 4.3.1924 को खारिज कर दी गई ।

3. तत्पश्चात् अनेक निष्पादन कार्यवाहियों द्वारा ज्येष्ठ विधवा शरफ जहां बेगम ने डिक्रीदार के रूप में अपने दिवंगत पति की विभाज्य या गैर-विभाज्य संपत्ति से अपने मेहर की डिक्री की तुष्टि के लिए पर्याप्त राशि वसूल की जो कुल 3,06,855/- रु. थी । इन कार्यवाहियों का विवरण देना आवश्यक नहीं है । ये 1924 से 1930 तक विभिन्न तारीखों को हुई । किंतु यह ध्यान देने योग्य है कि मई, 1924 में उनके द्वारा दिया गया पहला आवेदन अपने पुत्र के विरुद्ध था, जो ताल्लुकेदार था और उसमें कुछ ताल्लुकेदारी गांवों की कुर्की और विक्रय की मांग की गई थी । ऐसी सम्पत्ति अवध विधि अधिनियम, 1876 के उपबंधों द्वारा तथा सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 68 के अधीन बनाए गए नियमों द्वारा संरक्षित है । विक्रय अधिकारी ने स्थानीय सरकार को मामला यह कहकर भेजा कि निष्पादन विक्रय की मंजूरी दें । उसे सूचित किया गया कि क्योंकि ताल्लुकेदार के पास गैर-ताल्लुकेदारी संपत्ति भी थी । जिससे कि डिक्री की पूरी वसूली हो सकती है, अतः प्रथमतः पैतृक ताल्लुकेदारी गांवों को बेचना उचित प्रतीत नहीं होता । इस प्रकार यह निष्पादन आवेदन व्यर्थ गया । 19.4.1931 को वह वाद, जिससे प्रस्तुत अपीलें की गई, कनिष्ठ विधवा, उसके पुत्र और पुत्री ने सादिक अली के विरुद्ध किया । मूलतः ज्येष्ठ विधवा, उसके दोनों पुत्र तथा तृतीय पुत्र नकी अली के (जिसकी मृत्यु हो गई थी) प्रतिनिधियों को वाद में प्रतिवादी बनाया गया ; किंतु बाद में उन्हें भी वादी बना दिया गया और ताल्लुकेदार सादिक अली ही एक मात्र प्रतिवादी रह गया ।

¹ 59 इंडियन अपील्स 1 = ए. आई. आर. 1932 प्रि. कौ. 18.

वादियों के मुख्य तर्क इस आशय के थे कि ताल्लुकेदारी और गैर-ताल्लुकेदारी दोनों सम्पत्तियां मेहर के ऋण की देनदार थीं और क्योंकि मेहर की डिक्री केवल गैर-ताल्लुकेदारी सम्पत्ति से तुष्ट की गई अतः ताल्लुकेदारी संपदा मूल्यानुसार अभिदाय करे । अन्य बातों के साथ-साथ प्रतिवादी ने इनकार किया कि बताए गए तथ्यों से अभिदाय का दावा करने का कोई अधिकार वादियों को उत्पन्न हुआ । अधीनस्थ न्यायाधीश ने यह उचित समझा कि तथ्यों के विवादित प्रश्नों पर साक्ष्य लेने के पूर्व कुछ विवादकों को निपटा लिया जाए । उन्होंने वादियों के पक्ष में यह पाया कि उन्हें अभिदाय का अधिकार है और मृतक के ऋणों के लिए विभाज्य सम्पत्ति के साथ ताल्लुकेदारी सम्पत्ति भी देनदार है और ताल्लुकेदारी और विभाज्य सम्पत्तियों के मृत्यु की तारीख के मूल्य पहले आकलित किए जाने चाहिए । इनके अन्य प्रश्नों पर निष्कर्ष बताने की यहां आवश्यकता नहीं है ।

4. मुख्य न्यायालय ने यह विनिश्चय उलट कर वाद खारिज कर दिया । वादियों के अभिदाय के अधिकार वाले मुख्य प्रश्न पर विद्वान् न्यायाधीशों (मुख्य न्यायमूर्ति श्री वजीर हसन और न्यायमूर्ति श्री स्मिथ) का मत था कि क्योंकि किसी मुसलमान के वारिस उसकी विभाज्य संपदा के केवल उस अवशेष के हकदार होते हैं जो उसका कफन-दफन का व्यय, ऋणों और वसीयतों की अदायगी के बाद बचे और वादियों के दावे में यह अधिकार समाहित है कि वे अविभाज्य संपदा में हिस्सा लें । उनकी राय में यदि संपूर्ण विभाज्य संपदा मृतक के ऋणों की तुष्टि में समाप्त हो जाती है तो वारिसों में किसी को यह अधिकार नहीं उत्पन्न होता कि अविभाज्य संपदा से अभिदाय द्वारा अपना हिस्सा पूरा करें । मुख्य न्यायालय के संयुक्त निर्णय को पढ़ने पर हमारा विचार है कि विद्वान् न्यायाधीशों को इसमें संदेह नहीं था कि दिवंगत नवाब की ताल्लुकेदारी सम्पत्ति उसके ऋणों के लिए उसी प्रकार देनदार थी जैसे कि विभाज्य सम्पत्ति । उन्होंने यह वादियों का दुर्भाग्य माना कि निष्पादन कार्यवाही विभाज्य संपत्ति के विरुद्ध की गई । किंतु उन्होंने निर्णय किया :-

“इस कार्रवाई का यह परिणाम था कि प्रतिवादी को फायदा हुआ क्योंकि उससे अविभाज्य संपदा अक्षुण्ण बच गई । किंतु इससे साम्या में या अन्यथा वादियों के पक्ष में इस अधिकार का सृजन नहीं होता कि उस फायदे में हिस्सा लें ।”

5. हम मुख्य न्यायालय के कुछ अन्य निष्कर्षों के उल्लेख को मुलतवी करके इस मत की शुद्धता पर विचार करने को अग्रसर होते हैं कि अभिदाय

के लिए वाद चलने योग्य नहीं था। ज्येष्ठ विधवा शरफ जहां बेगम का मेहर के लिए दावा अपने दिवंगत पति की संपदा के विरुद्ध किसी भी सामान्य अप्रतिभूत लेनदार के दावे की भांति था। अपने मेहर के बदले में उसका किसी सम्पत्ति पर कब्जा नहीं था और उसकी संपदा के किसी भाग पर उसका कोई भार तो था ही नहीं। बल्कि ऋण मेहर का होने के कारण उसे जहां तक ताल्लुकेदारी सम्पत्ति का संबंध है सामान्य संविदाश्रित ऋण से कोई भिन्नता प्रदान नहीं करता। शरफ जहां बेगम ने अपने मेहर के लिए वाद में अपने दिवंगत पति के सभी वारिसों को पक्षकार बनाकर सबके विरुद्ध डिक्री प्राप्त की। अब इस पर विचार करना आवश्यक नहीं है कि जो डिक्री उसने प्राप्त की क्या वह उसी रूप में थी जिसकी वह हकदार थी? दृश्यतः वाद में यह बहस की गई कि डिक्री का उचित प्ररूप यह होता कि उसके दिवंगत पति के प्रत्येक वारिस के विरुद्ध ऋण के उतने भाग की डिक्री होती जो संपदा में उस वारिस के हिस्से का आनुपातिक होता। मृत मुसलमान के लेनदारों द्वारा उसके एक या अधिक वारिसों के विरुद्ध वाद में डिक्री के उचित प्ररूप पर भारत के उच्च न्यायालयों में कुछ मतभेद है। वस्तुतः मामले में मामला इन बातों से और जटिल हो गया कि दिवंगत नवाब की सम्पत्ति का उत्तराधिकार — क्रम अनिश्चित था और अधिसंभाव्यता यह थी कि वह मुस्लिम विधि से अंशतः ही शासित होता था और महिला का विचार यह अनुरोध करने का था कि ताल्लुकेदारी सम्पत्ति भी उसके दावे की देनदार है। डिक्री में “संपूर्ण संपदा” का उल्लेख प्रकट करता है कि सादिक अली को केवल इस हैसियत से प्रतिवादी नहीं बनाया गया था कि वह विभाज्य संपदा में हिस्से का हकदार था। अन्यथा हम उन शब्दों को कोई महत्व नहीं देते। वारिस और लेनदार दोनों होने के नाते ज्येष्ठ विधवा निःसंदेह इस घोषणा के लिए वाद कर सकती थी कि विभाज्य और अविभाज्य संपदाओं के बीच अविभाज्य संपदा पर ऋणों का आनुपालिक भार रहे; किंतु उस रूप में अनुतोष न उसने मांगा और न उसे मिला। उसने वाद एक लेनदार के रूप में संहिता में उपबंधित ढंग से किया, जिसमें उसने सभी वारिसों को विधिक प्रतिनिधियों के रूप में पक्षकार बनाया [सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 2 (11)] और जैसा कि मुख्य न्यायालय ने भी उल्लेख किया है उसने उस प्रकार का निर्णय प्राप्त किया जो संहिता की धारा 52 में अनुध्यात है। **श्रीमती मलका बनाम श्रीमती जमीला¹** वाले मामले में बोर्ड ने उसे मेहर के वाद में डिक्री का सही प्ररूप माना और प्रस्तुत मामले में भी डिक्री उसी प्ररूप में दी गई और उसके

¹ [1873] 1 इंडियन अपीलस अनुपूरक खंड 135.

विरुद्ध कोई अपील नहीं की गई। उस वाद के प्रत्येक प्रतिवादी का दायित्व हो गया कि, जैसा कि सर बार्न्स पीकाक ने ऊपर उल्लिखित **श्रीमती मलका** वाले निर्णय में पृष्ठ 142 पर व्यक्त किया, अपने द्वारा प्राप्त आस्तियों की सीमा तक संपूर्ण ऋण अदा करे, और डिक्री का निष्पादन मृतक की प्रतिवादियों में से किसी के या सबके कब्जे की सम्पत्ति के विरुद्ध, जितनी आवश्यक हो उतनी की कुर्की और विक्रय द्वारा किया जा सकता था। यदि यह दिखाया जाता कि किसी प्रतिवादी के कब्जे में मृतक की सम्पत्ति थी किंतु उसने वह अंतरित कर दी तो उसकी अपनी आस्तियां उतनी सीमा तक देनदार ठहराई जा सकती थीं; सिवाय उस दशा के जब वह साबित कर देता कि उसने मृतक की सम्पत्ति सम्यक् रूप से लगा दी है। ऐसी डिक्री मृतक की संपदा के प्रशासन की दिशा में एक कदम मात्र होती है और उससे उन व्यक्तियों के बीच प्रशासन पूरा नहीं होता जिनका अधिकार लेनदारों के बाद है। किसी मुसलमान के सामान्य मामले में, जिसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति स्वीय विधि के अनुसार विरासत में जाती है यह कहना असंभव होता कि किसी वारिस को अपने सह-वारिसों के विरुद्ध उस दशा में कोई उपचार उपलब्ध नहीं होता जब ऐसी डिक्री के अधीन लेनदार डिक्रीदार की कार्रवाई से उसके पास मृतक की शुद्ध संपदा में से उसके उचित हिस्से से कम रह गया होता। उसका अभिदाय प्राप्त करने का अधिकार सरल एवं स्पष्ट होता। फायदाग्राही के रूप में उसे अधिकार होता कि मृतक की संपदा का सम्यक् रूप से प्रशासन हो, उसके ऋण और विधिमान्य वसीयतें चुकाई जाएं तथा स्वयं उसे उसमें उसका हिस्सा दिया जाए। इस प्रयोजनार्थ उसका वाद मामले की परिस्थितियों के अनुसार अनेक रूपों में हो सकता था। उसको प्रशासन वाद कहा जा सकता था, अथवा बंटवारे के लिए वाद या अभिदाय के लिए वाद; किंतु प्रत्येक मामले में उसके दावे का आधार वही होता, अर्थात् मृतक की संपदा का सम्यक् प्रशासन कराने का अधिकार। उचित मामले में इसका प्रवर्तन उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 की धारा 218 के अधीन प्रशासक की नियुक्ति के लिए आवेदन द्वारा भी हो सकता है।

6. प्रस्तुत मामले में प्रश्न यह उठा है कि वादी वारिस होने के नाते मृतक द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति के एक भाग में हितबद्ध होते हुए और उसकी संपदा के सम्यक् प्रशासन के हकदार होते हुए क्या यह दावा नहीं कर सकते कि मृतक के ऋणों की अदायगी की आनुपातिक व्यवस्था विभाज्य और अविभाज्य संपदा से की जाए जो ऐसे ऋणों के लिए समान रूप से देनदार हैं। दिवंगत नवाब की संपदा वर्ष 1921 और 1931 के बीच कठिन

स्थिति में थी, क्योंकि इस विषय में संदेह था कि उसका कोई तात्विक भाग विभाज्य है या अविभाज्य, और ज्येष्ठ विधवा का दावा एक बड़ा दावा था। यह असाधारण लगता है कि ऐसी संपदा का प्रशासन ऐसे भेदे ढंग से हो कि वह लेनदार की इच्छानुसार निष्पादन में विक्रय के लिए उच्छन्न हो। यदि कोई निष्पादक या प्रशासक उसका प्रभारी होता या न्यायालय द्वारा नियुक्त कोई रिसीवर होता तो उसका यह कर्तव्य होता कि मेहर के ऋण की अदायगी के लिए उचित कदम उठाए और संभवतः वह यह दावा नहीं करता कि संपूर्ण मेहर का दायित्व ताल्लुकेदारी या गैर-ताल्लुकेदारी सम्पत्ति पर डाले। वादियों का यह स्पष्ट अधिकार होता कि विभाज्य संपदा से ऋण के अनुपातिक भाग से अधिक के लिए जाने पर आपत्ति करते। मुख्य न्यायालय का दृष्टिकोण यह है कि लेनदार के विभाज्य आस्तियों से वसूली कर लेने के कारण हानि वहीं टिकेगी जहां हुई। हमारे विचार से यह पक्षकारों के अधिकारों के विपरीत है। इसके अतिरिक्त, इससे छल-कपट के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाएगा। मृतक की संपदा के उचित प्रशासन में यह आता है और अपेक्षित है कि ऋणों का उन सम्पत्तियों में उचित रूप में प्रभाजन हो जिन्हें उत्तराधिकार के अलग-अलग नियम लागू होते हैं। जब वादी यह मांग करते हैं कि विभाज्य सम्पत्तियों और ताल्लुकेदारी सम्पत्तियों में ऋणों का उचित आबंटन हो तो उनका दावा ताल्लुकेदारी सम्पत्ति में हिस्से का नहीं है।

7. इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि मुस्लिम विधि में वारिस का अधिकार संपदा में से ऋणों और विधिमान्य वसीयतों के लिए व्यवस्था करने के बाद अवशेष के हिस्से का होता है। यह बात कुरान के चौथे सूरे में कम से कम तीन बार बताई गई है। इस सिद्धांत पर वादियों या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा विवाद नहीं किया गया। वस्तुतः वह वादियों के कथन के मूल में है। क्योंकि वारिस ऋणों की अदायगी के बाद बचे अवशेष में ही हिस्से के फायदे का हकदार होता है, अतः वह इस बात के लिए आबद्ध होता है कि उसके सह-वारिसों द्वारा उचित तौर पर चुकाए गए ऋणों के लिए अभिदाय अपने हिस्से की सीमा तक करे। यदि सारा मामला मुस्लिम विधि से शासित होता तो वादियों की कठिनाई समाप्त हो जाती है। वसीयतों संबंधी मुस्लिम विधि अति विशिष्ट है और यहां उस पर विचार करना अनावश्यक है। किंतु यह उपबंध करने में कि वारिस मृतक के ऋणों के लिए कटौती करने के बाद बची संपदा में हिस्सा लेता है, मुस्लिम विधि अन्य विधियों के समान है, जिनमें हिन्दू विधि तथा भारतीय उत्तराधिकार अधिनियम, 1925 का द्वितीय अध्याय भी शामिल हैं।

अधिनियम सं. 1 सन् 1869 के अधीन एकल वारिस भी संपदा ऋणों के अधीन रहते हुए प्राप्त करता है। जहां तक हमें ज्ञात है इस परिस्थिति से उत्पन्न विधिक समस्या कि मृतक की सम्पत्ति का एक भाग कुरान के सिद्धांतों के अनुसार बिल्कुल नहीं जाता, किसी भी प्रामाणिक ग्रन्थ में जैसे हेदाया, फतवा आलमगीरी या शूराया में चर्चा का विषय नहीं है। रुढ़िवादी दृष्टिकोण से ऐसी स्थिति के लिए व्यवस्था न करके उसे अमान्य किया जाना चाहिए। किसी भी दशा में, मुख्य न्यायालय द्वारा उल्लिखित सिद्धांत वाक्य या प्रमाण ऐसे किसी विषय के बारे में नहीं हैं। इन प्रामाणिक ग्रन्थों में वर्णित मामलों में यह पूछने की आवश्यकता नहीं हुई कि मुस्लिम विधि के अनुसार संपत्ति को हिस्सों में विभाजित करने के पूर्व कौन से ऋण चुकाए जाएंगे। क्योंकि सारी संपत्ति उस विधि के अनुसार जाएगी अतः सभी ऋणों के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए। किंतु यहां कुछ संपत्ति ऋणों के लिए देनदार होते हुए भी बिल्कुल विभाज्य नहीं है और उसकी विरासत मुस्लिम विधि में अज्ञात सिद्धांतों के अनुसार होती है। अतः यह पूछने की आवश्यकता होती है कि प्रत्येक वर्ग की संपत्ति में से ऋणों का कितना अंश चुकाया जाना चाहिए। यदि उद्धृत प्रामाणिक ग्रन्थ इस प्रश्न पर सुसंगत होते और इस विषय पर निश्चायक होते कि मुस्लिम विधि प्रस्तुत जैसे मामले में किसी उपचार की व्यवस्था नहीं करती तो उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि ब्रिटिश भारतीय न्यायालय भी अनुतोष नहीं देगा। मुख्य न्यायालय द्वारा उल्लिखित **जाफरी बेगम बनाम अमीर मोहम्मद¹** पर न्यायमूर्ति महमूद न बताया कि उपचार संबंधी सभी मामलों में न्यायालय वाली विधि सामान्य विधि के रूप में सभी मामलों को विनियमित करती है। उनके अनुसार मुस्लिम स्वामी की मृत्यु पर उसकी सम्पत्ति तुरंत उसके वारिसों को विनिर्दिष्ट हिस्सों में चली जाती है और यदि संपदा के विरुद्ध कोई दावे हों और उन पर मुकदमा चले तो मामला प्रक्रिया का हो जाता है और वह उस विधि से विनियमित होगा जिससे कि न्यायालय की कार्यवाही विनियमित होती है।

8. जैसा कि सुविदित है, उस मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय का पूर्ण न्यायपीठ, यह निर्णय करते हुए कि वारिसों में केवल कुछ के विरुद्ध पारित डिक्री अन्य वारिसों को इस प्रकार आबद्ध नहीं करती कि निष्पादन में उनका हिस्सा भी नीलामी क्रेता को मिल जाए, सहमत हुआ कि ऐसे मामले में जो वारिस डिक्री में पक्षकार नहीं थे वे अपना हिस्सा नीलामी क्रेता से पूर्वज के उस ऋण में, जिसके लिए डिक्री दी गई, अपने

¹ [1885] इ. ला रि. 822 पृ. 844.

हिस्से की आनुपातिक राशि दिए बिना प्राप्त नहीं कर सकते। यह मृतक के ऋणों की बाबत सह-वारिसों के अभिदाय के अधिकार का विशिष्ट प्रयोग है। वह मुस्लिम विधि के किसी विशिष्ट अलग नियम पर आधारित न मानकर साम्या के सामान्य सिद्धांतों पर माना गया। प्रस्तुत मामले में न्यायालय ने लेनदार को एक डिक्री दे दी थी जिसने डिक्रीदार को सामर्थ्य प्रदान की कि अपने विकल्प के अनुसार विभाज्य या अविभाज्य संपदा से वसूली कर ले, अतः न्यायालय इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि प्रतिवादियों के बीच प्रशासन का कार्य उसके आगे बढ़ाए। जिस सिद्धांत या प्रक्रिया को संहिता की धारा 52 में अभिव्यक्ति प्रदान की गई है उसका प्रयोग सदैव इस प्रकार किया गया है कि जिन हिताधिकारियों या वसीयतदारों पर लेनदारों को पूर्विकता प्राप्त है उनके परस्पर अधिकार प्रतिकूलतः प्रभावित न हों। वस्तुतः अपने क्रम बंधन के सिद्धांत द्वारा साम्या ने, उस समय जबकि ऋणों की अलग-अलग प्राथमिकता थी और आस्तियां भी भिन्न-भिन्न वर्गों की थीं, निश्चित किया कि मृत व्यक्ति की आस्तियां उसके ऋणों की जिस क्रम में देनदार थीं। वह संपदा के हिताधिकारियों के बीच ही अंत में लागू किया जाएगा (तुलना कीजिए विलियम्स ऑन एक्जीक्यूटर्स, खंड 2 पृष्ठ 1119-1120 बारहवां संस्करण, 1930)। सामान्यतः लेनदार संपदा के किसी भाग से वसूली कर सकते हैं किंतु लार्ड एल्डन के **आल्डरिच बनाम कूपन**¹ में निर्णय का हवाला दिया जा सकता है कि वे प्रकट करते हैं कि अन्याय से बचाने के लिए इस सिद्धांत को किस प्रकार सीमित और नियंत्रित किया गया है :-

“अतः सामान्य संविदा वाले लेनदार को विधि में (फ्रीहोल्ड) पूर्ण स्वामित्व संपदा के विरुद्ध कोई दावा प्राप्त (नहीं) होता किंतु न्यायालय ने कहा है कि बंधपत्री लेनदार की सनक या निर्वाचन इस प्रकार प्रवर्तनशील नहीं होगा कि सामान्य संविदा लेनदार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े (पृष्ठ 394) । विरासत से आई आस्तियों के विषय में वसीयतदार के मामले में वसीयतदार का इस प्रकार की साम्या का दावा उतना सबल नहीं होता जितना कि लेनदार का। किंतु वसीयतकर्ता की कृपा से ही वसीयतदार समर्थ हो जाता है कि इस प्रकार के क्रम-बंधन की मांग करे कि यदि विरासत में आई स्थावर संपदा के विरुद्ध उपचार रखने वाला लेनदार वैयक्तिक संपदा (Personal estate) का आश्रय ले तो लेनदारों के विकल्प से यह अवधारित नहीं होगा कि

¹ [1803] 8 वेसी. जुन 382.

वसीयतदार को कुछ मिलेगा या नहीं विधि में दोनों ही लेनदारों के प्रति देनदार होते हैं । अतः एक के विरुद्ध विकल्प का प्रयोग करके दूसरे व्यक्ति को निराश नहीं किया जाएगा जिसके विषय में वसीयतकर्ता का आशय था कि उसकी भी तुष्टि की जानी चाहिए (पृष्ठ 395) ।”

9. वादियों के अधिकारों का निर्णय निष्पादन लेनदार के विकल्प से नहीं हो सकता । दिवंगत नवाब की विभाज्य संपदा में अपने उचित हिस्से का उनका दावा उन्हें उन आस्तियों के विषय में सादिक अली का सह-हिताधिकारी बना देता है जो सब मृतक के ऋणों के लिए देनदार हैं और यह बात कि आस्तियों के अलग-अलग भाग अलग-अलग सिद्धांतों से विरासत में जाते हैं, वादियों का अभिदाय का अधिकार व्यर्थ नहीं कर देती । जो घटनाएं हुई हैं उनमें प्रतिवादी से अभिदाय की मांग करने में यह आवश्यक नहीं है कि वादी अपना दावा किसी वास्तविक या विवक्षित वचन पर आधारित करें । संविदा अधिनियम की धारा 69 और 70 इतनी व्यापक हों या न हों कि यह मामला उनमें आए, वादियों के दावे के मूल में उनका मृतक की संपदा के सम्यक् प्रशासन का अधिकार है । पुस्तकों में दिया गया कारण यह है कि विधितः समान अधिकार वालों में विधि समता की अपेक्षा करती है । एक व्यक्ति अन्य सब का भार वहन नहीं करेगा । **डियरिंग बनाम अर्ल आफ विनचेल्सिया**¹ उक्त निर्णय में प्रतिपादित सिद्धांत सार्वजनिक है कि अभिदाय का अधिकार और कर्तव्य साम्या के सिद्धांतों पर आधारित है । वह संविदा पर निर्भर नहीं करता **राम्सकिल बनाम एडवर्ड्स**², **राम बख्श चित्तनगेव बनाम मधुसूदन पाल चौधरी**³ से भारत की सुस्थापित विधि है । वह सर बानर्स पीकाक के समय का कलकत्ता उच्च न्यायालय के एक पूर्ण न्यायपीठ का विनिश्चय है, जिसमें इस प्रश्न की व्याख्या भारतीय दृष्टिकोण से सावधानी से की गई है । मुख्य न्यायालय का एक अन्य निर्णय अभी विचारणीय है । सादिक अली ने अवध व्यवस्थापित संपदा अधिनियम, 1917 (अवध सेटिल्ड एस्टेट्स ऐक्ट) की धारा 3 के अधीन एक आवेदन दिया और आवश्यक अनुज्ञा मिल जाने पर 21.12.1923 को उसने एक विलेख द्वारा यथाविधि घोषित किया कि ताल्लुका का अमुक भाग भविष्य में अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए धारित होगा । उक्त अधिनियम की धारा 15 इस प्रकार है :—

¹ [1787] 2 वास एण्ड पुल 270.

² [1885] 31 चांसरी डिवीजन 100 पृष्ठ 109.

³ [1867] 7 वीकली रिपोर्ट 377.

“इस अधिनियम में यथा अन्यथा उपबंधित के सिवाय, व्यवस्थापित संपदा के हकदार किसी व्यक्ति को शक्ति प्राप्त नहीं होगी कि उसे या उसका कोई भाग या उसके लाभ इस प्रकार अंतरित, व्ययनित, अन्य-संक्रांत, हस्तान्तरित, भारित, विल्लंगमित या पट्टाकृत करे जो उसके आजीवन हित से अधिक बड़ा या वृहत्तर या दीर्घतर हो और न किसी व्यवस्थापित संपदा या उसके भाग या उसे लाभ के बारे में किसी न्यायालय द्वारा निर्णय किया जाएगा कि वह उस व्यक्ति में उसके आजीवन हित से अधिक बड़े या वृहत्तर हित के लिए या दीर्घतर समय के लिए निहित हुआ या निहित है।”

10. अधीनस्थ न्यायाधीश ने निर्णय किया कि दिवंगत नवाब के ऋणों की ताल्लुकेदारी और गैर-ताल्लुकेदारी सम्पत्तियों के बीच आनुपातिक आबंटन के प्रयोजनार्थ ताल्लुका में उसके हित का मूल्य वह माना जाएगा जो कि 1921 में उसकी मृत्यु के समय था। मुख्य न्यायालय ने निर्णय किया है कि 1923 की घोषणा में समाविष्ट भाग का मूल्यांकन आजीवन हित के रूप में ही किया जाना चाहिए। हमारे विचार से यह स्वस्थ अर्थान्वयन के विरुद्ध होगा कि धारा 15 में “निहित हुआ या निहित है” शब्दों का इस प्रकार निर्वचन किया जाए कि वह उन अधिकारों के विषय में भूतलक्षी रूप से लागू हो जो मृतक की सम्पत्ति के प्रशासन में अन्य व्यक्तियों को उत्पन्न हुए। इस प्रश्न पर हम अधीनस्थ न्यायाधीश के इस मत से सहमत हैं कि क्रमशः विभाज्य और अविभाज्य संपत्तियों का मूल्य मृत्यु की तारीख वाला अभिनिश्चित किया जाना चाहिए। हम उस हित की मात्रा के विषय में कोई राय व्यक्त नहीं करते जो प्रस्तुत वाद में पारित किसी डिब्री के अधीन निष्पादन में विक्रय-योग्य होगा। भारत के न्यायालयों द्वारा चर्चा किए गए अन्य विषयों में से कोई अन्य विषय इस समय नहीं उठता। किंतु यह ध्यान देने योग्य है कि 24.7.1934 को शरफ जहां बेगम ने मुख्य न्यायालय को इस आशय की अर्जी दी कि इस समेकित अपील की विषयवस्तु में अपना हित उन्होंने अपने पुत्र नवाब कासिम अली खां को अंतरित कर दिया है। इस कथन पर विवाद किया गया और मुख्य न्यायालय ने भी उसके अनुसार कार्य नहीं किया क्योंकि विद्वान् न्यायाधीशों का विचार था कि अब वे कार्य-निवृत्त हो गए हैं। हमारे समक्ष उस महिला का प्रतिनिधित्व नहीं किया गया। जब हिज मैजेस्टी का आदेश भारत में प्राप्त हो तो मुख्य न्यायालय मामला अधीनस्थ न्यायालय को भेजने के पूर्व उसके आवेदन पर विचार करे। हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि दोनों अपीलें मंजूर की जाएं और मुख्य न्यायालय की

डिक्री अपारस्त की जाए, अधीनस्थ न्यायालय की डिक्री पुनः स्थापित की जाए तथा मामला विचारण न्यायालय को अंतिम निर्णय के लिए प्रतिप्रेषित किया जाए । प्रत्यर्थी नवाब मिर्जा मोहम्मद सादिक अली खां अपीलार्थियों का मुख्य न्यायालय का खर्चा और अपीलार्थियों का दोनों समेकित अपीलों को मिलाकर प्रस्तुत मामले का इकहरा खर्चा अदा करें ।

मामला प्रतिप्रेषित किया गया ।

मलिक हरकिशन सिंह.....अपीलार्थी

बनाम

मलिक प्रताप सिंह और अन्य.....प्रत्यर्थी

(पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत के मुख्य न्यायिक आयुक्त के निर्णय के
विरुद्ध प्रि.कौ. अपील सं. 8 सन् 1935)

निर्णीत : 2.5.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

हिंदू विधि – मिताक्षरा – संयुक्त सम्पत्ति – कोई सम्पत्ति कुटुम्ब की संयुक्त संपत्ति थी या किसी सदस्य की अलग सम्पत्ति, इसका निर्णय पक्षकारों के बयान से नहीं बल्कि सम्पत्ति के प्रति उनके आचरणों और कार्य से किया जा सकता है ।

विभाजन – मिताक्षरा विधि में विभाजन के लिए केवल सहदायिकों के हिस्से अभिनिश्चित कर लेना पर्याप्त है, सम्पत्ति का भौतिक विभाजन आवश्यक नहीं है – विभाजन के लिए मध्यस्थ नियुक्त करने के करार से ही विधिक विभाजन हो जाता है, भले ही सम्पत्तियों का उपभोग फिर भी संयुक्त बना रहे – मध्यस्थ के अधिनिर्णय न देने से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि पक्षकारों ने विभाजन का अपना आशय छोड़ दिया ।

निर्णय

जस्टिस सर शादी लाल – वादी-प्रत्यर्थी प्रताप सिंह के पिता हीरा सिंह मूलतः रावलपिंडी जिले के डेरा खालसा नामक गांव में रहते थे । स्वीकृत रूप में उनका अपने दो पुत्रों नारायण सिंह और प्रताप सिंह के साथ संयुक्त कुटुम्ब था । इस कुटुम्ब के पास पैतृक सम्पत्ति थी, जिसमें एक मकान और कृषक भूमि थी । 1872 में, जब नारायण सिंह लगभग आठ वर्ष का था और प्रताप सिंह लगभग छह वर्ष का, हीरा सिंह अपने

पुत्रों के साथ अपना पैतृक गांव छोड़कर एबटाबाद आ गया। वहां उसने कुछ संपत्ति अर्जित की और कारबार भी किया। प्रताप सिंह को उसके पिता ने पहले एबटाबाद में और फिर लाहौर में पढ़ाया। 1888 में अपनी शिक्षा पूरी करके वह ब्लेक माउंटेन एक्सपीडीशनरी फोर्स के साथ ठेकेदार के रूप में चला गया कि सेना को खाद्य पदार्थ तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का प्रदाय करता था। उसने ठेकेदारी से रुपया कमाया और एबटाबाद लौटने पर वह उसने अपने पिता को दे दिया। फिर वह रावलपिंडी गया और वहां उसने अपनी डेरा खालसा वाली पैतृक सम्पत्ति की देखरेख की, जबकि उसका बड़ा भाई अपने पिता के साथ एबटाबाद में रहा और वहां उसके कारबार के प्रबंध में उसकी सहायता करता रहा। प्रकट यह होता है कि हीरा सिंह और उसके दोनों पुत्र संयुक्त कुटुम्ब के रूप में जनवरी, 1918 तक रहे, जबकि हीरा सिंह की मृत्यु हो गई। लगभग 9 वर्ष बीतने के बाद 1927 में हीरा सिंह के बड़े पुत्र नारायण सिंह की मृत्यु हो गई। उसने एक पुत्र हरकिशन सिंह छोड़ा, जो हमारे समक्ष अपीलार्थी है।

2. जिस वाद से यह अपील उद्भूत हुई वह प्रताप सिंह ने अपने भतीजे हरकिशन सिंह के विरुद्ध दाखिल किया था। वह एबटाबाद और डेरा खालसा स्थित सम्पत्ति के बंटवारे के लिए था। वाद में कहा गया था कि सारी संपदा संयुक्त हिंदू कुटुम्ब की है, जिसमें वादी तथा प्रतिवादी हरकिशन सिंह हैं और वादी उसमें आधे हिस्से का हकदार है। हरकिशन सिंह ने दावे का विरोध किया। उसने इस बात से इनकार किया कि वादी संयुक्त कुटुम्ब का सदस्य है और कहा कि एबटाबाद की सम्पत्ति मूलतः हीरा सिंह और नारायण सिंह की संयुक्त कुटुम्ब के सदस्यों के रूप में थी और वह हीरा सिंह की मृत्यु पर उत्तरजीविता से नारायण सिंह को मिल गई और फिर उसकी मृत्यु पर उसके पुत्र हरकिशन सिंह को मिली। प्रताप सिंह के विषय में प्रतिवादी ने न्यायसंगत दृष्टिकोण नहीं अपनाया। यह कहते हुए कि प्रताप सिंह कुटुम्ब के अन्य सदस्यों से अलग हो गया था, उसने यह स्पष्ट नहीं किया कि क्या अलग होने पर प्रताप सिंह को कोई सम्पत्ति दी गई। वाद में एक प्रक्रम पर उसने कहा कि रावलपिंडी जिले की सभी संपत्ति प्रताप सिंह को दी गई, किंतु बाद में उसने उस सम्पत्ति में भी हिस्से का दावा किया। वस्तुतः दो में से किसी पक्षकार ने हीरा सिंह के पुत्रों की पारस्परिक स्थिति के विषय में न्यायसंगत कथन नहीं किया और उनके बयानों पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

3. यह असाधारण बात नहीं है कि कोई व्यक्ति यह कहता है कि वह अपने अमुक संबंधी के साथ संयुक्त कुटुम्ब का सदस्य है, किंतु उसके वैसा

कहने के अपने कारण होते हैं। संयुक्तता होने या न होने के प्रश्न के अवधारण के लिए सही मार्गदर्शन उसके बयानों से नहीं बल्कि उसके सम्पत्ति संबंधी कार्यों और व्यवहारों से मिलता है। विचारण न्यायाधीश ने अपने समक्ष के साक्ष्य पर विचार करके निष्कर्ष निकाला कि वादी संयुक्त कुटुम्ब का सदस्य नहीं रह गया था, किंतु पेशावर स्थित न्यायिक आयुक्त न्यायालय ने अपील में वह मत नहीं माना। न्यायिक आयुक्त का निर्णय था कि कुटुम्ब संयुक्त है और उन्होंने वादी के पक्ष में बंटवारे की प्रारंभिक डिक्री दे दी। उसी डिक्री से प्रतिवादी ने सपरिषद् हिज मैजेस्टी को यह अपील की है। हमारे निर्णयार्थ मुख्य प्रश्न ये हैं कि क्या वादी और प्रतिवादी वाद संस्थित किए जाने की तारीख को संयुक्त कुटुम्ब के सदस्य थे और क्या एबटाबाद की सम्पत्ति उस कुटुम्ब की थी। संयुक्त संपदा के किसी भी समय वास्तविक बंटवारे का कोई सबूत नहीं है। किंतु इसमें संदेह नहीं है कि संयुक्त सम्पत्ति का बंटवारा सम्पत्ति की नाप-तोल किए बिना भी हो सकता है। पक्षकार मिताक्षरा विधि से शासित होते हैं। उसके अनुसार संयुक्त सम्पत्ति में सहदायिकों के हिस्से परिनिश्चित करना ही विभाजन होता है और सम्पत्ति का भौतिक विभाजन आवश्यक नहीं होता। एक बार जब हिस्से परिनिश्चित हो गए तो संयुक्तता की स्थिति समाप्त हो जाती है। तत्पश्चात् पक्षकार सम्पत्ति का भौतिक विभाजन कर सकते हैं या वे यह भी विनिश्चय कर सकते हैं कि साथ में रहेंगे और सम्पत्ति का उपभोग मिलकर करेंगे। किंतु वह सम्पत्ति संयुक्त उसी समय नहीं रह जाती जबकि हिस्से परिनिश्चित हो जाते हैं और तत्पश्चात् पक्षकार उसे सामान्यिक अभिधारी (tenants in-common) के रूप में धारण करते हैं।

4. हिस्सों का परिनिश्चय उनके बीच के करार द्वारा व्यक्त हो सकता है जिसमें संपदा में उनके हिस्सों की घोषणा हो। संयुक्त कुटुम्ब के सदस्यों के बीच ऐसा करार जिसके द्वारा वे संयुक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति के उनके बीच विभाजन के लिए मध्यस्थ नियुक्त करते हैं उस करार की तारीख से कुटुम्ब की संयुक्तता समाप्त कर देता है **सैयद कासम बनाम जोराव सिंह**¹ तथा **बालमुकुन्द लाल बनाम श्रीमती सेहानो**²। कोई अधिनिर्णय न किया जाना इस बात का साक्ष्य नहीं होता कि विभाजन का आशय छोड़ दिया गया। न कुटुम्ब के सदस्यों के हिस्से को परिनिश्चित करने वाली संदिग्धार्थी दस्तावेज का विधिक अर्थान्वयन या विधिक प्रभाव पक्षकारों के बाद के आचरण के साक्ष्य से नियंत्रित या परिवर्तित हो सकता

¹ 49 इंडियन अपीलस 358 = ए. आई. आर. 1929 प्रि. कौ. 353.

² इंग्लैंड ला रिपोर्ट [1929] 8 पटना 153 = ए. आई. आर. 1929 पटना 164.

है : बाल किशन दास बनाम राम नारायण सहू¹ हीरा सिंह के कुटुम्ब के सदस्यों में हिस्से परिनिश्चित करने वाला ऐसा कोई करार हमें नहीं मिलता । पक्षकारों द्वारा दिया गया मौखिक साक्ष्य पक्षपातपूर्ण है । किंतु दस्तावेजी साक्ष्य कम होते हुए भी हीरा सिंह और उसके पुत्र प्रताप सिंह के हीरा सिंह की 1918 में मृत्यु होने तक के संबंध का संकेत देते हैं । प्रकट यह होता है कि पिता एबटाबाद से रावलपिंडी में अपने पुत्र को पत्र लिखा करता था, जो स्नेहपूर्ण भाषा में होते थे । वह पैतृक सम्पत्ति के विषय में भी पूछताछ करता था और उसमें व्यक्तिगत रुचि लेता था । पत्र-व्यवहार में कोई संकेत नहीं है कि पुत्र पिता से अलग हो गया था और पिता उसे डेरा खालसा की सम्पत्ति का अनन्य स्वामी मानता था ।

5. यह उभयपक्ष को मान्य है कि पिता और उसके दो पुत्र उस समय संयुक्त थे जब वे एबटाबाद गए और अपीलार्थी के विद्वान् अधिवक्ता पिता के जीवनकाल का कोई समय नहीं बता सके जबकि वादी संयुक्त कुटुम्ब के अन्य सदस्यों से अलग हुआ और इस प्रकार सहदायिकी सम्पत्ति में उसका हित नहीं रह गया । तर्क यह दिया गया कि अपने पिता की मृत्यु के बाद नारायण सिंह ने एक सिनेमा बनाया जिसमें वादी ने अंशदान नहीं किया, अतः उसे उसमें हिस्से का अधिकार नहीं है । किंतु जिस भूमि पर सिनेमा बनाया गया वह पिता ने 1886 में 5 रुपए वार्षिक किराए पर 99 वर्ष के पट्टे पर ली थी । भवन की लागत एबटाबाद के कारबार के लाभ से पूरी हो गई जो कि पिता ने प्रारंभ किया था । यह निष्कर्ष निकालने के लिए कोई कारण नहीं है कि कारबार में पिता के साथ केवल नारायण सिंह संयुक्त था और पिता की मृत्यु पर वह उत्तरजीविता से नारायण सिंह को मिल गया । वह संयुक्त कुटुम्ब के सभी सदस्यों की संयुक्त सम्पत्ति का भाग था या पिता की अलग सम्पत्ति था, उसकी मृत्यु पर दोनों पुत्र कारबार में और उसकी आस्तियों में समान हित रखते थे । अतः प्रतिवादी सिनेमा का अनन्य स्वामी होने का दावा बरकरार नहीं रख सकता है । हमने पक्षकारों के विद्वान् अधिवक्ताओं द्वारा प्रस्तुत तर्कों की परीक्षा की और हम न्यायिक आयुक्त न्यायालय के निष्कर्ष से असहमत होने को तैयार नहीं हैं । अतः हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील खर्च सहित खारिज की जानी चाहिए ।

अपील खारिज की गई ।

¹ [1903] 30 इंडियन अपीलस 139.

भारत सचिव.....अपीलार्थी

बनाम

बैंक ऑफ इंडिया लि. प्रत्यर्थी

(बम्बई उच्च न्यायालय के निर्णय¹ के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 55
सन् 1937)

निर्णीत : 2.5.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

भारतीय प्रतिभूति अधिनियम, 1920 (सिक्वोरिटीज ऐक्ट) — धारा 12 व 21 — यदि सरकारी वचनपत्र के बदले में नवीकृत वचनपत्र किसी पक्षकार के अनुरोध पर जारी किया जाए और बाद में प्रकट यह हो कि उस वचनपत्र का धारक वस्तुतः कोई अन्य व्यक्ति था और मामले में कपट किया गया तो सरकार अनुरोध करने वाले व्यक्ति से क्षतिपूर्ति की हकदार होगी — यह मामला रूढ़िजन्य क्षतिपूर्ति के अधिकार का होगा — अधिनियम की धारा 21 में क्षतिपूर्ति मांगने के अधिकार के स्पष्ट उपबंध से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि क्षतिपूर्ति का रूढ़िजन्य अधिकार समाप्त हो गया — यह अवश्य है कि जहां धारा 21 के अधीन अभिव्यक्त क्षतिपूर्ति ली जाए वहां विवक्षित क्षतिपूर्ति वाला सिद्धांत लागू नहीं होगा ।

— **धारा 16** — यदि जारी किए गए सरकारी वचनपत्र के बदले में नवीकृत सरकारी वचनपत्र जारी कर दिया जाए तो नवीकृत वचनपत्र के धारक के अधिकार पूर्व वचनपत्र के विवादों से दुष्प्रभावित नहीं होंगे ।

निर्वचन — जब पुरानी विधि के स्थान पर नई विधि पारित की जाए तो पुरानी विधि में उससे अधिक परिवर्तन नहीं माना जाएगा जितना कि नई विधि में अभिव्यक्त रूप से या अनिवार्य विवक्षा द्वारा उपबंधित हो ।

निर्णय

जस्टिस लार्ड राइट — यह अपील बम्बई उच्च न्यायालय के एक अपीली निर्णय से उद्भूत हुई है, जिसमें न्यायमूर्ति वाडिया के विचारण न्यायाधीश के रूप में निर्णय की पुष्टि की गई । इन निर्णयों में अपीलार्थी

¹ ए. आई. आर. 1937 बाम्बे 145.

का यह दावा खारिज कर दिया गया कि प्रत्यर्थी उस दायित्व के लिए क्षतिपूर्ति करे जो उसने (वादी ने) इस मामले की परिस्थितियों में उपगत किया और जिसकी तुष्टि के लिए वह विवश हुआ। वे परिस्थितियां संक्षेप में इस प्रकार हैं – गंगा बाई नामक एक महिला 5,000/- रु. के सरकारी वचनपत्र की पृष्ठांकिती व धारक थी। वह उसकी ओर से आचार्य नामक एक दलाल के पास था। उसने उस पर अपने पक्ष में पृष्ठांकन जाली बनाकर उसे प्रत्यर्थियों के पक्ष में मूल्यार्थ पृष्ठांकित कर दिया। प्रत्यर्थियों ने सद्भावपूर्ण कार्य करते हुए भारतीय प्रतिभूति अधिनियम, 1920 के अधीन लोक ऋण कार्यालय को आवेदन दिया कि प्रत्यर्थियों द्वारा दिए गए वचनपत्र के बदले में उन्हें देय एक नवीकृत वचनपत्र जारी करें। आचार्य द्वारा किए गए कपट का और प्रत्यर्थियों तथा अपीलार्थी द्वारा उसके वचनपत्र के संबंध में कार्रवाई का पता लगने पर, जो उन दोनों से एक के द्वारा अथवा दोनों के द्वारा तथा आचार्य के द्वारा उसकी सम्पत्ति का संपरिवर्तन था, महिला ने अपीलार्थी पर संपरिवर्तन का वाद किया और समुचित नुकसानी वसूल कर ली। तब अपीलार्थी ने प्रत्यर्थियों के विरुद्ध यह वाद किया कि वे अपीलार्थी को हुई हानि की क्षतिपूर्ति इस सिद्धांत पर करें कि लोक ऋण कार्यालय ने नवीकृत वचनपत्र प्रत्यर्थियों के अनुरोध पर जारी किया था और तदनुसार वह हकदार था कि उस बात से हुए नुकसान की क्षतिपूर्ति पाएं क्योंकि जो किया गया उससे अन्य व्यक्ति के अधिकारों को क्षति हुई। जहां तक नवीकृत वचनपत्र का संबंध था, उभयपक्ष ने सही तौर पर हमारे समक्ष स्वीकार किया कि उससे सरकार और प्रत्यर्थियों के बीच एक नई संविदा हो गई जो उन परिस्थितियों से प्रवृत्त नहीं थी जिनमें कि वचनपत्र जारी किया गया और निचले न्यायालयों में दिए गए कुछ तर्क अपीलार्थी द्वारा छोड़ दिए गए। हमारे समक्ष केवल दायित्व और सिद्धांत के प्रश्न पर बहस की गई। राशि का प्रश्न आवश्यकता पड़ने पर बाद के निर्णय के लिए छोड़ दिया गया।

2. सर्वप्रथम यह सुविधापूर्ण होगा कि भारतीय प्रतिभूति अधिनियम, 1920 की सुसंगत धाराओं का उल्लेख कर दिया जाए। इस अधिनियम ने 1886 के निरसित अधिनियम का स्थान लिया, जो उन्हीं विषयों पर था। अब नया अधिनियम ही इस सरकारी वचनपत्रों की विधिक स्थिति का विनियमन करता है। भारत में इन वचनपत्रों का परिचलन बड़ी संख्या में है। अतः इस अपील में अंतर्वलित प्रश्न पक्षकारों के लिए और सामान्यतः भारतीय जनता के लिए महत्वपूर्ण है। अभिलेख पर बने प्रश्नगत वचनपत्र

की छपाई से प्रकट होता है कि यह वचनपत्र मूलतः 1854 में जारी किया गया था और वह एक नामित आदाता को या उसके आदेशानुसार संदेय था । प्रश्नगत वास्तविक वचनपत्र एक नवीकृत वचनपत्र था, जो अप्रैल, 1925 में जारी किया गया था । उसके पीछे की ओर दस पृष्ठांकनों के लिए व्यवस्था थी । जाली पृष्ठांकन पांचवें स्थान पर था और आचार्य का प्रत्यर्थियों के पक्ष में पृष्ठांकन छठे स्थान पर था । इन स्थानों के नीचे प्रत्यर्थियों द्वारा इस वचनपत्र के बदले में नवीकृत वचनपत्र की प्राप्ति की रसीद हस्ताक्षरित थी । यह स्पष्ट है कि वचनपत्रों के नवीकरण की पद्धति सामान्य व्यवहार में बहुप्रचलित है । यह स्पष्टतः सुविधापूर्ण होता है कि स्वच्छ वचनपत्र हो । इसके अतिरिक्त अनेक वर्ष बीतने पर पृष्ठांकनों के लिए उपलब्ध स्थान भर जाते हैं और नवीकृत वचनपत्र के धारक को सरकार से नया वचन मिल जाता है जो उन किन्हीं भी साम्याओं और विवादों से मुक्त होता है जो पूर्ववर्ती वचनपत्र से संबंधित थे । अधिनियम की धारा 16 स्पष्ट शब्दों में कहती है कि नवीकृत सरकारी वचनपत्र के बारे में यह समझा जाएगा कि उससे सरकार के और उस व्यक्ति के जिसे वह वचनपत्र दिया गया तथा उससे हक प्राप्त करने वाले सभी व्यक्तियों के बीच एक नई संविदा हुई है ।

3. अधिनियम में नवीकृत वचनपत्रों के जारी किए जाने के विनियमन के लिए अभिव्यक्त उपबंध है । विशिष्टतः धारा 12 में उपबंध है कि धारा 13 के उपबंधों के अधीन रहते हुए, सरकारी वचनपत्र का हकदार होने का दावा करने वाला कोई व्यक्ति, विहित अधिकारी को आवेदन देकर और अपने दावे के न्यायपूर्ण होने के विषय में उसका समाधान करके तथा विहित रीति से प्राप्ति अंकित पहला वचनपत्र परिदत्त करके और विहित फीस (यदि कोई हो) देकर उस अधिकारी से उसे संदेय एक नवीकृत वचनपत्र प्राप्त कर सकता है । धारा 13 ऐसे मामले के विषय में है जिसमें कि इन वचनपत्रों में से किसी के हक पर विचार हो और वह अधिकारी को सशक्त करती है कि वह न्यायिक विनिश्चय अथवा औपचारिक जांच के परिणाम के बिना कार्य करने से इनकार कर दे । अपीलकृत निर्णय धारा 21 पर आधारित है । उसमें उपबंध है कि धारा 12 सहित कुछ विनिर्दिष्ट धाराओं में किसी बात के होते हुए भी, विहित अधिकारी उठने वाले किसी मामले में (1) नवीकृत प्रतिभूति उस दशा में दे दे जबकि आवेदक नियत प्राधिकारी को इस प्रकार नवीकृत की गई प्रतिभूति के आधार पर सब व्यक्तियों के दावों के विरुद्ध एक विहित क्षतिपूर्ति दे दे, अथवा, (11) नवीकृत वचनपत्र जारी करने से इनकार कर दे सिवाय उस दशा के जबकि

ऐसी क्षतिपूर्ति दे दी जाए। अधिनियम के अधीन नियम विरचित किया गया है जिनमें वह क्षतिपूर्ति विहित है जो वसूली जा सकेगी। यह क्षतिपूर्ति दो प्रतिभूतों सहित आवेदक का एक बंधपत्र होगी जो वचनपत्र की राशि से दुगुनी राशि का होगा। प्रस्तुत मामले में सरकारी अधिकारी ने प्रत्यर्थियों को वचनपत्र जारी करने में धारा 21 के अधीन प्रतिभूति प्राप्त नहीं की। अतः प्रश्न उठता है कि क्या अपीलार्थी इस बात से वर्जित है कि उस क्षतिपूर्ति का आश्रय ले जो भारत की सामान्य विधि में विवक्षित है और जो इस विषय में इंग्लैंड की विधि के सदृश है। जिस सिद्धांत पर ऐसी क्षतिपूर्ति विवक्षित मानी जाती है उसके विषय में लार्ड चांसलर लार्ड हेल्सबरी ने **शेफील्ड कारपोरेशन बनाम बार्कले**¹ में बताया कि **डगडेल बनाम लोवरिंग**² में अधिवक्ता की बहस से उद्धरण में सही तौर पर बताया गया है :—

“यह विधि का सामान्य सिद्धांत है कि जब कोई कार्य एक व्यक्ति द्वारा दूसरे के अनुरोध पर किया जाए, जो कार्य करने वाले व्यक्ति की जानकारी में प्रत्यक्षतः अपकृत्य न हो और ऐसा कार्य अन्य व्यक्ति के अधिकारों के लिए क्षतिकारक निकले तो वह कार्य करने वाला व्यक्ति इस बात का हकदार है कि वह क्षतिपूर्ति उस व्यक्ति से प्राप्त करे जिसने अनुरोध किया था कि वह कार्य किया जाए।”

4. इंग्लैंड में यह सिद्धांत अधिकतम व्यापक तौर पर लागू होता है। अब वह अपकृत्यकारियों के बीच अभिदाय विषयक हाल के विधायन के साथ पढ़ा जाना चाहिए। जैसा कि लार्ड डेवी ने उस मामले में जिसका हम शीघ्र उल्लेख करेंगे कहा, बहुधा कहा जाता है कि यह विधि द्वारा विवक्षित संविदा पर आधारित है। अनुरोध में इस बात का वचन समाहित होता है कि उसके अनुरोध पर दूसरे व्यक्ति के कार्य करने पर उसके परिणामों की क्षतिपूर्ति उस दूसरे व्यक्ति को की जाएगी। किंतु लार्ड हेल्सबरी द्वारा प्रयुक्त शब्दों में केवल यह कहा गया है कि व्यक्ति क्षतिपूर्ति का हकदार है। विधि द्वारा विवक्षित संविदा की कल्पना करने से कुछ और नहीं मिलता है, भेले ही उससे यह प्रतीत हो कि न्यायालय का ऐसा निष्कर्ष निकालना विधि की दृष्टि से उचित है कि पक्षकार क्षतिपूर्ति का हकदार इस आधार पर है कि आवेदक द्वारा अपने अनुरोध का निवेदन इस

¹ [1905] अपील केसेज 352.

² [1875] एल. आर. 10 सी. पी. 195.

वचन का (आफर) प्रस्ताव है कि यदि दूसरे व्यक्ति ने उस अनुरोध पर कार्य किया तो उससे उसे होने वाली हानि की वह क्षतिपूर्ति करेगा । सर विलियम जोवित ने दलील दी है कि आवश्यक तत्व है प्राख्यान तथा उस प्राख्यान पर दूसरे व्यक्ति द्वारा कार्य । उन्होंने दलील दी कि कानूनी कर्तव्य के सम्पादन के प्रस्तुत जैसे मामले में दोनों में से कोई तत्व नहीं होता । वे कहते हैं कि प्रत्यर्थियों ने कोई प्राख्यान नहीं किया बल्कि वह एक दावा मात्र था जिसके बारे में सरकारी पदाधिकारी को अपने उत्तरदायित्व पर और विवेकानुसार कार्य करना था । कहा यह गया कि उसका आचरण अनुसचिवीय (ministerial) न होकर न्यायिक या न्यायिककल्प था क्योंकि कानून की धारा 21 उसको अधिकार प्रदान करती थी कि नवीकृत वचनपत्र देने से इनकार कर दे सिवाय उस दशा के जब उसे विहित क्षतिपूर्ति दी जाए । विशेष आश्रय उस स्वरूप का लिया गया जिसमें कि लार्ड डेवी ने उपर्युक्त 1905 अपील केसेज 392 में पृष्ठ 399 पर उस नियम का वर्णन किया । उन्होंने सिद्धांत इस प्रकार बताया :—

“हमारी यह राय भी है कि जब किसी व्यक्ति का कानूनी या रूढ़िजन्य विधि का अनुसचिवीय प्रकृति का कोई कर्तव्य हो और उससे कहा जाए कि दूसरे के अनुरोध, निदेश या मांग पर उस कर्तव्य का निष्पादन करे (हमारी दृष्टि से यह महत्वहीन है कि आप किस शब्द का प्रयोग करते हैं) और वह अपनी ओर से कोई चूक किए बिना ऐसे ढंग से कार्य करता है जो दृश्यतः वैध है किंतु वस्तुतः अवैध है और कर्तव्य-भंग है और उससे वह अन्य व्यक्ति के प्रति दायित्वाधीन हो जाता है, वहां विधि यह विवक्षा करती है कि अनुरोध करने वाले व्यक्ति ने संविदा की कि जिस व्यक्ति पर कर्तव्य का भार है उसकी क्षतिपूर्ति वह किसी ऐसे दायित्व की बाबत करे जो माने गए कर्तव्य के संपादन के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो और इससे कोई अंतर नहीं पड़ता कि अनुरोध करने वाला व्यक्ति यह नहीं जानता था कि उसका अनुरोध करने का हक अविधिमान्य है और न वह युक्तियुक्त तत्परता से वह बात को जान सकता था ।”

5. प्रकट यह होता है कि न्यायमूर्ति वाडिया ने प्रत्यर्थियों के पक्ष में विनिश्चय इसी तर्क प्रक्रिया के आधार दिया । मुख्य न्यायमूर्ति (जिनके निर्णय से न्यायमूर्ति रंगनेकर सहमत थे) इस तर्क को मानने के लिए तैयार नहीं थे और उन्होंने अपना विनिश्चय एक भिन्न आधार पर दिया जो इस निर्णय में आगे स्पष्ट किया जाएगा । हम न्यायमूर्ति वाडिया से सहमत होने

में असमर्थ हैं। हमारी राय में जब लार्ड डेवी ने शब्द “अनुसचिवीय” का प्रयोग किया तो उनका आशय यह प्रकट करने का नहीं था कि क्या काय किसी विकल्प, विमर्श या अवधारण के बिना किया जाना है। लगता यह है कि उनका आशय केवल यह था कि इस पद्धारी का उसमें कोई हित नहीं था सिवाय इसके कि वह अपना कानूनी कर्तव्य करे। किंतु उस कर्तव्य को करने मात्र में कुछ विमर्श और विवेक समाहित हो सकता है। इस प्रकार उपर्युक्त (1905) अपील केसेज 392 में, जो कि निगम के रजिस्टर में स्टाक के अंतरण के अनुरोध के विषय में था, क्षतिपूर्ति विवक्षित मानी गई, यद्यपि शेफील्ड कारपोरेशन ऐक्ट, 1883 की धारा 30 (1) में उपबंध था :-

“निगम या रजिस्ट्रार स्टाक का कोई अंतरण अनुमत करने के पूर्व, यदि उसे यह प्रतीत हो कि परिस्थितियां ऐसी हैं जिनमें ऐसा करना समीचीन है, अंतरण के अधिकार का दावा करने वाले व्यक्ति से हक का साक्ष्य मांग सकता है।”

6. इसी प्रकार **ए.जी. बनाम ओडेल**¹ में प्रतीत यह होता है कि अपील न्यायालय यह निष्कर्ष निकालने को तैयार था कि जब कोई सद्भावपूर्वक कार्य करने वाला व्यक्ति भूमि रजिस्ट्री में ऐसा अंतरण संबंधी वाद लाए जो कि उस भूखंड के रजिस्ट्रीकृत स्वामी द्वारा दृश्यतः निष्पादित हो किंतु वास्तव में जाली हो, तब वह विधि द्वारा विवक्षित इस संविदा के अधधीन हो जाता है कि उस व्यक्ति की, जिसका भूमि अंतरण अधिनियम के अधीन कर्तव्य था कि अंतरणों की रजिस्ट्री करे, क्षतिपूर्ति उस दायित्व की बाबत करें जो उस पर उस कर्तव्य के सम्पादन के परिणामस्वरूप आ जाए। वस्तुतः ऐसे मामले हो सकते हैं जिनमें जिस व्यक्ति पर कानूनी कर्तव्य का भार हो, उस पर यह उत्तरदायित्व भी हो कि न्यायिक अथवा न्यायिक-कल्प हैसियत से निर्णय करे कि क्या यह उचित है कि अमुक मामले में कर्तव्य का सम्पादन करे जिससे कि वह आवेदक के अनुरोध पर कार्य करता हुआ न माना जाकर स्वयं अपने पूर्णतः कानूनी उत्तरदायित्व से कार्य करता प्रतीत हो। जो मामले उपर्युक्त **ए. सी. बनाम ओडेल**² में संभव माने गए वे संबंधित कानूनों के विशिष्ट अर्थान्वयन पर निर्भर करेंगे किंतु उसमें ऐसी बातों पर विचार करना होगा जो उनसे भिन्न होंगी जो **शेफील्ड**

¹ [1906] 2 चांसरी 47.

² [1906] 2 चांसरी डिबीजन 47.

कारपोरेशन बनाम बार्कले¹ में विचारणीय थी । हमारे विचार से प्रस्तुत मामले का अवधारण इन्हीं उत्तरोक्त नजीरों के आधार होना चाहिए । इसमें कोई असंगत बात नहीं है कि उस अधिकारी को कुछ विकल्प या विमर्श का अवसर हो जो कार्य करे, जब तक वह उस व्यक्ति के कथन या दावे या निदेश या साक्ष्य के आधार पर अग्रसर हो । वस्तुतः ओडेल बनाम लोवरिंग² जैसे सरल मामले में यह आवश्यक नहीं होता कि वादी स्वतंत्र अभिकर्ता से भिन्न होना चाहिए था । वह प्रतिवादी के अनुरोध पर कार्य विवश होकर नहीं बल्कि स्वेच्छा से कर सकता है । किंतु यदि परिस्थितियां उपयुक्त हों तो वह विवक्षित क्षतिपूर्ति के अधिकार से वंचित नहीं होता, यद्यपि इसमें संदेह नहीं है कि वह अपना अधिकार अधित्यक्त कर सकता है । इसी प्रकार से जहां कर्तव्य कानूनी हो, जिसका समपादन कानूनी शर्तें पूरी होने पर अनिवार्य हो वहां यह बात कि पदाधिकारी को यह देखना होता है कि क्या शर्तें पूरी हो गईं वहां यह उसे यह कहने से निवारित नहीं करता कि वह आवेदक के कथन, दावे या अनुरोध पर वैसा करने को अग्रसर हुआ । इस संबंध में मुख्य न्यायमूर्ति ब्यूमाण्ट कहते हैं :—

“यदि वह (विहित प्राधिकारी) अनुरोध पर कार्य करे तो मुझे संदेह है कि यह कहना सुसंगत होगा कि उसने मामले पर स्वयं भी विचार कर लिया था ।”

7. हम मुख्य न्यायमूर्ति के इस मत से सहमत हैं, किंतु प्रथमदृष्ट्या हम उसे संदेह की बात नहीं मानते । इस मत को समर्थन धारा 12 की भाषा से मिलता है जो सबूत का भार स्पष्टतः आवेदक पर डालती है :—

“.....सरकारी वचनपत्र का हकदार होने का दावा करने वाला कोई व्यक्ति विहित अधिकारी को आवेदन देकर और दावे के न्यायपूर्ण होने के विषय में उसका समाधान करके तथा विहित ढंग से प्राप्ति अंकित पहला वचनपत्र परिदत्त करके और विहित फीस (यदि कोई हो) देकर नवीकृत वचनपत्र प्राप्त कर सकता है । दावा करने में हक का कथन आता है, आवेदन देना आवेदक का कार्य होता है और जैसा कि श्री विलिंग ने बताया, ‘समाधान करके’ कर्तवाच्य में है, न कि कर्मवाच्य में और वह एक शर्त है जो कि आवेदक द्वारा पूरी की जानी चाहिए । ये बातें हमारे निर्णयानुसार एक अनुरोध दर्शाते हैं जिसमें कि

¹ [1905] अपील केसेज 392 = [1906] 2 चांसरी डिवीजन 47.

² [1875] एल. आर. 10 सी. पी. 196.

(रूढ़िजन्य) सामान्य विधि क्षतिपूर्ति प्रथमदृष्ट्या विवक्षित की जा सकती है, भले ही जिस अधिकारी का उस अनुरोध के विषय में समाधान हो उसकी ओर से उसके पूर्व कुछ विचार हो। किंतु मुख्य न्यायमूर्ति ने निर्णय किया कि धारा 21 के कारण इस अधिनियम के अधीन रूढ़िजन्य क्षतिपूर्ति विवक्षित नहीं होगी। उनके निर्णयानुसार वह धारा किसी विवक्षित क्षतिपूर्ति का वर्जन करती है क्योंकि वह अधिकार प्रदान करती है कि अभिव्यक्त क्षतिपूर्ति की मांग की जाए और अभिव्यक्त क्षतिपूर्ति न दिये जाने पर नवीकृत वचनपत्र देने से इनकार कर दे। उनका विचार था कि कानूनी अधिकार का धारा 21 का अभिव्यक्त उपबंध उस धारा पर कार्य न किए जाने की दशा में किसी विवक्षित अधिकार से असंगत है। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि समझा यह जाना चाहिए कि विधान-मंडल का आशय था कि क्षतिपूर्ति का अधिकार प्रत्येक मामले में न होकर केवल धारा 21 की विशेष दशाओं में होना चाहिए। हम इस मत से सादर असहमत हैं। अर्थान्वयन की दृष्टि से हम यह दृष्टिकोण नहीं स्वीकार करते कि धारा 21 का यही प्रभाव नहीं है कि वह विशेषाधिकार प्रदान करे जो हमारी राय में 1886 के अधिनियम के अधीन संदेह-रहित ढंग से था, जिस अधिनियम में तद्विषयक विधि तब तक थी जब तक कि वह 1920 के अधिनियम द्वारा निरसित और प्रतिस्थापित नहीं हो गया। कानून का अर्थान्वयन प्रथमदृष्ट्या इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वह विधि में उससे अधिक परिवर्तन नहीं करता जितना कि उसके शब्द या अनिवार्य विवक्षा से प्रकट हो। 1886 के अधिनियम में धारा 21 नहीं थी। यदि 1920 के अधिनियम में वह धारा जोड़ने में आशय यह था कि निरसित अधिनियम के अधीन विद्यमान रूढ़िजन्य क्षतिपूर्ति समाप्त कर दी जाए तो हमें लगता है कि विधान-मंडल ने ऐसे शब्दों का प्रयोग किया होता जो वह आशय स्पष्ट रूप से प्रकट करते जिससे कि यह सुनिश्चित होता कि धारा 21 में यथाउपबंधित के सिवाय क्षतिपूर्ति का अधिकार नहीं होना चाहिए।

8. हमें ऐसे शब्दों को विवक्षित मामले का औचित्य प्रदान करने के लिए कोई कारण प्रतीत नहीं होता। बल्कि हमारा धारा 21 का अर्थान्वयन यह है कि वह एक अतिरिक्त कानूनी अधिकार प्रदान करती है जो कि रूढ़िजन्य अधिकार से भिन्न है और किसी प्रकार से असंगत नहीं है। उपरोक्त अधिकार इस कारण पूरा नहीं हो जाता कि अधिकारी ने उस

अनुरोध पर कार्य किया। उसे प्रभावी करने के लिए यह आवश्यक है कि अतिरिक्त शर्त पूरी की जाए कि उपर्युक्त उगडेल बनाम लोवरिंग¹ के शब्दों में “कार्य अन्य व्यक्ति के अधिकारों के लिए क्षतिकारक निकले।” इस प्रकार रूढ़िजन्य अधिकार की आवश्यकता उस मामले में होती है जिसमें कि अधिकारी का गलत तौर पर समाधान हो, भेले ही उसको नवीकृत वचनपत्र जारी करने के समय आवेदक ने अपने दावे के औचित्य के विषय में उसका समाधान कर दिया हो। यद्यपि वह तथा आवेदक दोनों पूर्ण सद्भावपूर्वक और बिना संदेह के कार्य कर रहे थे किंतु हो सकता है, जैसा कि यहां हुआ, कि वे अनजाने में वचनपत्र के वास्तविक स्वामी के अधिकारों का उल्लंघन कर रहे थे और उसके संपरिवर्तन के दोषी थे। जिस मामलों में रूढ़ि क्षतिपूर्ति की विवक्षा करती है वे प्रायः ऐसे मामले होते हैं जिनमें कि अधिकारी धारा 21 के अधीन क्षतिपूर्ति की मांग करने का विचार नहीं करता। ये मामले सदैव नहीं तो प्रायः ऐसे होते हैं जिनमें कि जोखिम किसी अन्य व्यक्ति को कपट के कारण होती है। यदि धारा 21 का उस प्रकार अर्थ किया जाए जैसा कि मुख्य न्यायमूर्ति ने किया तो इस जोखिम का दायित्व सरकार पर आ जाएगा, सिवाय उस दशा में जबकि अधिकारी धारा 21 के अधीन कानूनी क्षतिपूर्ति हर मामले में करा ले। इससे इन वचनपत्रों के नवीकरण के क्रम में गंभीर और अनावश्यक कठिनाई आएगी। यह ऐसी पद्धति है जिसका उपयोग बराबर होता है और उसमें सुविधा दी जानी चाहिए, न कि उसे बाधित किया जाना चाहिए। जो अर्थ हम कर रहे हैं वह हमारे विचार से अर्थान्वयन की दृष्टि से सही है। यह रूढ़िजन्य क्षतिपूर्ति उन मामलों में लागू होगी, जो विरले ही होंगे, जिनमें कि अंत में यह प्रकट हो कि किसी छिपे कपट के कारण उसकी आवश्यकता है। दूसरी ओर, अधिकारी प्रायः अभिव्यक्त क्षतिपूर्ति की मांग के अधिकार का प्रयोग नवीकृत वचनपत्र जारी करने के पूर्व उन सब दशाओं में करेगा जिनमें कि वह कह सके कि उसका समाधान हो गया है, फिर भी उसे भान है कि ऐसी संदेह की या अन्य परिस्थितियां विद्यमान हैं जिनसे वह इस बात के लिए प्रेरित होता है कि अभिव्यक्त क्षतिपूर्ति के बिना नवीकृत वचनपत्र जारी करने से इनकार कर दे। यह ध्यान देने योग्य है कि धारा 21 के अधीन नवीकृत वचनपत्र जारी करने की शर्त के रूप में मांग विहित क्षतिपूर्ति की ही की जा सकती है और कानून के अधीन विहित नियमों में यह दो प्रतिभुओं सहित आवेदक के एक बंधपत्र के रूप में होगी

¹ [1875] एम. आर. 10 सी. पी. 196.

जो वचनपत्र की राशि की दो-गुनी राशि का होगी। यह रूढ़िजन्य क्षतिपूर्ति से प्रत्यक्षतः भिन्न है। यह भी उल्लेखनीय है कि यदि मामले का निर्णय पक्षकारों के बीच साम्या के आधार पर किया जाए तो प्रकट यह होगा कि अधिक उचित यह होगा कि हानि प्रत्यर्थी वहन करें जिन्होंने उस व्यापार के (जो वे लाभ के लिए करते हैं) क्रम में यह ठीक समझा कि आचार्य से वचनपत्र की खरीद जाली पृष्ठांकन के आधार पर करें और बाद का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया कि वचनपत्र को अपनी संपत्ति के रूप में पेश करें, जबकि सरकारी अधिकारी ने प्रत्यर्थियों के दावे और कथन के आधार पर केवल अनुसचिवीय हैसियत से अपनी कानूनी कर्तव्य का पालन किया है। हमारे विचार से प्रत्येक कारण इस बात का ही है कि न्यायालय इस मामले में क्षतिपूर्ति की विवक्षा करे और इस बात के लिए पर्याप्त कारण नहीं है कि धारा 21 को उक्त विवक्षा का अपवजनकारी माना जाए। निःसंदेह यह सही है कि यदि धारा 21 के अधीन अभिव्यक्त क्षतिपूर्ति ले ली जाए तो कोई विवक्षित या अंतर्निहित क्षतिपूर्ति उससे अपवर्जित हो जाएगी। किंतु वह बात इससे भिन्न है कि धारा 21 का यह अर्थ किया जाए कि कानून की व्याप्ति से इस संभावना को निकाल दिया जाए कि जहां अभिव्यक्त क्षतिपूर्ति नहीं अपेक्षित की गई वहां उचित मामले में विवक्षित क्षतिपूर्ति मानी जाए।

9. इन सब कारणों से हमारी राय है कि अपील सफल होनी चाहिए, निचले न्यायालयों के निर्णय अपास्त किए जाने चाहिए और यह निर्णय किया जाना चाहिए कि अपीलार्थी प्रत्यर्थियों से अपने दावे की उचित राशि प्राप्त करे तथा इस अपील का और निचले न्यायालयों का खर्चा भी प्राप्त करे। यदि पक्षकार सहमत हों कि उचित राशि क्या होगी तो उसका समावेश सपरिषद् आदेश में किया जा सकता है। यदि वे सहमत न हों तो मामला बम्बई उच्च न्यायालय को भेज दिया जाए कि वे राशि का निर्धारण करें। हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार है।

अपील मंजूर की गई।

साई मौले शाह.....अपीलार्थी

बनाम

गनी शाह और अन्य.....प्रत्यर्थी

(लाहौर उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 14
सन् 1932)

निर्णीत : 3.5.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड थैंकरटन, लार्ड राइट व सर शादी लाल

मुस्लिम विधि – तकिया – तकिया के सज्जादानशीन के पद का उत्तराधिकार उसके संस्थापक द्वारा बनाए गए नियमों से और उनके अभाव में उस तकिया की प्रथा से शासित होता है – प्रस्तुत मामले में अपीलार्थी का प्रथा के अनुसार चयन माना गया ।

निर्णय

जस्टिस सर शादी लाल – इस अपील में उठाया गया प्रश्न पंजाब प्रांत के लुधियाना शहर में स्थित एक मुस्लिम (मुसल्लम) तकिया के सज्जादानशीन की नियुक्ति के संबंध में है । यह तकिया शाह शुहद के नाम से प्रसिद्ध है और मदारी फकीरों के संप्रदाय का है । इसके सज्जादानशीन एक साई झण्डू शाह थे, जिनका देहावसान 25.10.1922 को हो गया । पक्षकारों में विवाद इस प्रकार का है कि इस संस्था के सज्जादानशीन पद पर साई झण्डू शाह के उत्तराधिकारी के रूप में अपीलार्थी मौले शाह की नियुक्ति क्या विधिमान्यतः की गई । तकिया एक ऐसा स्थान होता है जहां कोई फकीर या दरवेश (व्यक्ति जो संसार छोड़कर ईश्वर का भक्त/सेवक हो जाता है) निवास करता है और यह उसके पवित्र जीवन और शिक्षाओं की ओर जनता का ध्यान दिलाने और उसके चारों ओर शिष्यों के एकत्र होने के पूर्व होता है और यह स्थान उनके निवास के लिए बनया जाता है **मुहीउद्दीन बनाम सईदउद्दीन**¹ तकिया विधि में एक धार्मिक संस्था माना जाता है । उसके लिए अनुदान या विन्यास विधिमान्य वक्फ़, अर्थात् धार्मिक संस्था का धर्मगुरु होता है । उसका विशेषाधिकार होता है कि अपने शिष्यों को धर्म-ज्ञान प्रदान करे । वह धार्मिक संस्था के धार्मिक मामलों का प्रभारी होता है, जबकि मुतवल्ली उसके सांसारिक मामलों का प्रभारी होता है ।

¹ इंग्लैंड ला रिपोर्टर [1893] 20 कलकत्ता 810(822).

कभी सज्जादानशीन और मुतवल्ली दोनों पदों पर एक ही व्यक्ति नियुक्त कर दिया जाता है। सज्जादानशीन के पद का उत्तराधिकार उन नियमों से (यदि कोई हो) शासित होता है जो संस्थापक ने बनाए हों। किंतु प्रश्नगत तकिया को लागू ऐसे कोई नियम नहीं हैं और उत्तराधिकार संस्था को शासित करने वाली प्रथा से विनियमित होता है। यहां पर्याप्त साक्ष्य है, और वस्तुतः पक्षकार एकमत हैं, कि प्रश्नगत तकिया के सज्जादानशीन की नियुक्ति के लिए अनुसरण किया जाने वाला नियम भेक या धार्मिक समाज द्वारा निर्वाचन का है। क्या निर्वाचन के अतिरिक्त किसी वरिष्ठ पूजा-स्थान (मजार) के प्रधान द्वारा नामनिर्देशन या पुष्टि भी होनी चाहिए, यह ऐसा विषय है जिस पर पक्षकार एकमत नहीं हैं।

2. जैसा कि पहले बताया गया, प्रश्नगत तकिया मदारी फकीरों का है। फकीरों के इस संप्रदाय की स्थापना सीरिया के जिन्दा शाह मधार ने की थी। उनका पूजास्थल (मजार) भारत में मुकरामपुर या मकनपुर में है, जो कि कानपुर से लगभग 30 मील दूर है। प्रकट यह होता है कि 8.4.1925 को अपीलार्थी मौले शाह दो अन्य फकीरों के साथ मकनपुर के पूजास्थल (मजार) के प्रधान सैयद नजीर अहमद के पास गए और उनसे अनुरोध किया कि लुधियाना में मदारी फकीरों और अन्य व्यक्तियों की सभा में शामिल हों। सैयद नजीर अहमद ने वह अनुरोध मान लिया और वे 18.7.1925 को या उसके पूर्व लुधियाना आए। उस दिन लुधियाना में एकत्र हुए फकीरों ने उनके समक्ष एक दस्तावेज या लिखित करार पेश करके अनुरोध किया कि झण्डू शाह के उत्तराधिकारी की नियुक्ति कर दें। यह उल्लेखनीय है कि उस दस्तावेज पर केवल बड़ी संख्या में फकीरों और आस-पास के मदारी (मजारों) पूजास्थलों के प्रधानों के ही हस्ताक्षर नहीं थे अपितु प्रत्यर्थी सरदार अली शाह के भी हस्ताक्षर थे। हस्ताक्षरकर्ताओं ने घोषित किया था कि गद्दीनशीन (सज्जादानशीन) का पद झण्डू शाह के देहावसान के समय से रिक्त है और उन्होंने सैयद नजीर अहमद से एक स्तर से अनुरोध किया कि वह पद उस व्यक्ति को प्रदान करें जो तकिया के सज्जादानशीन के पद के लिए उपयुक्त हो और उन्हें उपयुक्त लगे। इस अनुरोध के अनुसार सैयद नजीर अहमद ने उस दिन एक सनद दी जिसमें तकिया के सज्जादानशीन पद के लिए झण्डू शाह के शिष्य मौले शाह को चुना गया था। इस सनद पर भी विभिन्न (मजारों) पूजास्थलों के प्रतिनिधियों तथा अन्य मदारी फकीरों ने हस्ताक्षर किए।

3. यह प्रकट करने के लिए साक्ष्य है कि स्वयं सैयद नजीर अहमद ने

सभा और एकत्र होने वाले अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति में मौले शाह के सिर पर पगड़ी बांधी और अन्य व्यक्तियों ने उनको तकिया का प्रधान मानने के प्रतीकस्वरूप पगड़ियां तथा नकद राशियां भेंट कीं। एक सूची में उनके नाम तथा उनके द्वारा दी गई भेंटों का विवरण है। दूसरी ओर मौले शाह ने उन सब को एक भोज दिया जिस पर उनके लगभग 3,000/- रु. खर्च हुए। विचारण न्यायाधीश का निष्कर्ष है कि अपने दावे के समर्थन में वादी द्वारा पेश किया गया मौखिक और दस्तावेजी साक्ष्य साबित कर देता है कि उन्होंने सज्जादानशीन पद के उत्तराधिकार को विनियमित करने वाली प्रथा का अनुपालन कर दिया है और विद्वान् न्यायाधीश ने उन्हें तदनुसार डिक्री दे दी है। गनी शाह ने इस डिक्री के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की। उनका दावा था कि वे उस तकिया के सरदार अली शाह द्वारा नियुक्त मुतवल्ली हैं। उस न्यायालय ने अपील इस आधार पर मंजूर कर ली कि मौले शाह द्वारा अपने निर्वाचन के लिए की गई कार्यवाही निर्वाचन नहीं मानी जा सकती जिसमें कि निर्वाचकों ने दिवंगत सज्जादानशीन के उत्तराधिकारी के चयन के विषय में स्वतंत्र विकल्प का प्रयोग किया था।

4. उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश ने मौले शाह के इस तरीके की आलोचना की कि पहले उन्होंने सैयद नजीर अहमद की सद्भावना और समर्थन प्राप्त किया और समाज के एक वर्ग ने अपनी शक्तियां अनधिकृत रूप से उन्हें प्रत्यायोजित कर दीं। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि उन परिस्थितियों में परिणाम पूर्वनिश्चित हो गया था।

5. हम विद्वान् न्यायाधीशों के निष्कर्ष से सहमत होने में असमर्थ हैं। स्वीकृत रूप से सैयद नजीर अहमद मदारी फकीरों के संप्रदाय के प्रवर्तक के (मजार) पूजास्थल के प्रधान थे और भेक अर्थात् तकिया का धार्मिक समाज उनका बड़ा सम्मान करता था। अतः वादी के लिए उचित था कि पता लगाए कि क्या उसके निर्वाचन का अनुमोदन मूल पूजास्थल (मजार) के प्रधान द्वारा होगा, जिनकी सम्मति के विषय में कुछ साक्षी यह मानते थे कि उचित निर्वाचन के लिए यह आवश्यक थी। जो भी हो, यह स्पष्ट है कि जब वह लुधियाना आए तब उन्होंने उचित दृष्टिकोण अपनाया और कोई कार्यवाही केवल तब की जब मामले में हितबद्ध सभी व्यक्तियों ने उनसे अनुरोध किया। यह नहीं कहा जा सकता कि भेक के सदस्यों को उनके अपने विकल्प के प्रयोग में प्रपीड़ित किया गया या उन पर असम्यक् असर डाला गया। वस्तुतः यह नहीं कहा गया है कि सज्जादानशीन के निर्वाचन को शासित करने वाली प्रथा में निर्वाचन के संचालन के लिए

कोई विशेष प्रक्रिया है। इन फकीरों के समुदाय में गुप्त मतदान जैसी कोई चीज नहीं है और प्रथा में अनुध्यात यह है कि समाज का यह मत अभिनिश्चित किया जाना चाहिए कि किसे वे सज्जादानशीन के कृत्यों के निर्वहन के लिए उपयुक्त व्यक्ति मानेंगे। यह स्पष्ट है कि प्रथमतः मदारी संघ के किसी सदस्य द्वारा प्रस्थापना की जानी चाहिए और यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि भेक के सदस्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण मदारी पूजास्थल के प्रधान से अनुरोध करें कि उनका इस मामले में मार्गदर्शन करें। हमारे विचार से इस मामले में निर्वाचन की विधिमान्यता को किसी उचित आधार पर प्रश्नगत नहीं किया जा सकता। अतः निर्णय यही किया जाना चाहिए कि भेक ने मौले शाह को सज्जादानशीन के पद के लिए उचित तौर पर निर्वाचित किया।

6. किंतु बहस यह की गई कि वह झण्डू शाह के शिष्य नहीं थे। किंतु इस तर्क के खंडन के लिए पर्याप्त साक्ष्य है। यह महत्वपूर्ण है कि सैयद नजीर अहमद द्वारा उन्हें दी गई सनद में उन्हें दिवंगत सज्जादानशीन का शिष्य बताया गया और इस दस्तावेज पर बहुत से फकीरों के हस्ताक्षर हैं। इसके अतिरिक्त सैयद नजीर अहमद का बयान है कि उन्होंने मौले शाह की आस्थिति के संबंध में स्वयं जांच-पड़ताल की और उनका समाधान हो गया कि वे दिवंगत सज्जादानशीन के शिष्य हैं। किंतु प्रत्यर्थी सरदार अली शाह का दावा है कि उन्हें भेक ने 28.10.1922 को, अर्थात् झण्डू शाह की मृत्यु के बाद तीसरे दिन, चुना था। इसमें संदेह नहीं हो सकता कि यदि वे अक्टूबर, 1922 में विधिमान्यतः निर्वाचित हो गए थे तो सज्जादानशीन के पद की कोई रिक्ति नहीं थी जिसे बाद में मौले शाह के निर्वाचन द्वारा जुलाई, 1925 में भरा जाता। प्रश्न यह है कि क्या सरदार अली शाह का पहले निर्वाचन हो चुका था जिससे कि अपीलार्थी का बाद का निर्वाचन अप्रवर्तनीय हो गया है। कहा यह गया कि कथित निर्वाचन की तारीख को सरदार अली शाह के पक्ष में एक दस्तावेज लिखी (निष्पादित) की गई थी किंतु वह दस्तावेज पेश नहीं की गई। यह विवादित नहीं है कि दस्तावेज की अन्तर्वस्तु मौखिक साक्ष्य से साबित नहीं की जा सकती। अतः इस बात का कोई सबूत नहीं है कि भेक ने संस्था की प्रथा के अनुसार कोई निर्वाचन किया। वस्तुतः विभिन्न पूजास्थलों (मजारों) के प्रधानों और अन्य फकीरों द्वारा 18.7.1925 को निष्पादित करार, जिसमें सैयद नजीर अहमद से अनुरोध किया गया था कि सज्जादानशीन पद उपयुक्त व्यक्ति को प्रदान करें। स्पष्ट शब्दों में कहता

है कि प्रश्नगत तकिया के सज्जादानशीन का पद झण्डू शाह के देहावसान के समय से रिक्त है और उसमें यह अनुरोध है कि वह पद उपयुक्त व्यक्ति को प्रदान किया जाना चाहिए । उस पर स्वयं सरदार अली शाह के हस्ताक्षर हैं और यह कहना पड़ता है कि उससे इस दस्तावेज पर हस्ताक्षर छल करके करा लिए गए । यह अभिवचन सैयद नजीर अहमद के साक्ष्य के विपरीत है जिनकी उपस्थिति में सरदार अली शाह और अन्य मदारी फकीरों ने उस दस्तावेज पर हस्ताक्षर किए । अतः सरदार अली शाह का निर्वाचन पहले हो जाने के आधार पर आपत्ति को कायम नहीं रखा जा सकता ।

7. यह स्पष्ट नहीं है कि संस्था द्वारा अनुसरण की जाने वाली प्रथा में क्या यह विधान है कि निर्वाचित सज्जादानशीन का अनुमोदन वरिष्ठ पूजास्थल (मजार) के प्रधान द्वारा होना चाहिए ; किंतु इस बात की चर्चा करना हम आवश्यक नहीं समझते क्योंकि यह उभयपक्ष को मान्य है कि दिवंगत सज्जादानशीन के उत्तराधिकार के रूप में अपीलार्थी के चयन को उस पूजास्थल (मजार) के प्रधान का अनुमोदन मिला जिसे मदारी फकीर देश के सभी मदारी पूजास्थलों (मजारों) के ऊपर मानते हैं । सभी सुसंगत परिस्थितियों पर विचार करके हमारी राय है कि अपीलार्थी मौले शाह ने साबित कर दिया है कि वे तकिया शाह शुहद के सज्जादानशीन पद पर सम्यक् रूप से निर्वाचित हुए । परिणामतः उनके द्वारा प्रस्तुत अपील मंजूर की जानी चाहिए, उच्च न्यायालय की डिक्री अपास्त की जानी चाहिए और विचारण न्यायाधीश की डिक्री प्रत्यावर्तित पुनः स्थापित की जानी चाहिए । प्रत्यर्थी सं. 1 व 2 अपीलार्थी का यहां का और उच्च न्यायालय का खर्चा अदा करें । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार है ।

अपील मंजूर की गई ।

पंडित परमानंद.....अपीलार्थी

बनाम

निहाल चंद और एक अन्य.....प्रत्यर्थी

(लाहौर उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 12
सन् 1937)

निर्णीत : 3.5.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड थेंराइट, लार्ड रोमर व सर लांसलाट सेंडरसन,
सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

हिन्दू विधि – उदासी महंत – उदासी महंत सम्प्रदाय में चले जाने पर व्यक्ति अपने कुटुम्ब से कट जाता है – उसका तथा कुटुम्ब का परस्पर विरासत का अधिकार भी समाप्त हो जाता है – उदासी की सम्पत्ति उसके अध्यात्मिक पुत्र अर्थात् शिष्य को जाती है – किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उदासी की निजी संपत्ति नहीं हो सकती – उसकी निजी संपत्ति भी शिष्य को जाती है – अतः शिष्य परम्परा से संपत्ति जाने के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि संपत्ति लोक प्रयोजन के लिए विन्यास या लोक विन्यास है ।

न्यास – लोक न्यास – लोक न्यास माने जाने के लिए निम्नलिखित तत्त्व आवश्यक हैं : (i) उसका सृजन पूर्त या धार्मिक प्रकृति के लोक प्रयोजन के लिए होना चाहिए ; (ii) न्यासकर्ता अभिनिश्चित होने चाहिए ; (iii) न्यास के सृजन का आशय युक्तियुक्त निश्चितता से प्रकट होना चाहिए ; तथा (iv) न्यास का प्रयोजन और उसका फायदाग्राही स्पष्ट होना चाहिए ।

निर्णय

जस्टिस सर शादी लाल :- गुजरानवाला नगर में एक भवन है जिसे बगीची ठाकरान या गुरुद्वारा बगीची कहते हैं । इस अपील में हमारे अवधारणार्थ मुख्य प्रश्न यह है कि क्या वह भवन, उससे संलग्न दुकानों और अन्य संपत्ति सहित, पूर्त या धार्मिक प्रकृति के लोक प्रयोजनार्थ न्यास का विषय है । प्रश्न प्रतिवादियों ने उठाया, जिन्होंने हिंदू जनता के प्रतिनिधि होने का दावा करते हुए जिला न्यायाधीश को पूर्त और धार्मिक न्यास

अधिनियम (सं. 14 सन् 1920) की धारा 3 के अधीन एक आवेदन दिया, जिसमें कहा कि बगीची ठाकरान धार्मिक और पूर्त प्रयोजनार्थ लोक विन्यास है और उन्होंने महन्त नारायण दास से, जिसे उन्होंने न्यासी बताया, अपेक्षा की कि न्यास सम्पत्ति के आय-व्यय का हिसाब दे। उनके कथनों का नारायण दास ने विरोध किया और पक्षकारों के बीच विवाद के कारण नारायण दास ने प्रस्तुत वाद दाखिल किया और वह इस प्रयोजन से कि न्यास और उससे संलग्न संपत्ति की प्रकृति पर प्राधिकृत निर्णय प्राप्त हो जाए। विचारण न्यायाधीश का निष्कर्ष कथित न्यास की लोक प्रकृति के विरुद्ध था। किंतु उनका निर्णय लाहौर उच्च न्यायालय ने उलट दिया है। उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय तथा उसके आधार पर बनी, डिक्री से यह अपील सपरिषद् हिज मैजेस्टी को पंडित परमानंद ने की है, जिन्हें नारायण दास की मृत्यु हो जाने पर उसके विधिक प्रतिनिधि के रूप में पक्षकार बनाया गया।

2. उच्च न्यायालय ने विद्वान् न्यायाधीशों ने सबूत के भार के प्रश्न पर सावधानी से विचार करके विचारण न्यायाधीश के इस निष्कर्ष की पुष्टि की कि यह भार प्रतिवादियों पर था कि वे साबित करें कि वादी, जिसका स्वीकृत रूप से सम्पत्ति पर कब्जा है, उसे पूर्त और धार्मिक प्रकृति के सार्वजनिक प्रयोजनार्थ सृजित न्यास के रूप में धारण करता है। संक्षेप में हम बगीची ठाकरान या गुरुद्वारा बगीची का इतिहास बता दें। बगीची की स्थापना एक बाबा कुल्ला या जुलजस ने की थी, जिनकी मृत्यु लगभग 1800 ईसवी में हुई। वह जाति के खत्री थे और सईद नगर नामक स्थान से गुजरानवाला चले आए थे, जहां उन्होंने एक भूखंड प्राप्त करके उस पर मकान बनाया। उन्होंने एक बगीचा भी लगाया जिसके कारण इस संस्था के नाम में बगीची शब्द आया। बाबा कुल्ला का उत्तराधिकारी उसका चेला ठाकर रामदास हुआ, जो जाति का अरोड़ा था। बताया यह गया कि रामदास वैधक करता था और जब वह बगीची ठाकरान का भार-साधक था तो उसने भवन में अनेक सुधार किए। किंतु रामदास के उत्तराधिकारी संतदास ने उसका पर्याप्त विस्तार किया और गुजरानवाला में मकान-दुकान के रूप में संपत्ति प्राप्त की। संस्था की सम्पन्नता मुख्यतः नारायण दास के कारण थी, जो 1879 में संत दास की मृत्यु होने पर उसका उत्तराधिकारी हुआ। नारायण दास ने नानकाना साहब में संपत्तियां अर्जित कीं और गुजरानवाला में दुकानें भी बनाईं। नारायण दास के समय में विभिन्न

सम्पत्तियों की वार्षिक आय 1905 में 1,394/- रु. से बढ़कर 1923 में 7,664/- रु. हो गई। संभवतः आय में इसी असाधारण वृद्धि के कारण प्रत्यर्थियों का ध्यान आकर्षित हुआ और उन्होंने पूर्त और धार्मिक न्यास अधिनियम के अधीन आवेदन दिया, जिसके कारण प्रश्नगत मुकदमेबाजी हुई। प्रकट यह होता है कि बगीची का प्रभारी महंत कहलाता है और स्वयं बगीची को गुरुद्वारा कहते थे। किंतु विवाद की विषयभूत मुख्य संपत्ति उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों द्वारा अर्जित की गई जो महंत के पद पर आसीन थे।

3. उच्च न्यायालय का निर्णय जिस मुख्य आधार पर है वह यह है कि बगीची तथा अन्य सम्पत्ति गुरु से चेले को मिली है। किंतु इस परिस्थिति से अनिवार्यतः यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि संपत्ति जब महंत द्वारा अर्जित की जाती है तो वह अपनी सांसारिक प्रकृति खो देती है और धार्मिक प्रकृति की हो जाती है। यह उभयपक्ष को मान्य है कि इस संस्था के महंत उदासी नामक सम्प्रदाय के संन्यासी थे। उदासी कभी ही विवाह करते हैं और यदि वे करते हैं तो उनका सारा प्रभाव प्रायः नष्ट हो जाता है क्योंकि गुरुद्वारा या धर्मशाला निजी निवास-स्थान हो जाती है जिसमें बाहरी व्यक्ति नहीं जाते। मेकलेगन की पंजाब की जनसंख्या रिपोर्ट, भाग 1 अध्याय 4, पृष्ठ 152। जब कोई व्यक्ति उदासी बन जाता है तो वह अपने नैसर्गिक कुटुम्ब के सदस्यों से संबंध-विच्छेद कर लेता है। परिणाम यह होता है कि न तो वह और न उसका नैसर्गिक संबंधी एक-दूसरे की संपत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता है। किंतु इस निष्कर्ष के लिए कोई कारण नहीं है कि उदासी अपने धन से या अपने प्रयासों से निजी सम्पत्ति अर्जित नहीं कर सकता। यदि वह निजी सम्पत्ति अर्जित करता है तो वह उसके नैसर्गिक संबंधी को विरासत में न जाकर उसकी मृत्यु पर उसके आध्यात्मिक वारिस को जाती है, जिसमें उसका चेला भी आता है जो उसका आध्यात्मिक पुत्र माना जाता है। गुरु से चेला को सम्पत्ति जाने से यह आवश्यक उपधारणा नहीं होती कि यह सम्पत्ति धार्मिक है।

4. यह मान लेने पर भी कि महंत द्वारा अर्जित सम्पत्ति धार्मिक सम्पत्ति मानी जानी चाहिए, प्रश्न उठता है कि क्या वह जनता के उपयोग या फायदे के लिए समर्पित की गई। लोक न्यास के मामले में फायदाग्राही या तो जनसामान्य होते हैं या विशिष्ट वर्णन में आने वाला उनका पर्याप्त भाग। यहां कोई दस्तावेज या मौखिक साक्ष्य नहीं है जो प्रकट करे कि सम्पत्ति

जनता के उपयोग या फायदे के लिए अभिव्यक्त रूप से समर्पित की गई । तो क्या कोई परिस्थितियां हैं जिनसे लोक न्यास के लिए संपत्ति के समर्पण का निष्कर्ष निकाला जा सके ? प्रकट यह होता है कि 1869 में चार व्यक्तियों ने गुजरावाला नगरपालिका समिति को आवेदन दिया कि बगीची ठाकरान के भवन के सामने का भू-खंड उस भवन के प्रांगण (सहन) में सम्मिलित कर लिया जाए और यद्यपि वे व्यक्ति माफीदार होने के नाते स्वयं उस भूमि में हितबद्ध थे, किंतु वे इस सम्पत्ति के अपने अधिकार छोड़ने के लिए कोई प्रतिकर नहीं मांगेंगे । नगरपालिका समिति ने भूमि अनुदत्त किए जाने की सिफारिश की और उपायुक्त ने पाया कि यह भू-खंड लोक मार्ग से लगा हुआ असुन्दर भू-खंड है और वे इस बात के लिए तैयार हो गए कि भूमि के मूल्य में सरकार का हिस्सा नगर के हित में माफ कर दें । यह सही है कि तब इस भवन का वर्णन एक पवित्र स्थान के रूप में किया गया था और उसके अधिभोगी महंत को बहुत अच्छा व्यक्ति कहा गया था ; किंतु, जैसा कि उच्च न्यायालय ने बताया,

“स्वयं संव्यवहार गुरुद्वारा को सम्पत्ति देने की इच्छा से प्रेरित न होकर नगर नियोजन के उद्देश्य से किया गया प्रतीत होता है ।”

5. भूमि का यह समनुदेशन यह साबित नहीं करता कि भवन लोक न्यास के लिए समर्पित किया गया था । किंतु बहस की गई कि नारायण दास पर वर्ष 1905-1906 की बाबत गुरुद्वारा की सम्पत्ति से उनके द्वारा प्राप्त आय पर आय-कर लगाया गया और फिर आय-कर से माफी इस आधार पर दे दी गई कि वह सम्पत्ति लोक न्यास है । ऐसा कोई दस्तावेज नहीं है जो उस आपत्ति की प्रकृति प्रकट करे जिस पर माफी का आदेश आधारित था । मौखिक साक्ष्य इस आशय का है कि कर से माफी इस कारण दी गई कि वह सम्पत्ति वक्फ़ की बताई गई । किंतु “वक्फ़” शब्द अस्पष्ट है और उसमें प्राइवेट न्यास भी आ सकता है । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि महंत ने उस समय घोषित किया कि यह सम्पत्ति लोक प्रकृति के धार्मिक न्यास के लिए समर्पित है । किंतु यह महत्वपूर्ण है कि, जैसा कि उसने बताया, नारायण दास को बाद के अवसर पर आय-कर में छूट प्राप्त करने में सफलता नहीं मिली और 250/- रु. या 300/- रु. वार्षिक आय-कर के रूप में देने पड़े । हमारा ध्यान महंत संत दास द्वारा 14.10.1875 को की गई एक वसीयत की ओर आकर्षित किया गया । इस वसीयत में वसीयतकर्ता विवादित संपत्ति को अपनी निजी संपत्ति

बताता है और कहता है कि अन्य संक्रामण करने का हकदार है । इसमें संदेह नहीं हो सकता कि संत दास संपत्ति को अपनी संपत्ति मानता था किंतु प्रत्यर्थियों का तर्क है कि स्वयं उसने घोषित किया कि संपत्ति उसकी मृत्यु पर लोक न्यास हो जाएगी और उसने कथित न्यास के प्रशासन के लिए एक प्रबंध समिति नियुक्त की । मूल वसीयत उपलब्ध नहीं है । किंतु यह उभय पक्ष को मान्य है कि वसीयतकर्ता की मृत्यु के बाद उस वसीयत का क्रियान्वयन नहीं हुआ । यह प्रकट करने के लिए कुछ साक्ष्य है कि वसीयतकर्ता ने उसे नष्ट करके उसे प्रतिसंहत कर लिया । इसे प्रतिसंहत करने से न्यास की घोषणा व्यर्थ हो गई । स्थिति जो भी हो, इसमें संदेह नहीं हो सकता कि न तो संत दास के उत्तराधिकारी नारायण दास ने और न किसी प्रबंध समिति ने सम्पत्ति का प्रशासन न्यास सम्पत्ति के रूप में किया । वसीयत प्रतिसंहत की गई या नहीं, उसका आश्रय यह साबित करने के लिए नहीं लिया जा सकता कि संत दास की मृत्यु पर एक लोक न्यास प्रवर्तन में आ गया । किंतु उससे प्रकट होता है कि वह अपने को सम्पत्ति का स्वामी मानता था और उसे अल्पसंक्रामण करने के अधिकार का दावा करता था । इससे यह कथन खंडित हो जाता है कि वह उनके हाथों में लोक न्यास के लिए समर्पित संपत्ति के रूप में आई । वस्तुतः यह प्रकट करने के लिए पर्याप्त दस्तावेजी साक्ष्य है कि अनेक महंतों ने अपने स्वामित्व के अधिकार का प्रयोग करके अनेक सम्पत्तियां अन्य संक्रमित कीं ।

6. स्वयं वादी नारायण दास ने 9.7.1922 को एक वसीयत करके अपीलार्थी परमानंद को अपने उत्तराधिकारी के रूप में सम्पत्ति दान दी और उसमें उसने अपने को बगीची और सभी अन्य सम्पत्ति का पूर्ण स्वामी बताया । किंतु इस घोषणा का उपयोग पक्षकारों के बीच विवादित प्रश्न के निर्णय के लिए नहीं किया जा सकता । प्रकट यह होता है कि गुरुद्वारा में विभिन्न अवसरों पर पवित्र ग्रन्थों का पाठ होता था और श्रोता पाठ करने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों को भेंट चढ़ाते थे । किंतु यह स्पष्ट है कि यह पाठ अनेक मासों पर्यन्त (रुका) निलंबित रहा । पवित्र पुस्तकों का पाठ इस मान्यता से असंगत नहीं है कि यदि कोई न्यास था तो वह प्राइवेट प्रकृति का था । इसमें संदेह नहीं हो सकता कि निजी पूजास्थल (मजार) में भी जनता पूजा कर सकती है । किंतु प्रश्न यह है कि क्या वे यह पूजा किसी अनुमति, इलाज या अनुज्ञप्ति के बिना और अधिकारतः करते हैं । प्रस्तुत मामले में यह मानदंड पूरा नहीं हुआ है । हमारे विचार से सम्पत्ति का कोई

ऐसा उपयोग या उसके प्रति व्यवहार साबित नहीं हुआ है जो इस निष्कर्ष को औचित्य प्रदान करे कि यह प्राइवेट न्यास न होकर लोक न्यास था । यह विवादित नहीं हो सकता कि वादी तभी असफल हो सकता है जब प्रतिवादी सकारात्मक ढंग से सिद्ध करें कि सम्पत्ति पर लोक प्रकृति का न्यास अधिरोपित किया गया । अधिनियम सं. 14 सन् 1920 के अर्थों में “पूर्त या धार्मिक प्रकृति के लोक प्रयोजनार्थ सृजित या विद्यमान” न्यास बनाने के लिए न्यास का या के सृजनकर्ता अभिनिश्चित होने चाहिए और न्यास के सृजन का आशय शब्दों का कार्य से युक्तियुक्त निश्चितता के साथ प्रकट होना चाहिए । इसके अतिरिक्त, न्यास का प्रयोजन, न्यास सम्पत्ति और फायदाग्राही व्यक्ति व्यक्त होने चाहिए जिससे कि न्यायालय आवश्यकता पड़ने पर न्यास का प्रशासन कर सके : **छोटाभाई बनाम ज्ञान चंद्र बसक**¹ ये शर्तें पूरी नहीं की गई हैं । हमारी राय में प्रतिवादियों पर जो भार था उसका निर्वहन नहीं हुआ । अतः हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील मंजूर की जाए । उच्च न्यायालय की डिक्री प्रभावोन्मुक्त की जाए और प्रथम प्रक्रम पर के विचारण न्यायालय की डिक्री पुनः स्थापित प्रत्यावर्तित की जाए । अपीलार्थी को यहां का और निचले न्यायालयों का खर्चा मिलना चाहिए ।

अपील मंजूर की गई ।

¹ ए. आई. आर. 1935 प्रि. कॉ. 97.

रावलैण्ड एडी और अन्य.....अपीलार्थी

बनाम

बर्मा के महाप्रशासक—हुसैन हमदानी की संपदा के प्रशासक
.... प्रत्यर्थी

(रंगून उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 62 सन् 1937)

निर्णीत : 3.5.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, सर शादी लाल और सर जार्ज रैंकिन

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 92 – परंतुक 3 – मांग पर देय वचनपत्र के निष्पादन के साथ ही एक मौखिक करार किया गया कि वचनपत्र की राशि तब तक नहीं मांगी जाएगी जब तक कि अमुक शर्त पूरी नहीं हो जाती – यह करार पुरोभाव्य शर्त के रूप में है – अतः उसका साक्ष्य धारा 92 के तीसरे परंतुक के अधीन ग्राह्य है ।

निर्णय

जस्टिस लार्ड राइट – अपील में प्रश्न अपीलार्थी द्वारा निष्पादित 12.9.1933 के एक वचनपत्र के संबंध में है । यह टिप्पण 1930 में निष्पादित पहले वचनपत्र के नवीकरण के बारे में था । किंतु यह उभयपक्ष को मान्य है कि जो बातें मूल वचनपत्र को लागू होती थीं वे नवीकृत वचनपत्र को भी लागू होती हैं, अतः इन दो वचनपत्रों के बीच अंतर करने की आवश्यकता नहीं है । अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि पूर्ववर्ती वचनपत्र किन शर्तों पर निष्पादित किया गया था । यह अपील रावलैण्ड एडी ने की है, जिसको आगे अपीलार्थी कहा जाएगा । रावलैण्ड एडी एण्ड कंपनी केवल एक फर्म का नाम है जिससे वह कारबार करता है । अतः इस अपील में उसकी उपेक्षा की जा सकती है । प्रत्यर्थी बर्मा का महाप्रशासक है, जो हुसैन हमदानी (मृतक) की संपदा का प्रशासक है । 1927 में अपीलार्थी, हमदानी और एक जेम्स सीरिल ऐश (जो खनन इंजीनियर था) ने एक सिंडीकेट बनाया, जो कुछ खनन अधिकारों के उपयोग के लिए था । उन अधिकारों के संबंध में यहां निर्देश बूथग्राण्ट करके किया गया है । कुछ ही समय बाद 7.10.1927 को सिंडीकेट ने ऐशेज मिनरल्स लि. नाम की एक सीमित दायित्व वाली कंपनी रजिस्टर कराई और उसी तारीख के एक करार द्वारा वे सहमत हुए कि अपनी सब आस्तियां 18,000/- रु. के

प्रतिफल के बदले कंपनी को अंतरित कर देंगे और उक्त रुपयों की अदायगी हमदानी, अपीलार्थी और ऐश तीनों को 600-600 शेयरों के आबंटन द्वारा की जाएगी। ये शेयर सम्यक् रूप से आबंटित कर दिए गए। हमदानी ने आवश्यक राशि इस आधार पर उपलब्ध की कि वह और अपीलार्थी आधा-आधा खर्चा वहन करेंगे तथा उन दोनों तथा ऐश में प्रत्येक को लाभ का एक तिहाई हिस्सा मिलेगा। हमदानी ने लगभग 30,000/- रु. लगाए। कंपनी ने बूथ ग्राण्ट के अतिरिक्त अन्य सम्पत्तियां भी अर्जित कीं, जिनमें एक बांसों का वन भी था।

2. अप्रैल, 1928 में हमदानी की मृत्यु होने पर प्रत्यर्थी अर्थात् बर्मा के महाप्रशासक श्री होरमसजी जो उस समय प्रशासक थे को उस सम्पदा का प्रशासक नियुक्त किया गया और सभी सुसंगत समयों पर वह प्रशासक बना रहा। उस संपदा के प्रशासन के दौरान प्रत्यर्थी का अपीलार्थी से संपर्क हुआ और हमदानी के जटिल संव्यवहारों को सुलझाने के अपने प्रयास में उन्होंने ऐशेज मिनरल्स लि. संबंधी संव्यवहारों की चर्चा मौखिक रूप से तथा पत्र-व्यवहार द्वारा की। उक्त कंपनी का मामला उन अनेक मामलों में था जो सुलझाए जाने थे। उस कंपनी ने हमदानी की मृत्यु के कुछ ही समय बाद लाभ प्राप्त किया था और उसके आगम लाभांश के रूप में वितरित किए थे। अपीलार्थी और प्रत्यर्थी के बीच चर्चा के दौरान ऐशेज मिनरल्स के हिसाब की स्थिति की परीक्षा की गई और इन दोनों पक्षकारों के बीच बातचीत के परिणामस्वरूप एक विवरण तैयार किया गया, जिसमें सम्पदा के प्रशासक के रूप में प्रत्यर्थी को अपीलार्थी द्वारा देय अतिशेष 13,608/- रु. 6 आ. 9 पा. दिखाया गया। कुछ अन्य मदें भी हैं, जिन पर विचार आवश्यक नहीं है। उस हिसाब पर हस्ताक्षर प्रत्यर्थी के कार्यालय के नटराजन नामक एक (कर्मचारी) पदधारी ने किए। उस हिसाब में नीचे अपीलार्थी द्वारा हस्ताक्षरित एक टिप्पण था जो इस प्रकार था :

“यह हिसाब सही है और मैं 13,608/- रु. 6 आ. 9 पा. का वचनपत्र लिखने को इस शर्त पर तैयार हूँ कि उसकी अदायगी की मांग, जैसा कि मूलतः ठहराया गया था, तब तक नहीं की जाएगी जब तक कि बूथग्राण्ट वाला सौदा पूरा न हो जाए और तब मेरे द्वारा राशि ब्याज के बिना दे दी जाएगी। इस हिसाब में ये राशियां नहीं हैं : संगमरमर की खदानों में आधे हिस्से के रूप में मुझे देय 1500 रु., और सरकारी लगान के रूप में ‘ह’ के हिस्से के रूप में हमारे द्वारा दिए गए 2,000/- रु. तथा गायों के लिए मेरे द्वारा संपदा को देय

150/- रु. । ये मामले बाद में तय किए जाएंगे जैसे ही मेरे दावे के समर्थन में सबूत दे दिया जाए ।”

3. अपीलार्थी के हस्ताक्षर के नीचे तारीख 17.9.1930 प्रतीत होती है । नटराजन के हस्ताक्षर के नीचे तारीख 18.9.1930 लिखी गई, किंतु अब इस पर सहमति है कि वह तारीख मूलतः 17.9.1930 थी और बाद में “17” बदलकर “18” कर दी गई । यह स्पष्ट नहीं किया गया कि यह परिवर्तन कब, किस प्रकार और क्यों किया गया । विचारणीय अन्य दस्तावेज 20.9.1930 का एक पत्र है जो प्रत्यर्थी ने अपीलार्थी को भेजा था और दो अन्य दस्तावेजों भी हैं जो उक्त पत्र से संलग्न हैं । पत्र में अपीलार्थी से अनुरोध किया गया था कि दो वचनपत्र निष्पादित करें, एक 13,608/- रु. 6 आ. 9 पा. का और दूसरा 150/- रु. का । उपरोक्त वचनपत्र की यहां उपेक्षा की जा सकती है क्योंकि वह गाय या गायों की खरीद के संबंध में है । अपीलार्थी से यह भी अनुरोध किया गया कि पहले वाले वचनपत्र पर अपनी फर्म के हस्ताक्षर करा दे । संलग्न दो दस्तावेजों का वर्णन इस प्रकार किया गया : (1) प्रत्यर्थी की 18.9.1930 की एक कार्यालय रिपोर्ट जो उस अतिशेष की बाबत है जो रावल्लैंड एंडी एंड कंपनी, ऐश तथा ऐशेज मिनरल्स लि. द्वारा देय है ; तथा (2) हिसाब का विवरण जिसमें मै. रावल्लैंड एंडी एण्ड कंपनी और ऐश तथा ऐशेज मिनरल्स लि. द्वारा शोध्य अतिशेष दिखाया गया है । यह पहले निर्दिष्ट हिसाब ही माना गया । किंतु यह स्पष्ट नहीं है कि इस दस्तावेज में केवल हिसाब ही था या अपीलार्थी द्वारा किया गया और हस्ताक्षरित पृष्ठांकन भी था, जिसके प्रति निर्देश पहले किया जा चुका है । दस्तावेज सं. 1 वास्तविक कार्यालय रिपोर्ट के एक भाग की प्रति है जो नटराजन द्वारा तैयार और आद्यक्षर की गई थी । इस रिपोर्ट के अधिकांश भाग में हिसाब के आंकड़े हैं । उसमें कहा गया है कि अपीलार्थी दावा कर रहा है कि उसके पक्ष में कुछ समायोजन होना चाहिए और उसमें बताया गया कि जब उसमें वह अपने दावे के समर्थन में कागज पेश करे और कार्यालय का दावे के विषय में समधान हो जाए तो आवश्यक राशि मुजरा कर दी जाएगी । किंतु रिपोर्ट में आगे एक पैरा और है जो इस मामले के विनिश्चय के लिए बहुत तात्त्विक है । वह इस प्रकार है :—

“इस बीच वह उसके द्वारा देय पाई गई 13,608/- रु. 6 आ. 9 पा. की राशि का वचनपत्र इस शर्त पर निष्पादित करने को तैयार हो गया कि राशि की मांग उससे तब तक नहीं की जाएगी जब तक कि

ऐशेज मिनरल्स लि. से वह अगला वितरण प्राप्त न कर ले और कोई ब्याज भी नहीं मांगा जाए । यदि महा प्रशासक हिसाब का अनुमोदन कर दें तो वह वचनपत्र कल निष्पादित कर देगा । उसने हिसाब देख लिया है और उसके नीचे हस्ताक्षर कर दिए हैं ।”

4. मूल कार्यालय रिपोर्ट में इस पैरा के सामने लाल पेंसिल से एक टिप्पण हैं : “अनुमोदित, उसे उक्त शर्तों पर हस्ताक्षर करने दें ।” यह टिप्पण प्रत्यर्थी द्वारा किया गया और उस पर 18-19 तारीख के साथ उसके आद्यक्षर हैं । शेष कार्यालय रिपोर्ट में हिसाब का पूर्ण विवरण है और उसमें प्रत्यर्थी द्वारा लाल पेंसिल से किया गया एक और टिप्पण भी है : “अनुमोदित, मुझे संव्यवहार का स्मरण है । श्री एडी का कहना मान लिया जाए ।” उस पर आद्यक्षर “जे. एच.” के साथ “1919” लिखा हुआ है । इस दस्तावेज पर नटराजन द्वारा आद्यक्षर किया हुआ एक अन्य टिप्पण भी है कि अपीलार्थी से 150/- रु. का एक अलग वचनपत्र ले लिया गया है । अपीलार्थी को भेजे गए 20.9.1930 के पत्र में जिस कागज का उल्लेख कार्यालय रिपोर्ट के रूप में था वह वस्तुतः रिपोर्ट की प्रतिलिपि थी, किंतु उसमें प्रत्यर्थी द्वारा लाल पेंसिल से किए गए टिप्पण, 150/- रु. के अलग वचनपत्र की बाबत टिप्पण और संलग्न लेखा विवरण नहीं था । इन दस्तावेजों की प्राप्ति पर अपीलार्थी ने मूल वचनपत्र अपने तथा अपने फर्म के नाम से लिख दिया । वह वचनपत्र इस प्रकार था :—

“हम रावलैंड एडी तथा रावलैंड एडी एण्ड कंपनी, 55 मुगल स्ट्रीट, रंगून संयुक्ततः और पृथक्तः वचन देते हैं कि हम ब्रामा के महा प्रशासक और हुसैन हमदानी की संपदा के प्रशासक को 13,608/- रु. 6 आ. 9 पा. की राशि ; जो कि हमारे तथा श्री ऐशेज द्वारा मृतक को देय है, मांग पर अदा करेंगे ।”

5. इस वचनपत्र के नवीकरण पर वाद किया गया । उस दावे का विरोध किया गया और लिखित कथन में की गई प्रतिरक्षा इन शब्दों में थी :—

“उक्त वचनपत्र (अर्थात् मूल वचनपत्र और नवीकृत वचनपत्र) इस पुरोभाव्य शर्त के अधीन रहते हुए निष्पादित किए गए थे कि उसके अधीन कोई दायित्व तब तक नहीं होगा जब तक कि प्रतिवादियों को ऐशेज मिनरल्स लि. से अगला वितरण प्राप्त नहीं हो जाए और जब तक कि प्रतिवादियों के पक्ष में 3,350/- रु. तक के हिसाब का कुछ समायोजन न हो जाए ।”

6. संशोधन द्वारा दोनों स्थानों पर जहां भी शब्द “(अर्तारल) तक” का प्रयोग किया गया है स्थान पर शब्द “(अतलेष) तक” प्रतिस्थापित किया गया है। विचारण न्यायाधीश ने कहा कि वे अपीलार्थी का हिसाब मानते हैं और उनका समाधान हो गया है कि उसने अपनी पूरी योग्यता के साथ न्यायालय की सहायता करने का प्रयास अपनी समझ के अनुसार सच्ची बात कह कर किया। न्यायाधीश ने निर्णय किया कि वचनपत्र 17.9.1930 के हिसाब तथा उस पर अपीलार्थी द्वारा हस्ताक्षरित पृष्ठांकन के अधीन रहते हुए दिया गया था और बूथग्राण्ट के विक्रय या व्ययन की शर्त पूरी हो गई थी, या कम से कम अपीलार्थी यह साबित करने में असफल रहा कि वह पूरी नहीं हुई थी। तदनुसार उन्होंने अपीलार्थियों के विरुद्ध 13,608/- रु. 6 आ. 9 पा. की डिक्री दे दी। उसमें वह राशि, यदि कोई हो, घटानी थी जो अपीलार्थी 17.9.1930 के पृष्ठांकन में निर्दिष्ट विषयों का हिसाब लेने पर पाई जाए। एक परिवर्तन के साथ, जो अब महत्वहीन है, इस डिक्री की पुष्टि अपील में उच्च न्यायालय ने कर दी और अपील खर्च सहित खारिज कर दी गई।

7. किंतु यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है कि उच्च न्यायालय अपील में उस निष्कर्ष पर पहुंचने में एक विचित्र तथ्य विषयक भ्रांति में पड़ गई क्योंकि उन्होंने अपने विचार से कार्यालय रिपोर्ट की वह प्रति बहिष्कृत कर दी जो, जैसा कि पहले बताया गया, 20.9.1930 के उक्त पत्र के साथ संलग्न थी। उन्होंने निर्णय किया कि अपीलार्थी या उसके विधिक सलाहकारों में अपनी प्रतिरक्षा उस सामग्री के आधार गढ़ी थी जो उन्होंने दस्तावेजों के निरीक्षण से अनुचित रूप से प्राप्त की थी। उनकी यह राय रही प्रतीत होती है कि कार्यालय रिपोर्ट की प्रतिवाद के दौरान दस्तावेजों का निरीक्षण करके अपीलार्थी या उसके विधिक सलाहकारों ने अनुचित रूप से तैयार की थी और फिर उन्होंने उसे सुसंगत दस्तावेज के रूप में पेश कर दिया। प्रत्यर्थी के अधिवक्ता ने अपील न्यायालय के इस मत का आश्रय न लेकर सही किया। हमने 20.9.1930 का मूल पत्र और उसका वास्तविक संलग्नक देखे हैं और हम ऊपर बता चुके हैं कि क्या हुआ। इस बात के लिए कोई आधार नहीं है कि अपीलार्थी या उसके विधिक सलाहकारों पर अनौचित्य का दोषारोपण किया जाए। जैसा कोई भी दोषारोपण इस अपील में हमारे समक्ष बिना शर्त वापस ले लिया गया है। अपील न्यायालय को संभवतः इस बात से भ्रांति हुई होगी कि अपीलार्थी के विधिक सलाहकार या उसके लिपिक ने 20.9.1930 के पत्र के साथ भेजी गई कार्यालय रिपोर्ट की प्रति की तुलना करने में विभिन्न टिप्पण मिले थे जो उस कार्यालय रिपोर्ट में ही

थे और जो स्वभावतः उस प्रति में नहीं दोहराए गए थे जो अपीलार्थी को भेजी गई अपील न्यायालय को अपील में इस भ्रांति का दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह हुआ कि हमें उस निर्णय का लाभ नहीं मिला जो अपील में उच्च न्यायालय ने उस दशा में लिखा होता जब उन्हें उक्त भ्रम न होता।

8. हमारी राय में इस अपील का विनिश्चय उपर्युक्त लिखित दस्तावेजों के आधार पर होना चाहिए। किंतु हमारे समक्ष की गई बहस को देखते हुए हम इसे वांछनीय समझते हैं कि हम मौखिक साक्ष्य की भी चर्चा करें। इस मामले में दो महत्वपूर्ण साक्षी थे, स्वयं अपीलार्थी तथा प्रत्यर्थी श्री होरमसजी। उनके बयानों में वे परिस्थितियां बताई गई हैं जिनमें कि वचनपत्र निष्पादित किया गया। अपीलार्थी ने बताया कि उसकी होरमसजी की अनेक बार भेंट हुई, जिनमें हिसाब की चर्चा की गई। उसने बयान किया कि जिस लेख विवरण में उसने अपना पृष्ठांकन, किया वह इनमें से एक भेंट का ही परिणाम था और उस भेंट में यह विनिश्चय किया गया था कि वचनपत्र के आधार पर कोई मांग तब तक नहीं की जानी चाहिए जब तक कि बूथग्राण्ट वाला सौदा पूरा न हो जाए और उसके कंपनी से प्राप्त न हो जाए। किंतु उसने कहा कि उस समझौते में श्री होरमसजी के कहने पर परिवर्तन कर दिया गया। उन्होंने अगले दिन भिन्न शब्दावली का लेख भेजा जो इस आशय का था कि वचनपत्र के आधार पर कोई मांग तब तक नहीं की जाएगी और उस पर कोई दायित्व तब तक नहीं होगा जब तक कि ऐशेज मिनरल्स लि. की आस्तियों का अगला वितरण न हो जाए। अपीलार्थी ने कहा कि वह इस परिवर्तन से सहमत हो गया और उसने करार भेजे जाने की मांग की और अगले दिन उसे कार्यालय रिपोर्ट की एक प्रति भेजी गई। प्रत्यर्थी के बयान में तो यह बात स्पष्ट नहीं है किंतु अंत में न्यायाधीश के टिप्पण के अनुसार उसने कहा : “मैं उससे सहमत हूँ जो प्रदर्श “सी” के पृष्ठ 2 पर लिखा है और जिसके सामने मैंने शब्द “अनुमोदित” लिखा है। इसमें वह कार्यालय रिपोर्ट के उस पैरा का हवाला दे रहा है जो ऊपर उद्धृत किया जा चुका है और वह सहमत हो गया था कि वचनपत्र पर कोई मांग तब तक नहीं करेगा जब तक कि इन शर्तों में से एक पूरी न हो जाए। नटराजन का बयान महत्वपूर्ण नहीं है।

9. स्थिति को समग्र रूप से देखते हुए हमारी राय है कि 20.9.1930 के पत्र से संलग्न दस्तावेजों का आशय यह था कि वे शर्तें शामिल की जाएं जिन पर कि अपीलार्थी को वचनपत्र निष्पादित करना था और हमारी राय है कि ये शर्तें उन शर्तों के स्थान पर लिखी गईं जो उस पृष्ठांकन में

थीं जो अपीलार्थी ने लेखा विवरण में जोड़ा था और जिस पर उसने 17.9.1930 को हस्ताक्षर किए थे । अपीलार्थी ने 30.9.1930 के पत्र और संलग्नकों के आधार पर वचनपत्र निष्पादित करके प्रत्यर्थी द्वारा इस प्रकार प्रस्तावित ये शर्तें स्वीकार कर लीं । इस प्रकार पक्षकारों के बीच का संपूर्ण संबन्ध इन् दस्तावेजों में आ गया, अर्थात् एक और तो वचनपत्र जिसमें अदायगी का वचन था और दूसरी ओर 20.9.1930 के पत्र और उसके संलग्नकों में दी गई शर्तें । इस स्थिति का परिणाम यह है कि प्रत्यर्थी वचनपत्र की अदायगी की मांग तभी कर सकता है जब ऐशेज मिनरल्स लि. का अन्य वितरण हो जाए । क्योंकि यह अभी नहीं हुआ है अतः वचनपत्र पर आधारित वाद समयपूर्व था और वर्तमान स्थिति में सफल नहीं हो सकता, क्योंकि जब वाद प्रारंभ किया गया तब तक ऐशेज मिनरल्स लि. का अगला वितरण नहीं हुआ था, अर्थात् करार की तारीख के पहले के उक्त वितरण के बाद के लाभ का वितरण । जैसा कि कहा गया है, ऐसा हो सकता है यदि कोई ऐसा वितरण नहीं होता है तो इस वचनपत्र के आधार पर अदायगी की कोई मांग कभी नहीं की जा सकती । किंतु यह बाद की बात इस कार्यवाही के लिए अतात्विक है ।

10. श्री राक्सबर्ग ने प्रत्यर्थी की ओर से अपनी योग्यतापूर्ण बहस में इस बात का गंभीरता से विरोध नहीं किया कि यदि दस्तावेजों के प्रति यह दृष्टिकोण अपनाया जाता है, अर्थात् यदि न्यायाधीशों की राय होती है कि अपने संलग्नक सहित 20 सितंबर का पत्र प्रत्यर्थी की ओर से अपीलार्थी के प्रश्न लिखित प्रस्ताव का जो स्वीकार किए जाने योग्य था और जिसे वस्तुतः वचनपत्र निष्पादित करके स्वीकार किया, तो परिणाम यह होगा कि वचनपत्र की शर्तें प्रत्यर्थी के इस करार के साथ और उससे सीमित करके समझी जानी चाहिए कि अदायगी की मांग तब तक नहीं की जाएगी जब तक कि वह शर्तें पूरी नहीं हो जातीं । किंतु उन्होंने प्रबल बहस की कि यह दृष्टिकोण सही नहीं है और अपने संलग्नकों सहित उक्त पत्र में केवल उसका अभिलेख था जो दस्तावेजों की तारीख के पहले वस्तुतः पक्षकारों के बीच हुआ । वह एक मौखिक करार था और ऐसे मौखिक करार का साक्ष्य, साक्ष्य अधिनियम की धारा 92 के कारण ग्राह्य नहीं है । इसके विरुद्ध अपीलार्थी की ओर से बहस की गई कि भले ही अदायगी नहीं मांगने का करार केवल सांपार्श्विक मौखिक करार रहा हो, फिर भी वह साक्ष्य में ग्राह्य था क्योंकि वह धारा 92 के परंतुक 3 में आता है, जिसमें उपबंध है कि ऐसी किसी संविदा, अनुदान या संपत्ति के व्ययन के अधीन बाध्यता संलग्न होने की पुरोभाव्य शर्त के रूप में किसी पृथक् मौलिक करार का अस्तित्व

साबित किया जा सकेगा ।

11. जैसा कि पहले बताया गया, हमारी राय है कि साथ का या सांपार्श्विक करार, जो वचनपत्र के निष्पादन की शर्त था, एक लिखित करार था अंतः वह धारा 92 में नहीं आता । किंतु यदि वह सांपार्श्विक करार मौखिक करार भी था जिससे वह धारा 92 के अंतर्गत आ जाए तब भी हमारी राय है कि वह धारा 92 के परंतुक 3 में आ जाएगा, जिसमें भारतीय विधि उसी रूप में दी गई है जैसी कि अंग्रेजी विधि है । यह आवश्यक है कि ऐसे सांपार्श्विक करार का, जो लिखत के विधिक प्रभाव में परिवर्तन करे, इस करार से अंतर किया जाना चाहिए कि लिखत जब तक प्रभावी लिखत नहीं होगी जब तक कि अमुक शर्त पूरी न हो जाए, अथवा दूसरे शब्दों में यह आवश्यक है कि संविदा के ह्रास करने वाले करार का वचनपत्र में समाहित संविदा के प्रवर्तन को निलंबित करने के करार से अंतर किया जाए । हमारे मत से यह सांपार्श्विक करार के पश्चात् कथित वर्णन में आता है और परंतुक के अंतर्गत आ जाता है । दृष्टांत स्वरूप हम **न्यू लंदन क्रेडिट सिंडीकेट लि. बनाम नील¹** का हवाला दे सकते हैं, जिसमें तीन मास की तारीख पर संदेय वचनपत्र के नवीकरण का मौखिक करार साबित करना चाहा गया था । और उसमें अभिनिर्धारित किया गया कि वह करार लिखित संविदा की शर्तों में परिवर्तन करता है । **फ्री बनाम हौकिंस²** वाले पूर्ववर्ती मामले में जो साक्ष्य बहिष्कृत किया गया वह एक मौखिक करार के बारे में था जो वचनपत्र लिखने के समय किया गया बताया गया था । वचनपत्र में व्यक्त किया गया था कि वह उस तारीख के 8 मास बाद संदेय होगा । जो साक्ष्य अग्राह्य किया गया वह यह था कि अदायगी तब तक नहीं मांगी जानी चाहिए जब तक कि कुछ आस्तियों का विक्रय न हो जाए ।

12. प्रस्तुत मामला द्वितीय कोटि में आता है । वचनपत्र अपनी अभिव्यक्त शब्दावली के अनुसार मांग पर अर्थात् तुरंत संदेय है । वचनपत्र के अधीन बाध्यता तुरंत लागू हो जाती है । किंतु यह करार कि निर्दिष्ट शर्त पूरी होने के पहले मांग नहीं की जाएगी इस आशय से और यह प्रभाव वाली है कि उस बाध्यता का प्रवर्तन में आना निलंबित रहे, जो वचनपत्र में समाहित संविदा के रूप में है । इस प्रकार मौखिक करार बाध्यता लागू होने के लिए पुरोभाव्य शर्त के रूप में है और धारा 92 के परंतुक 3 के अंतर्गत आ जाता

¹ [1898] 2 क्वींस बेंच 487.

² [1917] 1 मूर 535 = 129 इंग्लैंड ला रिपोर्टर 317.

है। प्रस्तुत जैसा मामले का अंतर उस मामले से किया जाना चाहिए जिसकी चर्चा **राम जीवन सरावगी बनाम अघोर नाथ चटर्जी**¹ में की गई है। उसमें वचनपत्र की भाषा आत्यंतिक होते हुए भी यह कहा गया कि वह मौखिक करार के अधीन रहते हुए है जिसमें उपबंध है कि उसका वाद के द्वारा प्रवर्तन अमुक घटना होने के पूर्व नहीं किया जाएगा। न्यायमूर्ति सेल ने यह साक्ष्य अग्राह्य करने में अपनी यह राय व्यक्त की कि परंतुक 3 का उचित अर्थ यह है कि ग्राह्य होने के लिए समसामयिक मौखिक करार इस आशय का होना चाहिए कि जब तक कि विशिष्ट घटना न हो जाए तब तक लिखित संविदा बिल्कुल निष्प्रभावी होगी और उससे कोई बाध्यता उत्पन्न नहीं होगी। यह वर्णन हमारे विचार से प्रस्तुत मामले को लागू होता है। इसी आशय का निर्णय न्यायमूर्ति पेज ने **वाल्टर मिचेल बनाम ए. के. टेनेण्ट**² में किया। उस मामले में बताया गया सांपार्श्विक करार प्रश्नगत चेकों के अधीन कोई बाध्यता उत्पन्न होने के लिए पुरोभाव्य शर्त के रूप में था और इस प्रकार वे चेक उस शर्त के पूरे होने तक के लिए निष्प्रभावी रहे। यही दृष्टिकोण अन्य मामलों में अपनाया गया जिनका यहां विनिर्दिष्ट तौर पर उल्लेख करना आवश्यक नहीं है।

13. हमारे विचार से यदि प्रस्तुत मामले में सांपार्श्विक करार मौखिक करार माना जाए तो भी उसका साक्ष्य हमारे द्वारा वर्णित सिद्धांतों पर ग्राह्य होगा। किंतु हम यह बेहतर समझते हैं कि मामले का विनिश्चय इस आधार पर करें कि पक्षकारों की वास्तविक स्थिति लिखित दस्तावेजों पर निर्भर करती है अर्थात् वचनपत्र और 20.9.1930 का पत्र तथा संलग्नक और तदनुसार धारा 92 के अधीन साक्ष्य की ग्राह्यता का प्रश्न उद्भूत नहीं होता। इस कारण से निचले न्यायालयों के प्रति पूरा आदर करते हुए भी हम उनके निष्कर्ष से सहमत होने में असमर्थ हैं। हमारी राय में अपील सफल होनी चाहिए और अपीलकृत डिक्रियां अपारथ की जानी चाहिए तथा निर्णय अपीलार्थियों के पक्ष में इस बोर्ड के समक्ष के तथा निचले न्यायालयों के खर्चे सहित दिया जाना चाहिए। हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार है।

अपील मंजूर की गई।

¹ इंग्लैंड ला रिपोर्टर (1998) 25 कलकत्ता 401.

² इंग्लैंड ला रिपोर्टर 52 कलकत्ता 677 = आ. इ. रि. कलकत्ता 1007.

मांग पो हला और एक अन्य.....अपीलार्थी

बनाम

मांगवे सिन्त और अन्य.....प्रत्यर्थी

(रंगून उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि.कौ. अपील सं. 47 और
74 सन् 1937)

निर्णीत : 12.5.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड राइट, सर शादी लाल और सर जार्ज रैंकिन

साक्ष्य विधि – सबूत का भार – बंधक वाद में यह साबित करने का भार प्रतिवादी पर होता है कि उसने ऋण अदा कर दिया – यदि प्रतिवादी यह साबित कर दे कि उसने ऋण के बदले में माल का प्रदाय कर दिया तो प्रतिवादी के भार का निर्वहन हो जाएगा ।

– धान के कृषकों और धान मिल की कार्यपद्धति के विषय में स्थानीय जानकारी रखने वाले न्यायाधीशों की राय विशेष महत्वपूर्ण होती है ।

निर्णय

जस्टिस सर जार्ज रैंकिन – इस मामले में रंगून उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध दो अपीलें समेकित रूप से की गई हैं । वे दो बंधक वादों से उद्भूत हुई हैं जो अपीलार्थियों ने प्यापोन के जिला न्यायालय में किए थे । प्रत्येक वाद में तीन प्रतिवादी थे, जिनमें से दो दोनों वादों में पक्षकार थे । अपील सं. 47 में वादगत बंधक प्यापोन करबे में धान उपजाने वाली 125 एकड़ भूमि का उपबंधक था जो 18 प्रतिशत प्रतिवर्ष ब्याज सहित 7,000/- रु. के ऋण के लिए किया गया था । अपील सं. 74 में वादगत बंधक उसी करबे के धान उपजाने वाले 4 भूखंडों का था जो 16½ प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से ब्याज सहित 13,000/- रु. के ऋण के लिए किया गया था । ये बंधक रजिस्ट्रीकृत विलेखों द्वारा किए गए थे और दोनों ही 23.9.1924 के थे । उपबंधक के प्रवर्तन के लिए अपीलार्थियों का वाद 19.6.1933 को किया गया था । उनके दूसरे बंधक का वाद 23.1.1934 को किया गया था । वाद क्रमशः अक्तूबर, 1934 और अक्तूबर, 1935 में उसी जिला न्यायालय में विभिन्न न्यायाधीशों के समक्ष सुनवाई के लिए प्रस्तुत हुए और दोनों मामलों में वादियों को विक्रय की प्रारंभिक डिक्री प्राप्त करने में विचारण न्यायालय में सफलता मिली । ये इस आधार पर थीं कि बंधक

विलेखों के अधीन देय संपूर्ण ऋण और ब्याज शोध्य और बकाया था । 13.10.1934 और 9.10.1935 की इन डिक्रियों के विरुद्ध अपीलें की जाने पर वे अपास्त कर दी गईं और वाद इस आधार पर खारिज कर दिए गए कि प्रत्येक मामले में वाद के संस्थित किए जाने के पूर्व ही ब्याज सहित ऋण की तुष्टि की गई थी और चुका दिए गए थे । उपबंधक वाले मामले में उच्च न्यायालय (न्यायमूर्तिगण न्या बू और बागुले) का अंतिम विनिश्चय 18.8.1936 को दिया गया और उसके पश्चात् पुनर्विलोकन आवेदन मंजूर किया गया । इस पुनर्विलोकन का परिणाम यह था कि वाद खारिज करने की न्यायालय की 14.11.1935 की मूल डिक्री की पुष्टि कर दी गई । दूसरे बंधक वाले मामले में अपील न्यायपीठ के दो न्यायाधीशों (न्यायमूर्तिगण मेकने व म्या बू) में मतभेद हुआ और न्यायालय के लेटर्स पेटेण्ट के खंड 34 के अधीन मामला न्यायमूर्ति मोजली के समक्ष रखा गया, जिन्होंने न्यायमूर्ति म्या बू से सहमत होते हुए अपील मंजूर करके वाद खारिज कर दिया ।

2. उच्च न्यायालय ने दोनों मामलों में जो प्रतिरक्षा स्वीकार की वह यह है कि बंधक ऋण की अदायगी वादियों के धान मिल को धान के प्रदाय द्वारा की जा चुकी है । उपबंधक वाले मामले में बंधककर्ता थे सीन सू और उसकी मां । दूसरे बंधक वाले मामले में बंधककर्ता थे सीन सू उसकी मां व भाई सीन कर । वादीगण पोह्ला और पो चो चीनी भाई हैं जो रंगून में तथा उसके पास की धान मिलों के स्वामी थे । प्रतिवादियों का कहना है कि वादियों के ऋण इसलिए दिया था कि प्रतिवादी वादियों को कुटाई के लिए धान प्राप्त करके दे सकें । उच्च न्यायालय ने निम्नलिखित परिदानों की बाबत प्रतिवादियों का साक्ष्य माना है, जिनका मूल उच्च न्यायालय की राय में वादगत बंधकों पर देय राशि से अधिक साबित किया गया है :—

2515 टोकरी न्गासीन धान 28.9.1924 को

2267 टोकरी न्गासीन धान 29.10.1924 को

5005 टोकरी कौकनीन धान अक्टूबर, 1925 में

4000 टोकरी मिदों धान दिसंबर, 1927 में ।

3. प्रतिवादियों का कहना है कि उन्होंने समय-समय पर प्रयास किया कि वादियों से इन परिदानों की बाबत देय सही राशि तय कर लें और उन्होंने वह हिसाब पेश किया जो इन परेषणों की बाबत प्रतिवादियों की लागत प्रकट करता है । वादी का कहना है कि उन्होंने धन ऊंची दर से

ब्याज पर विनिधान के तौर पर और भूमि की प्रतिभूति पर उधार दिया था, यद्यपि प्रतिवादी निस्संदेह धन व्यापार करने के लिए चाहते थे । बंधक विलेख बराबर वादियों के कब्जे में रहे और उन पर किसी मूलधन या ब्याज की प्राप्ति कभी पृष्ठांकित नहीं की गई और न रसीद दी गई । धान के परिदानों के प्रश्न पर वादी कोई हिसाब पेश नहीं करते । उनका कहना है कि वे अपने खाते तीन वर्ष बाद नष्ट कर देते हैं । वादी इससे इनकार नहीं करते हैं कि प्रतिवादी उनकी मिल को जब-तब धान देते थे, किंतु उनका कहना है कि वे संव्यवहार तभी तय कर दिए जाते थे । प्रतिवादी इससे इनकार करते हैं, सिवाय इसके कि वे इस पर सहमत हैं कि मिर्दों धान की 4,000 टोकरियों की बाबत देय राशि मध्ये परिदान के समय 1,000/- रु. दे दिए गए थे ।

4. विवाद स्पष्टतः तथ्य विषयक है । इससे बर्मा के न्यायालयों को बड़ी कठिनाई हुई है — दोनों जिला न्यायाधीश और न्यायमूर्ति मेकनी वादियों के पक्ष में थे, जब कि न्यायमूर्तिगण म्या बू, बागुले और मोजली प्रतिवादियों के पक्ष में थे । मामले की अधिसंभाव्यता के आकलन के प्रयोजनार्थ स्थानीय जानकारी का विशेष महत्व है और रंगून स्थित उच्च न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश इस विषय में विशेष अर्हता रखते थे ; और वह कुछ मामलों में ब्रह्मा के धान बाजार के दीर्घ अनुभव के कारण ; जब कि चीनी धान मिल वालों और ब्रह्मा के कृषकों की आदतें और व्यापार के तरीके ऐसे विषय हैं जिन पर जानकारी के विशेष साधन हमारे पास नहीं हैं । साक्ष्य की सावधानी से परीक्षा करने के बाद हम उन निष्कर्षों से विसम्मत होने को तैयार नहीं हैं जो उच्च न्यायालय ने निकाले । हम इसे साबित मानते हैं कि धान प्रतिवादियों के कहे अनुसार वादियों की मिलों को परिदत्त किया गया और हम ये तर्क स्वीकार नहीं करते कि यह ऋण वादियों द्वारा केवल भूमि की प्रतिभूति पर विनिधान के रूप में दिए गए थे । हम उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के बहुमत से इस विचार में सहमत हैं कि इन ऋणों का प्रयोजन यह था कि प्रतिवादी वादियों की मिलों के लिए धान प्राप्त करके दे सकें । हमारे विचार से यदि वादियों को केवल विनिधान की दृष्टि से देखना था तो उनके उपबंधक पसंद करने की संभाव्यता नहीं थी और यह भी अनधिसंभाव्य है कि बंधकों पर देय ब्याज की बाबत कोई राशि काटे बिना ही वादियों ने प्रतिवादियों से धान के संव्यवहारों की बाबत तय कर लिया हो । वादियों का सभी बही खातों के अभाव का स्पष्टीकरण कि वे सारे बही खाते तीन वर्ष बाद नष्ट कर देते हैं हमारी राय में सरलता से नहीं माना जा सकता । यह भार प्रतिवादियों पर था कि साबित करते कि ऋण

अदा कर दिए गए ; किंतु यदि उनकी ओर से दिया गया साक्ष्य सही माना जाए तो उस भार का निर्वहन कर दिया गया, यद्यपि अधिक व्यापारोचित तरीके उन्हें और बेहतर सबूत देने में समर्थ बना सकते थे । यद्यपि मामले में कुछ कठिनाई है किंतु हमारे विचार से उच्च न्यायालय द्वारा और विशिष्टतः न्यायमूर्ति मोजली द्वारा, जो मामले में निर्णय करने वाले अंतिम न्यायाधीश थे, दिए गए कारण अपीलकृत डिक्रियों को उचित ठहराने के लिए पर्याप्त हैं । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि ये अपीलें खर्च सहित खारिज की जानी चाहिए ।

अपीलें खारिज की गईं ।

राय बजरंग बहादुर सिंह और अन्य.....अपीलार्थी

बनाम

राय बेनी माधव बख्सा सिंह और अन्य.....प्रत्यर्थी

(अवध मुख्य न्यायालय के निर्णय¹ के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 77
सन् 1934)

निर्णीत : 27.5.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड थैंकरटन, लार्ड रोश, लार्ड रोमर, सर शादी
लाल और सर जार्ज रैंकिन

संयुक्त प्रांत भू-राजस्व अधिनियम, 1901 — धारा 233 (ट) —
जमींदारी के बंटवारे की कार्यवाही में जमींदारी हक का प्रश्न नहीं उठाया
जाता — बंटवारे के बाद सिविल न्यायालय में ऐसे हक की घोषणा का वाद
नहीं लाया जा सकता जो बंटवारे से असंगत हो ।

— उक्त बंधन लागू करने के लिए प्राड न्याय के सिद्धांत का आश्रय
नहीं लिया जाना चाहिए — बंधन स्वयं इस खंड में है ।

— यह खंड केवल महालों के निर्माण आदि से संबंधित नहीं है, अपितु
उसमें जमींदारी हक भी आ जाता है ।

— धारा 106 — बंटवारे में केवल भूमि का विभाजन नहीं होता अपितु
हक का भी विभाजन होता है और स्वयं अधिनियम में दी गई प्रक्रिया के

¹ आ. इ. रि. 1932 अवध 199.

अनुसार सिविल न्यायालय द्वारा निर्णय न कराने की दशा में राजस्व न्यायालय का निर्णय हक के विषय में भी आबद्धकर होगा ।

निर्णय संक्षेप

जस्टिस सर जार्ज रैंकिन — इस अपील में प्रश्न अवध के रायबरेली जिले के परगना सलोन के नैन नामक गांव के बंटवारे के संबंध में है । बंटवारा संयुक्त प्राप्त भू-राजस्व अधिनियम के उपबंधों के अनुसार 3.10.1903 से 1.7.1907 तक की गई कार्यवाही में किया गया था । उठाया गया प्रश्न भारत के न्यायालयों में मतभेद का विषय रहा है । प्रश्नगत वाद रायबरेली के अधीनस्थ न्यायाधीश न्यायालय में दोनों अपीलार्थियों तथा दो अन्य व्यक्तियों में 20.2.1930 को दाखिल किया था । वह भूमि में हितबद्ध 68 व्यक्तियों के विरुद्ध और प्रतिवादी सं. 69 प्ररूपी प्रतिवादी था क्योंकि उसका हित वादियों के साथ था । घोषणा यह चाही गई थी कि यह 69 व्यक्ति विवादित भूमि के आला जमींदार (सुपीरियर प्रोपाइटर) हैं, न कि अदना जमींदार (अंडर प्रोपाइटर) । विवादित भूमि का क्षेत्रफल लगभग 71 बीघा है और वह एक स्थान पर न होकर प्लोटों के रूप में बिखरी हुई है । किंतु हिज मैजेस्टी के समक्ष अपील के दौरान विवाद केवल 5 बीघा 7 बिरवा 16 बिस्वांसी भूमि का रह गया है और वह भी केवल प्रतिवादी सं. 3 ठकुराइन छविनाथ कुंवर के साथ । वह राय चैत नारायण सिंह की विधवा है । दूसरी विधवा श्रीमती स्योत राज कुंवर है, जिसने समझौता कर लिया है । उक्त बंटवारे की कार्यवाही में अब विवादित 5 भूखंडों पर वादी अदना जमींदार के रूप में दर्ज थे । वे 164 बीघा के राय चैत नारायण सिंह वाले महाल के भाग बने । राय चैत नारायण सिंह को एक अन्य के साथ आला जमींदार दर्ज किया गया था और अब उसके स्थान पर नाम उसकी दो विधवाओं का है, जिनका हित जीवनपर्यंत है । श्रीमती स्योत राज कुंवर ने एक रजिस्ट्रीकृत विलेख द्वारा यह बात स्वीकार कर ली है कि वादियों को आला जमींदार दर्ज किया जाए ।

2. अधीनस्थ न्यायाधीश ने वाद खारिज कर दिया और उनका एक निष्कर्ष यह है कि यह संयुक्त प्रांत भू-राजस्व अधिनियम, 1901 की धारा 233 (ट) द्वारा वर्जित है । मुख्य न्यायालय में पूर्ण न्यायपीठ को निर्देश के लिए दो प्रश्न विरचित किए गए :—

“(1) क्या वादियों द्वारा प्रस्तुत वाद में प्रार्थित घोषणा का अनुतोष 1906 और 1920 के बंटवारों के आधार पर भू-राजस्व अधिनियम, 1901 की धारा 233 के खंड (ट) के उपबंधों द्वारा वर्जित है ?

(2) क्या कलक्टर की भू-राजस्व अधिनियम, 1901 की धारा III(1)(ग) के अधीन कार्य करने की अधिकारिता तब वर्जित हो गई जब कि उसके द्वारा उपर्युक्त बंटवारे की कार्यवाही में विनिश्चय बताए गए जमींदारी हक विषयक प्रश्न का निर्णय सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय द्वारा पहले ही कर दिया गया था ?”

पूर्ण न्यायपीठ ने पहले प्रश्न का निर्णय “हां” में दिया और दूसरे का “ना” में । खंड न्यायपीठ ने अपील खारिज कर दी । उसी के विरुद्ध वादियों ने यहां अपील की ।

3. हमारे समक्ष द्वितीय प्रश्न के विनिश्चय के विरुद्ध बहस नहीं की गई और उसका हमारे द्वारा निर्णय अनावश्यक भी है । अतः निर्णयार्थ एकमात्र प्रश्न उक्त खंड (ट) द्वारा प्रस्तुत वाद के वर्जन का है । उसके लिए हमें अधिनियम के अध्याय 7 के अधीन होने वाली बंटवारे की कार्यवाही की प्रकृति और प्रभाव पर विचार करना होगा । उक्त अधिनियम की धारा 233 में वे बातें गिनाई गई हैं जो सिविल न्यायालय के संज्ञान से बाहर कर दी गई हैं । सुसंगत अंश इस प्रकार है :—

“233. कोई व्यक्ति सिविल न्यायालय में कोई वाद या अन्य कार्यवाही निम्नलिखित किसी विषय में संस्थित नहीं करेगा —

* * * *

* * * *

(ट) महालों का बंटवारा और संयोजन, सिवाय जैसा कि धारा 111 और 112 में विहित है ।”

4. अध्याय 7 में बंटवारे की पूरी प्रक्रिया दी गई है । धारा 106 में दी गई परिभाषा के अनुसार “बंटवारा” से अभिप्रेत है महाल का अथवा महाल के भाग का दो या अधिक भागों में विभाजन जिसके एक या अधिक हिस्से हों । इस अध्याय में बंटवारे के लिए आवेदन दिए जाने से लगाकर अंत तक पूरी प्रक्रिया दी गई है । धारा III में जमींदारी हक विषयक प्रश्न उठाने पर की प्रक्रिया दी गई है । यदि ऐसे प्रश्न का विनिश्चय सक्षम न्यायालय द्वारा पहले न किया गया हो तो कलक्टर बंटवारे की कार्यवाही आगे करने से तब तक के लिए इनकार कर सकता है जब तक कि उस प्रश्न का विनिश्चय सक्षम न्यायालय द्वारा न कर दिया जाए, अथवा किसी पक्षकार से अपेक्षा कर सकता है कि तीन मास के भीतर सिविल न्यायालय में उक्त प्रश्न के निर्णय के लिए वाद प्रस्तुत करे, अथवा उसके गुणागुण पर वह

स्वयं विचार कर सकता है। यदि पक्षकार को वाद करने का निदेश होने पर वह नियत समय के भीतर वाद न करे तो कलक्टर उस प्रश्न का विनिश्चय उसके विरुद्ध कर देगा और यदि वह कर दे तो कलक्टर सिविल न्यायालय के विनिश्चय के अनुसार कार्यवाही करेगा। यदि कलक्टर उस आपत्ति का स्वयं विनिश्चय करने का निर्णय करे तो वह सिविल प्रक्रिया में दी गई प्रक्रिया का अनुसरण करेगा धारा 112 में दिया गया है कि कलेक्टर द्वारा हक विषयक आपत्ति पर किया गया विनिश्चय सिविल न्यायालय की डिक्री समझा जाएगा और तदनुसार अपीलनीय होगा। धारा 131 के अनुसार बंटवारे की कार्यवाही तब पूरी होती है जब कलक्टर उसकी पुष्टि का आदेश पारित कर देता है। प्रस्तुत मामले में बंटवारे की कार्यवाही 3.10.1903 से हुई और 28.9.1906 को बंटवारे की 1.7.1907 से पुष्टि कर दी गई। पहले के एक महाल की जगह 5 महाल बना दिए गए। अब विवादित 5 भूखंड उस द्वितीय महाल में शामिल किए गए जो राय चैत नारायण सिंह के नाम में था। इस निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं की गई।

5. अब प्रश्न आता है सिविल वाद की ग्राह्यता का। यदि वादी को वांछित अनुतोष दे दिया जाता है तो बंटवारे के परिणाम में तात्त्विक परिवर्तन हो जाएगा। भारत के सभी न्यायालयों ने निर्णय सिविल वाद के वर्जन के पक्ष में दिया है। किंतु अवध मुख्य में न्यायालय में न्यायाधीशों में निर्णय के आधार के विषय में कुछ मतभेद रहा। मुख्य न्यायमूर्ति का मत था कि प्रश्नगत वाद उक्त खंड (ट) द्वारा नहीं बल्कि प्राड न्याय के सामान्य सिद्धांत से वर्जित है। दूसरी ओर अन्य न्यायाधीशों का मत था कि प्राड न्याय का सिद्धांत नहीं लागू होगा, बल्कि उक्त खंड (ट) ही लागू होगा।

6. **राम रैखा मिश्र बनाम लल्लू मिश्र**¹ में विद्वान् न्यायाधीशों के निर्णय के प्रति आदरभाव रखते हुए भी हमारे विचार से धारा 233 के निर्वचन में पहले प्राड न्याय के सिद्धांत के विषय में राय कायम करना उचित नहीं — स्वयं उक्त धारा के उपबंधों से स्पष्ट हो जाता है यहां न्यायालय ने वही निष्कर्ष निकाला है जो **मोहम्मद सादिक बनाम लौटेराम**² में पूर्व अधिनियम के संदर्भ में निकाला गया था और **विजय मिश्र बनाम काली प्रसाद**³ में वर्तमान अधिनियम के अर्थ के विषय में निकाला गया था। हम उससे

¹ इंग्लैंड ला रिपोर्ट 53 इलाहाबाद 568 = ए. आई. आर. 1931 इलाहाबाद 462.

² इंग्लैंड ला रिपोर्ट [1908] 23 इलाहाबाद 291.

³ इंग्लैंड ला रिपोर्ट 19 इलाहाबाद 469 = ए. आई. आर. 1917 इलाहाबाद 258.

सहमत हैं। यदि बंटवारे पर प्रभाव डालने वाले हक विषयक जो प्रश्न बंटवारे की कार्यवाही में उठाए जा सकते थे वे नहीं उठाए गए तथा बंटवारे की कार्यवाही पूरी हो गई है तो हमारी राय में धारा 233 (ट) बंटवारे के पक्षकारों को वह प्रश्न बाद में सिविल न्यायालय में उठाने से वर्जित कर देती है। प्रस्तुत मामला इसी प्रकार के वर्जन का है। इलाहाबाद के कुछ न्यायाधीशों ने यह मत व्यक्त किया है कि “बंटवारा” से अभिप्रेत है महालों के क्षेत्र का विभाजन, अतः सिविल न्यायालय उस क्षेत्र विभाजन में हस्तक्षेप नहीं कर सकता; उसमें हक का विभाजन नहीं आता। किंतु यह दृष्टिकोण सही नहीं है। अधिनियम के अध्याय 7 में दी गई प्रक्रिया और उसके कानूनी प्रभाव के संदर्भ में यह नहीं कहा जा सकता कि “बंटवारा” से केवल भूमि का विभाजन अभिप्रेत है। उसमें उस भूमि में हक रखने वाले व्यक्तियों के हितों का विभाजन भी आ जाता है। विभाजन किसी भी दशा में हिस्सेदारों के हक को देखकर ही किया जाएगा। धारा 106 में हिस्सों और उनके विभाजन का स्पष्ट उल्लेख है। धारा 107 के अधीन बंटवारे के लिए आवेदन में केवल भूमि का ही विभाजन नहीं मांगा जाता है अपितु आवेदकों द्वारा धारित हित के रूप में और रीति में भी परिवर्तन मांगा जाता है। धारा 114 में केवल वे सिद्धांत ही नहीं आते जिन पर भूमि के भागों का निर्धारण होगा अपितु वे हित भी आते हैं जिन्हें इस विभाजन में विचार में लेना होगा। धारा 233 (ट) में “बंटवारा” शब्द का प्रयोग केवल भूमि के बंटवारे के लिए नहीं है बल्कि धारा 111 इस बात को स्पष्ट कर देती है कि उसमें जमींदारी हक का भी विनिश्चय समाविष्ट है और उस विनिश्चय की प्रक्रिया भी दी हुई है। अतः जब एक बार हिस्सेदारों के हक के बंटवारे की कार्यवाही में यथाविधि विभाजन कर दिया गया तो उस प्रकार विनिश्चय हक को बाद में सिविल न्यायालय में प्रश्नगत नहीं किया जा सकता। यहां प्राड न्याय का सिद्धांत लागू करने का कोई प्रश्न नहीं है क्योंकि उक्त धारा 111 और 112 की व्यवस्था स्वयं में स्पष्ट है।

7. इस अपील में विवादित बहुत-सी भूमि के विषय में समझौता हो गया है। हमें यह निश्चय नहीं है कि उस समझौते में राजस्व अधिकारों की दृष्टि से कोई आपत्तिजनक बात नहीं है, उदाहरणार्थ श्रीमती स्योत राज कुंवर के हित परिवर्तन के विषय में कि वह कहां तक ठकुराइन छविनाथ कुंवर के हित से असंगत होगा। हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खारिज की जानी चाहिए और इस अपील पर दिए जाने वाले आदेश में यह स्पष्ट किया जाना चाहिए कि ठकुराइन छविनाथ कुंवर से भिन्न प्रत्यर्थियों के विरुद्ध अपील खारिज करने का आदेश उक्त समझौते के आधार पर है। किंतु हमारी यह सलाह नहीं है कि उक्त करार

क्रियान्वित किया जाए। यदि उक्त समझौते के क्रियान्वयन का भी प्रश्न उठे तो वह भारत में संस्थित कार्यवाही में विधि के अनुसार विनिश्चित हो। अपीलार्थी ठकुराइन छविनाथ कुंवर को उसका इस अपील का खर्चा अदा करें।

अपील खारिज की गई।

महंत सतनाम सिंह.....अपीलार्थी

बनाम

बावन भगवान सिंह.....प्रत्यर्थी

(इलाहाबाद उच्च न्यायालय के निर्णय¹ के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 119 सन् 1936)

निर्णीत : 27.5.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड थैंकरटन, लार्ड रोश, लार्ड रोमर, सर शादी लाल और सर जार्ज रैंकिन

हिंदू विधि – मठ – उत्तराधिकार – वादी का दाव्यत्व है कि मठ के महंत पद के उत्तराधिकार विषयक रूढ़ि का स्पष्ट अभिवचन करे और उसे सबूत देकर साबित करे – जब उत्तराधिकार विषयक सामान्य परम्परा पूर्व महंत द्वारा नाम निर्देशन और संगत द्वारा अनुमोदन की है, तो सारा औपचारिक सबूत अपेक्षित नहीं – संगत के सदस्यों को नोटिस भेजना आवश्यक नहीं – यदि वे आमंत्रित किए जाकर नए महंत के अभिषेक के समय उपस्थित रहते हैं और तिलक आदि करते हैं और कोई आपत्ति नहीं करते तो अनुमोदन मान लिया जाएगा।

निर्णय

जस्टिस लार्ड थैंकरटन – अपीलार्थी दोनों निर्णय और डिक्रियां उलटवाना चाहता है – एक, वाराणसी के प्रथम अपर अधीनस्थ न्यायालय का 3.7.1931 का निर्णय और डिक्री और दूसरे उन्हें पुष्ट करने का इलाहाबाद उच्च न्यायालय का 18.9.1934 का निर्णय और डिक्री। अपील

¹ ए. आई. आर. 1935 इलाहाबाद 198.

एकपक्षीय सुनी गई क्योंकि प्रत्यर्थी उपस्थित नहीं हुआ ।

2. विवाद चैतन्य मठ की रूढ़ि और प्रथा के अनुसार उस मठ के महंत पद के संबंध में है । इस मठ की बनारस में स्थापना नानक शाही निर्मली संप्रदाय नामक एक सिक्ख संप्रदाय के साधुओं के नियमों और पद्धति के अनुसार की गई थी । इस अपील के प्रयोजनार्थ तथ्य निचले न्यायालयों के समान निष्कर्षों ने बहुत स्पष्ट कर दिए हैं और विवादित तथ्य बहुत कम हो गए हैं, जिसके परिणामस्वरूप विवादित मुख्य प्रश्न केवल यह है कि क्या प्रत्यर्थी, जो वाद में वादी था, 13.4.1928 को महंत के रूप में विधिमान्यतः अभिषेक किया गया ।

3. पिछले महंत रतन सिंह का देहावसान 23.6.1928 को हुआ । उन्होंने 5.6.1928 की एक वसीयत छोड़ी । इसके अधीन उन्होंने अपीलार्थी का अपने उत्तराधिकारी के रूप में नामित किया और उसे मठ की सम्पत्ति का स्वामी और कब्जेदार बनाया । अपीलार्थी का दावा है कि उसका नामनिर्देशन बाद में भेक, अर्थात् इस संप्रदाय के साधु समाज, द्वारा स्वीकार किया गया और उन्होंने उसे गद्दी पर 9.7.1928 को रूढ़ि के अनुसार सम्यक् रूप से अधिष्ठापित किया । तब से मठ और उसकी सम्पत्ति पर वास्तविक कब्जा अपीलार्थी का रहा है ।

4. अपीलार्थी के अधिष्ठापन की विधिमान्यता को प्रत्यर्थी ने अन्य आधारों पर प्रश्नगत किया है, किंतु मुख्य आधार यह है कि प्रत्यर्थी पहले ही विधिमान्यतः अधिष्ठापित हो चुका था, अतः अपीलार्थी के अधिष्ठापन के समय कोई रिक्ति ही नहीं थी । अपीलार्थी की ओर से श्री डुने ने स्वीकार किया कि यदि प्रत्यर्थी का अधिष्ठापन विधिमान्य था तो यह तर्क स्वीकार किया जाना चाहिए । किंतु यदि प्रत्यर्थी का अधिष्ठापन अविधिमान्य था तो उसका वाद असफल होना चाहिए क्योंकि वह इसी बात पर आधारित था कि प्रत्यर्थी महंत है और इस दृष्टि से यह भी उतना ही अनावश्यक होगा कि अपीलार्थी के अधिष्ठापन की विधिमान्यता पर विचार किया जाए । किंतु यह उल्लेखनीय है कि प्रत्यर्थी का महंत रतन सिंह की वसीयत की विधिमान्यता पर आक्षेप निचले न्यायालयों के समान निष्कर्षों के कारण असफल हो गया है और एकमात्र प्रश्न यह है कि क्या वह इस कारण निष्प्रभाव थी कि उस तारीख से पहले ही रतन सिंह ने अपने को प्रत्यर्थी के पक्ष में निर्निहित कर लिया था । अतः इस अपील का विनिश्चय प्रत्यर्थी

के अधिष्ठापन की विधिमान्यता पर ही निर्भर करता है ।

5. इसमें संदेह नहीं हो सकता कि महंत पद का उत्तराधिकार और मठ की सम्पत्ति का स्वामित्व, जो पदावधि द्वारा सीमित होता है, विशिष्ट मठ की रूढ़ि द्वारा विनियमित होगा और वाद का वादी होने के नाते प्रत्यर्थी इस बात के लिए आबद्ध है कि वह अभिवचन करे और साबित करे कि इस मठ की रूढ़ि क्या है तथा उसकी महंत पद की प्राप्ति रूढ़ि के अनुसार थी । प्रस्तुत मामले में अभिवचनों में अपीलार्थी और प्रत्यर्थी में इस विषय में तात्त्विक मतभेद प्रकट हुआ कि इस मठ की रूढ़ि क्या है, किंतु एक प्रश्न के संभाव्य अपवाद को छोड़कर इस मतभेद का निर्णय निचले न्यायालयों के निष्कर्षों से ही हो चुका है ।

6. अब इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि महंत रतन अपने जीवनकाल में अपना पद त्यागने के हकदार थे । अब प्रश्न है कि (1) क्या वे इस बात के हकदार थे कि स्वयं अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करें और वह भेक द्वारा अनुमोदन और पुष्टि के बिना ? (2) यदि ऐसा अनुमोदन और पुष्टि आवश्यक थी तो क्या प्रत्यर्थी को महंत रतन ने वस्तुतः ऐसे अनुमोदन और पुष्टि के साथ अधिष्ठापित किया ?

7. इन प्रश्नों में से पहले पर प्रत्यर्थी का अभिवचन था और वह इस कथन के साथ विचारण में शामिल हुआ कि भेक का अनुमोदन या पुष्टि अनावश्यक थी, किंतु अपना साक्ष्य समाप्त करने के बाद और अपीलार्थी की परीक्षा किए जाने के बाद उसके वकील ने एक महत्वपूर्ण स्वीकृति की जो लेखबद्ध की गई, अर्थात् :-

“वादी के वकील मुंशी बहादुर लाल ने बयान दिया कि उनका कथन यह है कि केवल वादी को गद्दी पर अधिष्ठापित किया गया और उसकी अवयस्कता की अवधि में उसके पिता हरदेव सिंह ने उसका अधीक्षण किया ।

रूढ़ि के अनुसार एक ही समय पर दो महंत अधिष्ठापित नहीं हो सकते । महंत की गद्दी पर अधिष्ठापन के समय पुष्टि आवश्यक है तथा निर्मल संगत के सदस्य और सेवक तथा रईस आमंत्रित किए जाते हैं । इनमें से कोई आए या न आए पुष्टि पूरी हो जाती है, सिवाय उस दशा के जब गद्दीनशीनी के समय कोई आपत्ति की जाए ।

किंतु यह आवश्यक नहीं है कि केवल वही व्यक्ति, जिसे गुरु ने

नामनिर्दिष्ट किया, गद्दीनशीन बताया जाना चाहिए ।”

8. अधीनस्थ न्यायाधीश ने कथन किया :—

“दोनों पक्षकार सहमत हैं कि यह आवश्यक है कि प्रश्नगत मठ के महंत पद पर किसी व्यक्ति के अधिष्ठापन के समय एक प्रकार का अनुमोदन संगत दे । इस प्रश्न पर प्रत्यर्थी सं. 1 की ओर से लिखित कथन में स्पष्ट कथन है और वादी के विद्वान् अधिवक्ता ने भी उसे अपने कागज सं. 330-ग पर अभिलिखित बयान में माना है ।”

9. इस बयान के प्रति तिर्रेय करते हुए उच्च न्यायालय में विद्वान् न्यायाधीशों ने निम्न प्रकार कथन किया :—

“इस स्वीकृति का स्वाभाविक निर्वचन हमें यह प्रतीत होता है कि यद्यपि गद्दीनशीन महंत अपने जीवनकाल में अपने उत्तराधिकारी का नामनिर्देशन कर सकता है, किंतु उत्तराधिकारी के पद पर पुष्टि के लिए यह आवश्यक है कि नए महंत के अभिषेक के समय निर्मला संगत के सदस्य उसकी उस पद पर पुष्टि करें और यह भी आवश्यक है कि नए महंत के अधिष्ठापन के समय संगत के सदस्यों को निमंत्रण भेजा जाए, जिन्हें अधिकार है कि संस्कार के समय उसकी पुष्टि करें या नामनिर्दिष्ट अभ्यर्थी को अस्वीकृत कर दें । क्योंकि इस स्वीकृति के सही निर्वचन के विषय में हमारे मन में कुछ संदेह था अतः हमने श्री बहादुर लाल से, जो न्यायालय में उपस्थित थे, पूछा कि उनका आशय क्या कहने का था और उन्होंने कहा कि वे ऐसी मामले के प्रति निर्देश कर रहे थे जिसमें कि महंत ने उत्तराधिकारी नामनिर्दिष्ट तो कर दिया था किंतु अपने जीवनकाल में उसे अधिष्ठापित नहीं किया था ।”

10. विद्वान् न्यायाधीश स्वीकृति के इस विश्लेषण को मानने को उद्यत थे, किंतु उन्होंने इस प्रश्न का विनिश्चय अनावश्यक पाया “क्योंकि हम तथ्यों के आधार पर विचारण न्यायालय के निष्कर्ष से सहमत हैं कि भेक के सदस्यों ने अपने कार्य या कार्यलोप से अधिष्ठापन की पुष्टि कर दी थी ।”

11. हमारी राय में वादी के वकील का जो अभिलिखित बयान है वह बिल्कुल दुविधारहित है और उसमें उनके मुवक्किल प्रत्यर्थी का अधिष्ठापन स्पष्टतः आ जाता है, जिसका सीधा निर्देश बयान के पहले दो वाक्यों में है

और तत्पश्चात् अपीलार्थी हकदार था कि उसी आधार पर विचारण आगे बढ़े । प्रत्यर्थी के वकील को यह अनुमति नहीं होनी चाहिए थी कि अपनी स्पष्ट स्वीकृति को विशेषित करें ।

12. भेक द्वारा पुष्टि के अर्थ के विषय में अधीनस्थ न्यायाधीश कहते हैं :—

“उसका अर्थ है कि अभिषेक के समय संगत या भेक के सदस्य पर्याप्त संख्या में उपस्थित होने चाहिए जिससे मठ के महंत के रूप में विशिष्ट चेले की नियुक्ति का सामान्य अनुमोदन व्यक्त हो ।”

विद्वान् न्यायाधीश ने साक्ष्य की समीक्षा करने के बाद कहा कि दस्तावेजी साक्ष्य निश्चायक और संदेह रहित ढंग से सिद्ध करता है कि प्रत्यर्थी को गद्दी पर पूर्व महंत रतन सिंह ने अधिष्ठापित किया तथा ये सब तथ्य साबित करते हैं कि वैशाखी के दिन (13 अप्रैल, 1928 को) प्रत्यर्थी का गद्दी पर अधिष्ठापन होने के बाद भेक के सदस्यों ने उसकी पुष्टि की । उन्होंने अपीलार्थी के चार साक्षियों के बयानों का हवाला दिया जिन्होंने कहा था कि वे उपस्थित थे किंतु उन्होंने सोचा कि यह मामला भोजन व्यवस्था प्रत्यर्थी और उसके पिता को सौंपने का है । वह आगे कहते हैं :—

“किंतु एक बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि 1928 की वैशाखी के दिन कोई कृत्य (समागम) चैतन्य मठ में अवश्य हुआ, लोगों को उसकी बाबत सम्यक् रूप से सूचना दी गई थी और परिणामतः वे उपस्थित हुए । हमारा निष्कर्ष है कि वादी ने यह सिद्ध कर दिया है कि उसके अधिष्ठापन के बाद भेक या संगत द्वारा पुष्टि की गई ।”

13. जैसा कि पहले बताया गया, उच्च न्यायालय इस अंतिम निष्कर्ष से सहमत हुआ और उसने यह भी विनिश्चय किया कि विचारण न्यायालय का यह विनिश्चय कि प्रत्यर्थी का अधिष्ठापन 13.4.1928 को हुआ, सही था । अपनी प्रायिक पद्धति के अनुसार हम ऐसे एक जैसे निष्कर्षों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहेंगे, सिवाय उस दशा के जबकि उसके समर्थन में पर्याप्त साक्ष्य न हो।

14. महंत के देहावसान के सामान्य मामले में पद के रिक्त होने का ज्ञान संगत के सदस्यों को पूर्णतः होगा और उसके उत्तराधिकारी के

अधिष्ठापन के लिए प्रायिक पद्धति यह होगी (जो उत्तराधिकारी प्रायः उसके द्वारा नामनिर्दिष्ट होता है) कि वह मृत्यु के बाद सत्रहवें दिन हो। दूसरी ओर जब महंत अपने जीवनकाल में त्यागपत्र दे दे और अपने उत्तराधिकारी को गद्दीनशीन कर दे तो यह स्पष्ट है कि संगत को प्रस्तावित रिक्ति के बारे में जानकारी दे दी जाए और उसे अवसर दिया जाए कि नामिती की पुष्टि करे या पुष्टि करने से इनकार कर दे। जहां तक महंत के आशय की सूचना दी जाने की बात है, यह मामला कड़ी औपचारिकता का नहीं होता और किसी धावक द्वारा मौखिक निमंत्रण भेज कर, जो पद्धति यहां अपनाई गई, आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त, प्रस्तुत मामले में साक्ष्य ने यह संदेह रहित कर दिया है कि संगत को महंत के आशय की पूरी जानकारी थी और चुना गया दिन अत्यंत महत्वपूर्ण और पवित्र दिन था क्योंकि वह सिख धर्म का जन्मदिन था, जो पंजाब में नव वर्ष दिन के रूप में मनाया जाता है तथा सभी गुरुद्वारों और संगतों में उत्सव और धार्मिक कृत्य (समागम) होते हैं।

15. फिर, जहां तक भेक द्वारा पुष्टि का संबंध है, उसमें हमारी राय में निर्वाचन करने या संकल्प पारित करने की बात नहीं आती। यह स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि भेक के उपस्थित सदस्य स्वयं संस्कार में भाग लेते हैं। माथे पर तिलक लगाना और उनके द्वारा धन भेंट किया जाना संस्कार के भाग हैं और यह निर्णय किया जा सकता है कि उनसे अधिष्ठापित व्यक्ति की पुष्टि सिद्ध होती है। हमारी राय में पर्याप्त साक्ष्य था जो इस एक समान निष्कर्ष का समर्थन करता है और अपील असफल होनी चाहिए।

16. तदनुसार हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील खर्च सहित खारिज की जानी चाहिए और उच्च न्यायालय की डिफ्री की पुष्टि की जानी चाहिए।

अपील खारिज की गई।

नाथू रामू महाजन और अन्य.....अपीलार्थी

बनाम

गंगाबाई.....प्रत्यर्थी

(बम्बई उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 58
सन् 1936)

निर्णीत : 17.6.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड थैंकरटन, लार्ड रोमर, सर लांसलाट सेंडरसन,
सर शादी लाल और सर जार्ज रैंकिन

वसीयत — निर्वचन — अंग्रेजी विधि की भांति हिंदू विधि में भी वसीयत के निर्वचन का उद्देश्य वसीयतकर्ता के आशय का पता लगाया जाता है — इसके लिए प्रथमतः स्वयं वसीयत में प्रयुक्त भाषा का आश्रय लेना होता है — उस भाषा का अर्थ करने में परिस्थितियों पर भी विचार किया जा सकता है और इन परिस्थितियों में देश की विधि भी है — यदि विधि में किसी शब्द का कोई विशिष्ट अर्थ है तो उस पर भी विचार करना चाहिए ।

निर्णय

जस्टिस सर शादी लाल — यह अपील एक वाद में उद्भूत हुई है जो प्रत्यर्थी गंगाबाई ने अपने देवर रामू गणपत के विरुद्ध किया था । वाद पति की संपदा के कब्जे के लिए और उस संपदा के प्रबंध के हिसाब के लिए था । उसके पति धनजी दूला महाजन की मृत्यु 24.6.1907 को हुई थी । उसने 21.6.1907 को अपने द्वारा की गई एक वसीयत छोड़ी । भारत के न्यायालय इस विषय में एकमत हैं कि प्रस्तुत मामले में प्रतिवादित वसीयत वसीयतकर्ता द्वारा सम्यक् रूप से की गई थी और उस समय वह स्वस्थ-मस्तिष्क था । प्रकट यह होता है कि पति की मृत्यु के बाद उसकी संपदा का कब्जा गंगाबाई और रामू गणपत ने ले लिया ; किंतु प्रबंध कार्य अकेले गणपति के हाथ में था । उसका अपनी भाभी से झगड़ा हो गया । परिणामतः भाभी ने यथा उपर्युक्त वाद किया । विचारण न्यायालय ने वाद खारिज कर दिया । किंतु गंगाबाई ने अपना दावा खारिज होने की डिक्री के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील की । अपील विचाराधीन ही थी कि रामू गणपत की मृत्यु हो गई और उसने केवल अवयस्क संतानें छोड़ीं तथा उसकी अपनी संपदा के प्रशासन के लिए उसके द्वारा नियुक्त निष्पादक अपील में उसके विधिक प्रतिनिधि के रूप में पक्षकार बनाए गए । उच्च

न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों का विनिश्चय है कि वादिनी 1927 में नोटिस की तारीख से हिसाब लेने की हकदार है। उन्होंने निष्पादकों को यह भी निदेश दिया कि उसके द्वारा दावाकृत सम्पत्ति का कब्जा उसे दे दें। निष्पादकों ने उच्च न्यायालय द्वारा की गई अपील के विरुद्ध सपरिषद् हिज मैजेस्टी को यह अपील की। अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि क्या विधवा अपने पति द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति का कब्जा प्राप्त करने की हकदार है? इस प्रश्न का उत्तर उसके द्वारा की गई वसीयत के अर्थान्वयन पर निर्भर करता है। अर्थ के अवधारण में न्यायालय को वसीयतकर्ता का आशय देखना होता है :—

“अंग्रेजी विधि की भांति हिंदू विधि भी आशय को वह तत्व बताती है जिससे हमें वसीयत के प्रभाव के अवधारण में मार्गदर्शित होना है। जहां तक हमें ज्ञात है दोनों विधियों में इस विषय में भी अंतर नहीं है कि आशय किस सामग्री (बातों) से निश्चित किया जाए। प्रथमतः वसीयत के शब्दों पर विचार करना है। वे वसीयतकर्ता की इच्छाओं को व्यक्त करते हैं। किंतु उन शब्दों का किया जाने वाला अर्थ परिस्थितियों से भी प्रभावित हो सकता है और जहां ऐसा हो वहां निस्संदेह परिस्थितियों पर विचार किया जाना चाहिए। इस प्रकार विचारणीय परिस्थितियों पर विचार किया जाना चाहिए। इस प्रकार विचारणीय परिस्थितियों में उस देश की विधि भी होती है जिसके अधीन वसीयत की गई और उसके द्वारा किया गया व्ययन क्रियान्वित किया जाना है। यदि विधि में किसी विशिष्ट शब्द का कोई विशिष्ट अर्थ हो अथवा किसी विशिष्ट व्ययन का कोई विशिष्ट प्रभाव हो तो यह उपधारणा की जानी चाहिए कि वसीयतकर्ता ने अपना व्ययन करने में उस अर्थ या प्रभाव का ध्यान रखा, सिवाय उस दशा के जबकि वसीयत या परिस्थितियां उस मान्यता को अतिष्ठित कर दें।”

श्रीमती सूर्यमणि दासी बनाम दीनबंधु मलिक (1854-57) 6 मूर्स इंडियन अपीलस 526 (550-551)।

2. इन सिद्धांतों की दृष्टि से हमें यह विनिश्चय करना है कि वसीयतकर्ता द्वारा अपनी वसीयत में प्रयुक्त भाषा से उसका क्या आशय प्रकट होता है। वसीयत की भाषा इस विषय में कोई संदेह नहीं छोड़ती कि वसीयतकर्ता उत्सुक था कि उसकी संपदा उसके कुटुम्ब के सदस्यों को या उसके भाई रामू गणपत को न्यागत हो। उसके कोई पुत्र नहीं था। किंतु उसकी पत्नी गंगाबाई गर्भवती थी। उसने निदेश दिया कि यदि

उसके पुत्र जन्में हो तो वह उसकी सारी संपदा का उत्तराधिकारी होगा । किंतु यदि उसके पुत्र पैदा न हो या पुत्र पैदा तो हो किंतु निस्संतान मर जाए तो उसने उसे प्राधिकृत किया था कि कोई लड़का गोद ले ले, किंतु गोद लिया जाने वाला लड़का रामू गणपत का पुत्र होना चाहिए । वस्तुतः कोई अन्य लड़का गोद लेने से उसे निषिद्ध कर दिया गया । न गंगाबाई के पुत्र जन्मा और न उसने अपने पति द्वारा दिए गए दत्तक ग्रहण के प्राधिकार का उपयोग ही किया । अतः कोई पुत्र न था, न नैसर्गिक न दत्तक, जो संपदा का उत्तराधिकारी होता । इस स्थिति की कल्पना वसीयतकर्ता ने कर ली थी और उसने अपनी वसीयत में व्यवस्था की थी कि यदि रामू गणपत के “ऐसा पुत्र न हो जो दत्तक दिया जा सके अथवा यदि गंगाबाई कोई लड़का गोद न ले तो गंगाबाई जीवनपर्यन्त हमारी संपदा की आय का उपभोग करे ।” उसके मृत्यु के बाद रामू गणपत को संपदा पूर्ण स्वामी के रूप में मिलनी थी । अपने पति की मृत्यु हो जाने पर विधवा ने रामू गणपत के साथ संपदा का कब्जा वास्तव में ले लिया जैसा कि निदेश उसे वसीयत में दिया गया था कि “वह सम्पत्ति का प्रशासन रामू गणपत से परामर्श करके चलाए ।” वस्तुतः विधवा ने रामू गणपत को संपदा का प्रबंध करने दिया और यदि उसने उससे झगड़ा नहीं किया होता तो वादिनी संभवतः उसे बेदखल करने के लिए वाद नहीं दायर करती ।

3. क्योंकि वसीयत द्वारा उसे अधिकार दिया कि संपदा की आय का उपभोग जीवनपर्यन्त करे अतः प्रत्यक्षतः यह अनुध्यात था कि, जैसी कि वसीयत के मामले में हिंदू विधि है, संपदा पर कब्जा उसका रहे और वह उसकी आय वसूल करे । निस्संदेह उसे संपदा का प्रबंध करने में रामू गणपत से परामर्श करना था । किंतु उसकी मृत्यु अपील विचाराधीन रहते हो गई और उसके निष्पादकों को यह अधिकार नहीं है कि प्रश्नगत प्रबंध में उसका प्रतिनिधित्व करें । और न वसीयत में ऐसा कोई उपबंध है जो उसके साथ प्रबंध करने के लिए किसी और को लगा दे । इन कारणों से हमारा विचार है कि इन परिस्थितियों में विधवा संपदा के कब्जे की और उसका प्रबंध करने की भी हकदार है । अतः हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि उच्च न्यायालय के निर्णय की पुष्टि की जानी चाहिए और यह अपील खर्चे सहित खारिज की जानी चाहिए ।

अपील खारिज की गई ।

राजा श्याम सुन्दर सिंह और कुछ अन्य.....अपीलार्थी

बनाम

कालू राम अग्रवाल और कुछ अन्य.....प्रत्यर्थी

(पटना उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 3
सन् 1937)

निर्णीत : 17.6.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड थैंकरटन, लार्ड रोमर, और सर शादी लाल

शब्दार्थ – “स्वीकृति” और “अधित्यजन” – स्वीकृति (एडमिशन) और अधित्यजन (वेवर) में अंतर होता है – किसी भी अधिकार का अधित्यजन तभी किया जा सकता है जब व्यक्ति को उस अधिकार का ज्ञान हो – किंतु जब एक व्यक्ति द्वारा की गई स्वीकृति के आधार पर दूसरा व्यक्ति कार्य करता है तो पहला व्यक्ति अपनी प्रतिरक्षा में यह नहीं कह सकता कि उसने अज्ञानवश स्वीकृति की ।

प्रक्रिया – निष्पादन – नई उद्घोषणा की आवश्यकता का अधित्यजन कर देने से पूर्व उद्घोषणा की त्रुटि ही अधित्यक्त होती है – उससे कुर्की की अनियमितता विषयक आपत्ति अधित्यक्त नहीं होती ।

कुर्की – कुर्की का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि व्यक्ति उस सम्पत्ति को अंतरित या भारित नहीं कर सके ।

निर्णय

जस्टिस लार्ड थैंकरटन :- अपीलार्थी सं. 1 की सम्पत्ति निष्पादन में बेची गई है और दो अन्य अपीलार्थी उसकी सम्पत्ति के भारसाधक रिसीवर हैं । उन्होंने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 90 के अधीन आवेदन दिया कि निष्पादन में किया गया विक्रय अपास्त किया जाए । धनवाद के अधीनस्थ न्यायाधीश के 18.9.1933 के आदेश द्वारा वह विक्रय अपास्त कर दिया गया था ; किंतु पटना उच्च न्यायालय की 27.11.1935 की डिक्री द्वारा उस आदेश को अपास्त करके विक्रय की पुष्टि की गई । यह अपील उसी डिक्री के विरुद्ध है । नियम 90 के अधीन यह आवश्यक है कि विक्रय अपास्त कराने के लिए यह साबित किया जाए कि (क) विक्रय के प्रकाशन या संचालन में तात्त्विक क्षति हुई है । प्रत्यर्थी सं. 3 अपने पिता

का प्रतिनिधि है जिसने अपीलार्थी सं. 1 के विरुद्ध कलकत्ता उच्च न्यायालय में 31.7.1931 को एक एकपक्षीय डिक्री प्राप्त की थी। यह डिक्री 38,392/- रु. 4 आ. 8 पा. की अदायगी के लिए थी। वह निष्पादन के लिए धनवाद के अधीनस्थ न्यायाधीश को अंतरित की गई। वहां डिक्रीदार ने 23.9.1931 (23 सितंबर, 1931) को आवेदन दिया कि उक्त अपीलार्थी की दो सम्पत्तियों की कुर्की एवं विक्रय द्वारा निष्पादन किया जाए। वाद में पश्चात्कर्ती कार्यवाही का वर्णन अधीनस्थ न्यायाधीश इस प्रकार करते हैं :-

“निष्पादन अर्जी में दिया गया पहली सम्पत्ति का वर्णन है पंडरा पहली किस्मत तौजी सं. 21, मनभूमि कलकटरी, परगना पंडरा, देय कुल राजस्व 107/- रु. 2 आ. 6½ पा. और सम्पत्ति के लिए देय स्थानीय उपकर 4,184/- रु. 10 आ.। दूसरी सम्पत्ति है पंडरा तीसरी किस्मत, मनभूमि, तौजी सं. 23, मनभूमि कलकटरी, परगना पंडरा, देय कुल राजस्व 53/- रु. 10 आ. 6 पा. और देय कुल उपकर 1,621/- रु. 14 आ. 6 पा.। डिक्रीदार ने अपनी निष्पादन अर्जी में सम्पत्तियों का कोई मूल्य नहीं दिखाया। मामले में जारी की गई पहली आदेशिका थी दोनों तौजियों की कुर्की का आदेश, जिसकी तामील 28.11.1931 को की गई व्यक्त की गई है। तत्पश्चात् सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 21, नियम 66 के अधीन नोटिस जारी किया गया और उसकी निर्णीत-ऋणी पर तामील की गई। निर्णीत-ऋणी ने 8.1.1932 को उपस्थित होकर मूल्यांकन के विषय में आपत्ति दाखिल की जिसमें बताया कि तौजी सं. 21 का मूल्य 15 लाख रुपए है और तौजी सं. 23 का 10 लाख रु.। 23.1.1932 को जब न्यायालय सम्पत्ति के मूल्य की जांच करने लगा तो डिक्रीदार के प्लीडर ने कहा कि उनको निर्णीत-ऋणी का मूल्यांकन अन्य बातों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। न्यायालय ने निर्णीत-ऋणी का मूल्यांकन अन्य बातों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। न्यायालय ने निर्णीत-ऋणी का मूल्यांकन दिखाते हुए विक्रय उद्घोषणा जारी करने का आदेश दिया। निर्णीत-ऋणी ने उस निर्णय के विरुद्ध एक प्रकीर्ण अपील की। तथा जो विक्रय 15.3.1932 को होना था वह माननीय उच्च न्यायालय के आदेश से रोक दिया गया। 16.3.1932 को उक्त सिविल पुनरीक्षण मामला निपटा दिया गया और इस न्यायालय का मूल्यांकन विषयक आदेश अपास्त कर दिया गया और इस न्यायालय

को निदेश दिया गया कि मूल्यांकन के प्रश्न का विनिश्चय साक्ष्य के आधार पर करें। तत्पश्चात् 2.5.1932 को इस न्यायालय ने जांच की और न्यायालय ने तौजी सं. 23 का, जो डिक्रीदार बिकवाना चाहता था, मूल्य 2 लाख रुपए ठहराया। उस तौजी की बाबत विक्रय उद्घोषणा विक्रय के लिए 15.6.1932 नियत करते हुए जारी कर दी गई। पहचानकर्ता न होने के कारण विक्रय उद्घोषणा की तामील नहीं हो सकी। फिर डिक्रीदार की 25.5.1932 को दाखिल की गई अर्जी पर तौजी सं. 23 की बाबत नई विक्रय उद्घोषणा जारी की गई जिसमें विक्रय के लिए 15.7.1932 की दोपहर नियत की गई। उस दिन निर्णीत-ऋणी ने डिक्री की राशि की अदायगी के लिए एक मास का समय मांगा और साथ ही नई विक्रय उद्घोषणा के जारी किए जाने विषयक अधिकार अधित्यक्त किए। यह समय दे दिया गया और विक्रय 15.8.1932 को दोपहर के लिए नियत कर दिया गया।”

2. आगे की कार्यवाही का विवरण देना अनावश्यक है क्योंकि अपीलार्थियों ने विषय में कोई अलग प्रश्न नहीं उठाया है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि निर्णीत-ऋणी ने 15.7.1932 वाले आवेदन के समान आवेदन देकर विक्रय की तारीख तीन बार और स्थगित कराई और अंत में विक्रय के लिए 27.9.1932 नियत की गई। इस अंतिम तारीख को निर्णीत-ऋणी द्वारा दी गई वैसी ही अर्जी खारिज कर दी गई और विक्रय 27 सितंबर को हो गया। सम्पत्ति प्रत्यर्थी सं. 1 व 2 ने 60,000/- रु. में खरीदी। यह भी बता दिया जाए कि 20.8.1932 को निर्णीत-ऋणी ने डिक्रीत राशि मध्ये 5,000/- रु. दिए थे। वादपत्र में कपट का जो एकमात्र अभिकथित अभिवचन को अधीनस्थ न्यायाधीश ने असत्य पाया और अपीलार्थी उस विनिश्चय से उपमत्त हुए। अब मामला विक्रय के प्रकाशन और संचालन में अनियमितता पर ही निर्भर करता है। अधीनस्थ न्यायाधीश ने पाया कि विक्रय के प्रकाशन और संचालन में तात्त्विक अनियमितता हुई जिसके परिणामस्वरूप सम्पत्ति 60,000/- रु. जैसी थोड़ी राशि में बिकी, यद्यपि वह तीन लाख रुपए से अधिक मूल्य की थी और इस प्रकार अपीलार्थी सं. 1 को तात्त्विक हानि हुई विद्वान् न्यायाधीश ने प्रत्यर्थियों का वह तर्क अमान्य कर दिया, जिसका उल्लेख बाद में है, कि उक्त अपीलार्थी ने इन अनियमितताओं के विषय में आपत्ति अधित्यक्त कर दी थी और जैसा कि पहले बताया गया उन्होंने विक्रय अपास्त कर दिया। वर्तमान अपीलार्थी द्वारा अपील की जाने पर उच्च न्यायालय ने वह विनिश्चय उलट

कर विक्रय की पुष्टि इस आधार पर कर दी कि 15.7.1932 की अपनी अर्जी में निर्णीत-ऋणी ने कहा था कि विक्रय उद्घोषणा की उचित तौर पर तामील की गई और यदि समय दे दिया जाता है तो वह नई उद्घोषणा जारी किए जाने का आग्रह नहीं करेगा और इस पर तब समय बढ़ा दिया और तीन बार और बढ़ाया गया तथा प्रत्येक बार उसी शर्त पर था तथा कपट के अलावा, जिसका कथन अधीनस्थ न्यायाधीश ने अमान्य कर दिया था, निर्णीत-ऋणी ने अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा पाई गई अनियमितता पर आपत्ति करने का अधिकार अधित्यक्त कर दिया था । इस दृष्टिकोण से विद्वान् न्यायाधीशों ने अधीनस्थ न्यायाधीश की अनियमितताओं विषयक निष्कर्ष की शुद्धता की चर्चा नहीं की । किंतु आवेदक को तात्त्विक हानि के प्रश्न पर उन्होंने कहा :—

“निर्णीत-ऋणी को विक्रय के पहले जो अनेक अवसर दिए गए कि वह डिक्रीत ऋण की अदायगी के लिए आवश्यक धन सम्पत्ति पर रुपए लेकर प्राप्त कर सके । इससे प्रकट होता है कि वर्तमान परिस्थितियों में जो राशि प्राप्त हुई वह इतनी अत्यंत अपर्याप्त नहीं है जिससे कि यह निष्कर्ष निकाला जाए कि राशि कार्यवाही की अनियमितताओं के कारण अत्यंत अपर्याप्त नहीं है जिससे कि वह निष्कर्ष निकाला जाए कि राशि कार्यवाही की अनियमितताओं के कारण अत्यंत अपर्याप्त कीमत पर बेची गई ।”

3. हम इस मत में बहुत सार पाते हैं और यह अनावश्यक समझते हैं कि इस प्रश्न पर अंतिम राय कायम करें क्योंकि हम विद्वान् न्यायाधीश द्वारा अन्यथा निकाले गए निष्कर्ष से सहमत हैं । अर्जीदार की 15.7.1932 की अर्जी का तात्त्विक भाग, जिसकी आवृत्ति बाद में तीन अर्जियों में लगभग उसी भाषा में की गई, इस प्रकार है :—

“धन प्राप्त करके डिक्रीदार को अदा करने के लिए एक मास का समय देकर दूसरी तारीख नियत की जाए । विक्रय उद्घोषणा की तामील उचित तौर पर हो गई है । यदि नियत अगली तारीख को रुपया अदा न कर दिया जाए तो विक्रय इसी उद्घोषणा के आधार पर हो जाए । कोई नई उद्घोषणा जारी नहीं करनी होगी ।”

4. इन अर्जियों के आधार पर निर्णीत-ऋणी ने डिक्रीत राशि की अदायगी के लिए चार बार समय प्राप्त किया । प्रथमतः उसने नई विक्रय उद्घोषणा की आवश्यकता अधित्यक्त कर दी, जैसा कि आदेश 21, नियम

69(2) में उपबंधित है। दूसरे उसने यह व्यक्त किया और इस प्रकार स्वीकार किया कि विक्रय उद्घोषणा की उचित तामील हो गई है। विधि में अधित्यजन और स्वीकृति में अंतर होता है। अधित्यजन के मामले में किसी व्यक्ति के ऐसे अधिकार के अधित्यजन का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता जिससे वह प्रतियुक्त रूप से अनभिज्ञ था। किंतु व्ययदेरात या स्वीकृति के मामले में, जिस पर कार्य कर दिया गया उसे करने वाला पक्षकार अनभिज्ञता का अभिवचन नहीं कर सकता जब तक कि वह अनभिज्ञता दूसरे पक्षकार द्वारा प्रेरित न हो, क्योंकि यदि वह पहले से जांच नहीं करता तो वह स्वयं गलती का खतरा मोल लेता है। अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा बताई गई अनियमितताएं जिनका अपीलार्थी ने आश्रय लिया है, इस प्रकार हैं :-

(1) कुर्की के विषय में – (क) अधीनस्थ न्यायाधीश को चपरासी की तामील रिपोर्ट की सत्यता के विषय में अत्याधिक संदेह था, (ख) कुर्की आदेश की प्रति पोडुरडीह में चरपा की गई जो तौजी सं. 21 में है, न कि तौजी सं. 23 के किसी भाग में, (ग) बर्द्धवान के कलक्टर को कोई प्रति नहीं भेजी गई जिसमें कि तौजी सं. 23 के कुछ भाग स्थित हैं।

(2) विक्रय उद्घोषणा के विषय में – उसकी अन्तर्वस्तु में त्रुटि थी कि सम्पत्ति का वर्णन अपर्याप्त था।

5. विक्रय उद्घोषणा पर अपीलार्थी की आपत्ति पर हमारा विचार है कि नई उद्घोषणा की आवश्यकता अधित्यक्त करने में यह अनिवार्य रूप से विवक्षित था कि विक्रय उद्घोषणा को देखने से प्रकट होने वाली त्रुटि विषयक आपत्ति अधित्यक्त की जाती है क्योंकि उच्च न्यायालय में उसकी प्रकीर्ण अपील को देखते हुए उसे उसकी अंतर्वस्तु की पूरी जानकारी रही होगी। उक्त अपीलार्थी के विरुद्ध इस मामले के तथ्य उनसे अधिक सबल हैं जो गिरधारी सिंह बनाम हरदेव नारायण सिंह¹ में थे, जिसमें कि इस बोर्ड ने अभिनिर्धारित किया कि अधित्यजन में ऐसी कोई आपत्ति आ जाती है जो कि सरकारी राजस्व के कथन के विषय में हो क्योंकि निर्णीत-ऋणी को न्यायालय भवन में चरपा की गई प्रति देखने का अवसर मिला ही होगा। अतः अपीलार्थियों की यह आपत्ति असफल होती है।

¹ [1875-76] 3 इंडियन अपीलस 230 = 26 डब्ल्यू. आर. 44 = 3 सार 637 = 3 सुपर 294 (प्रि. कौ.).

6. जहां तक अपीलार्थियों की कुर्की विषयक तीन आपत्तियों का संबंध है, हम अधीनस्थ न्यायाधीश के निष्कर्षों की शुद्धता पर विचार करना अनावश्यक समझते हैं और हमने इस प्रश्न पर प्रत्यर्थियों की शुद्धता पर विचार करना अनावश्यक समझते हैं और हमने इस प्रश्न पर प्रत्यर्थियों को नहीं सुना । हमारा यह विचार नहीं है कि नई विक्रय उद्घोषणा की आवश्यकता के अधित्यजन में यह भी विवक्षित होगा कि कुर्की की अधीनस्थ न्यायाधीश द्वारा बताई गई तीन अनियमितताओं के विषय में से किसी के भी विषय में आपत्ति करने के अधिकार का अधित्यजन किया जाता है । इस मत के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है कि इस मामले में निर्णीत-ऋणी द्वारा बार-बार स्वीकृति, जिसके आश्रय से उसने विक्रय में विलंब करवाया कुर्की की अनियमितताओं विषयक उसकी सभी आपत्तियों का अपवर्जन कर देती है, जब तक कि कपट न हो । किंतु इस अपील के निपटारे के लिए हमें यह निष्कर्ष पर्याप्त लगता है कि अधीनस्थ न्यायाधीश के निष्कर्ष सही मानते हुए भी इन अनियमितताओं से विक्रय दिवस की कार्यवाही इस प्रकार तत्त्वतः प्रभावित नहीं हुई कि विक्रय अपास्त करना उचित हो । यह स्मरणीय है कि कुर्की का मुख्य उद्देश्य यह होता है कि कुर्क सम्पत्ति को निर्णीत-ऋणी अंतरित या भारित नहीं कर सके । विक्रय उद्घोषणा के पहले विक्रय की कोई तारीख नियत नहीं की जाती और हमारे विनिश्चय को देखते हुए माना यही जाना चाहिए कि विक्रय उद्घोषणा और बाद की कार्यवाही नियमित थी । प्रस्तुत मामले में यह कार्यवाही महीनों चली और वास्तविक विक्रय पर कुर्की की अनियमितताओं का प्रभाव सैद्धांतिक और दूरस्थ ही है और तात्त्विक क्षति का आधार बनने के लिए पर्याप्त है, जो कि अपीलार्थियों को साबित करनी थी । अतः हमारी राय है कि अपीलार्थियों की कुर्की पर आपत्तियां विक्रय अपास्त करने के लिए प्रस्तुत आवेदन में अर्जीदारों के लिए उपयोगी नहीं है । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील खर्च सहित खारिज की जानी चाहिए तथा उच्च न्यायालय की डिक्री की पुष्टि की जानी चाहिए ।

अपील खारिज की गई ।

एडगर सेमट तथा अन्य.....अपीलार्थी

बनाम

स्ट्रिकलैंड.....प्रत्यर्थी

(माल्टा के कोर्ट ऑफ अपील के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 31
सन् 1938)

निर्णीत : 30.6.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड चांसलर (लार्ड माघम), वाइकाउंट सैंके, लार्ड
एटकिन्, लार्ड राइट व सर सिडनी रौलेट

सांविधानिक विधि — अध्यर्पित राज्यक्षेत्र (सीडेड टेरिटरीज) —
अध्यर्पित राज्यक्षेत्र से केवल वही क्षेत्र अभिप्रेत नहीं है जो विजय किया
जाए या जो वहां की प्रभुसत्ता द्वारा हस्तांतरित किया जाए, अपितु वह क्षेत्र
भी अभिप्रेत है जो उसके निवासियों की सहमति से मिल जाए — तदनुसार
माल्टा को अध्यर्पित क्षेत्र माना गया ।

क्राउन का विधायी परमाधिकार — क्राउन को अध्यर्पित क्षेत्रों के लिए
विधायन करने का परमाधिकार प्राप्त है ।

— उस क्षेत्र के लिए प्रतिनिधिक संस्था स्थापित करने से क्राउन का
परमाधिकार समाप्त नहीं हो जाता, भले ही उक्त परमाधिकार के लिए स्पष्ट
शब्दों में आरक्षण न किया गया हो ।

निर्णय संक्षेप (सार)

लार्ड माघम — यह अपील माल्टा के कोर्ट ऑफ अपील द्वारा
4.3.1938 को दिए गए निर्णय के विरुद्ध है । उन्होंने माल्टा के सिविल
न्यायालय (फर्स्ट हाल) का 11.10.1937 का निर्णय उलट दिया है ।
उन्होंने माल्टा के गवर्नर के अध्यादेश सं. 27 सन् 1936 द्वारा सीमा-शुल्क
लगाए जाने को अविधिमान्य ठहराया है ।

2. यह निर्विवाद है कि 1813 में माल्टा (जिसमें गोजो भी शामिल
था) ब्रिटिश कब्जाधीन क्षेत्र हो गया । तत्पश्चात् लेटर्स पेटेंटों तथा सपरिषद्
आदेशों द्वारा वहां के निवासियों को शासन के सीमित अधिकार दिए गए ।
14.4.1921 को हिज मैजेस्टी ने एक नया लेटर्स पेटेंट जारी किया जिसे

प्रधान लेटर्स पेटेंट कहा जाएगा । इसके द्वारा व्यवस्था की गई कि वहां विधान सभा की स्थापना की जाए जो वहां की शांति-व्यवस्था और सुशासन के लिए विधि बनाए । 17 आरक्षित विषय रखे गए जिन पर विधि बनाने की शक्ति उन्हें नहीं प्रदान की गई । जिन विषयों पर उन्हें विधि बनाने की शक्ति प्रदान की गई उन पर भी आपदा आदि की स्थिति में विधि बनाने की शक्ति अपने पास रखी गई । उसकी धारा 38 में क्राउन ने उक्त धारा 41 तथा कुछ अन्य उपबंधों के निरसन और संशोधन की शक्ति आरक्षित रखी । इस प्रकार माल्टा में दोहरा शासन स्थापित हो गया । तभी अन्य लेटर्स पेटेंट जारी करके गवर्नर और सेनाध्यक्ष के पदों का सृजन किया गया । गवर्नर क्राउन का प्रतिनिधि भी था । तत्पश्चात् कुछ दशाओं में वहां के विधानमंडल को समाप्त भी कर दिया गया । फिर 1933 में क्राउन ने यह आवश्यक समझा कि माल्टा का संविधान निलंबित कर दें और वहां के मंत्रीगण हटा दिए गए । इस कार्रवाई की विधिमान्यता संदिग्ध होने पर माल्टा (लेटर्स पेटेंट) अधिनियम, 1936 पारित किया गया जिस पर 14.7.1936 को शाही अनुमति हो गई । उसकी धारा 1 में कहा गया कि उक्त प्रधान लेटर्स पेटेंट इस प्रकार प्रभावी होगा जैसे कि हिज मैजेस्टी ने पूरी शक्ति आरक्षित की हो कि अन्य लेटर्स पेटेंट जारी करके उसे निरसित या संशोधित करें । 12.8.1936 के लेटर्स पेटेंट द्वारा हिज मैजेस्टी ने प्रधान लेटर्स पेटेंट निरसित करके माल्टा के प्रशासन की शक्ति और तत्संबंधी विधायी शक्ति गवर्नर को प्रदान कर दी (धारा 15) । साथ ही साथ क्राउन की भी समवर्ती शक्ति आरक्षित की गई । बहुत से पुराने लेटर्स पेटेंट निरसित कर दिए गए । तत्पश्चात् गवर्नर ने अध्यादेश सं. 27 सन् 1936 जारी करके कुछ विदेशी वस्तुओं के आयात पर सीमा-शुल्क लगा दिया । प्रत्यर्थी ने कुछ वस्तुएं आयात करके सीमा-शुल्क तो अदा कर दिया पर साथ ही उसने उसकी संवैधानिकता को प्रश्नगत करने के लिए वाद कर दिया, जो विचारण न्यायाधीश ने तो खारिज कर दिया, किंतु अपील न्यायालय ने मंजूर कर ली ।

3. अपील न्यायालय के निर्णय के आधार ये थे : प्रथमतः क्राउन ने माल्टा अध्वर्षण द्वारा नहीं बल्कि निवासियों से समझौते के आधार पर प्राप्त किया ; अतः उन्हें विधायन की शक्ति स्वतः नहीं बल्कि रूढ़िवश मिली, क्योंकि वे माल्टा के लिए लेटर्स पेटेंट द्वारा विधायन करते रहे थे । दूसरे, जैसा कि **केम्पबेल बनाम हॉल** । काउप. 204 में निर्णय किया गया, लेटर्स

पेटेंट द्वारा प्रतिनिधिक संस्था स्थापित करने से शाही परमाधिकार समाप्त हो गया । माल्टा (लेटर्स पेटेंट) ऐक्ट, 1936 उक्त परमाधिकार पुनर्जीवित करने के लिए अपर्याप्त है । उक्त अधिकार रूढ़िजन्य होने के कारण एक बार व्यपगत हो जाने के बाद पुनः जीवित नहीं हो सकता ।

4. यहां अन्य तर्क भी किए गए । शाही परमाधिकार का प्रश्न अनन्यतः अंग्रेजी कामन लॉ का प्रश्न है । किसी भी दशा में माल्टा की प्रभुसत्ता क्राउन को अनेक रद्दो-बदल के बाद 1813 में प्राप्त हो गई । जब सर टामस मैटलैंड ने माल्टा के गवर्नर के रूप में आकर सम्राट जार्ज तृतीय की ओर से घोषणा जारी की कि माल्टा और गोजो की जनता क्राउन की प्रजा है और तत्संबंधी अनेक आश्वासन दिए गए । प्रश्न यह है कि क्या इससे क्राउन को किसी प्रकार की अधिकारिता मिली । यह भी प्रभुसत्ता का अध्यर्पण ही था । सामान्यतः प्रभुत्व का अंतरण प्रभुसत्ता द्वारा किया जाता है और माल्टा जैसी प्रक्रिया नहीं होती । अतः उस ओर ध्यान नहीं जाता । इसी कारण इस विषय की पाठ्यपुस्तकों में इस तरह के अध्यर्पण की ओर ध्यान नहीं दिया गया है । हेल्सबरी के लाज ऑफ इंग्लैंड, तृतीय संस्करण, खण्ड 11 में, “डोमीनियन” आदि शीर्षक के अंतर्गत पृष्ठ 11 पर माल्टा को अध्यर्पित क्षेत्र ही माना गया है । ब्लैकस्टोन की — “कमेंट्रीज” इक्कीसवां संस्करण, खंड 1, पृष्ठ 107-108 में इस विषय में चर्चा है और कहीं नहीं कहा गया है कि प्रभुत्व का स्वेच्छा से समर्पण अध्यर्पण नहीं माना जाना चाहिए या भिन्न माना जाना चाहिए । अतः माल्टा अध्यर्पण द्वारा प्राप्त क्षेत्र ही माना जाएगा ।

5. उपर्युक्त कैम्पबेल वाला निर्णय ग्रेनाडा द्वीप के बारे में था जोकि अंग्रेजों ने युद्ध में जीता और फ्रांस के राज्य ने उसका अर्पण किया था । 26.3.1764 के लेटर्स पेटेंट द्वारा जेनरल मेलविल को वहां का गवर्नर नियुक्त किया गया और उन्हें वहां विधानमंडल स्थापित करने की शक्ति प्रदान की गई । अन्य घोषणाएं भी जारी की गईं । तत्पश्चात् शाही परमाधिकार के प्रयोग में 20.7.1964 के लेटर्स पेटेंट द्वारा द्वीप से निर्यात की गई चीनी पर 4½ प्रतिशत का शुल्क लगाया गया । विवाद उठने पर निर्णय किया गया कि लेटर्स पेटेंट के पहले ही क्राउन ने अपने को विधायी शक्ति से वंचित कर लिया था । वह मामला भिन्न था क्योंकि उसमें विधायी संस्था स्थापित करने के बाद क्राउन द्वारा विधायी शक्ति का प्रयोग उस शक्ति को आरक्षित किए बिना किया जा रहा था जबकि यहां विधायी

संस्था समाप्त करके संसदीय अधिनियम पारित करके क्राउन विधायी शक्ति का प्रयोग कर रहे थे । अतः उक्त निर्णय यहां लागू नहीं होता ।

6. प्रश्नगत प्रधान लेटर्स पेटेंट में दो शक्तियां आरक्षित की गई थीं : एक तो आपात आदि की स्थिति में किसी भी विषय में विधायन की शक्ति और दूसरे, लेटर्स पेटेंट की सुसंगत धारा निरसित आदि करने की शक्ति । इस प्रकार दोनों प्रकार की शक्तियों का आरक्षण 1903 के लेटर्स पेटेंट में था । बहस यह की गई कि जब तक क्राउन ने स्वयं विधायन को शक्ति आरक्षित नहीं की, पूर्व लेटर्स पेटेंट के निरसन से क्राउन को विधायन की शक्ति नहीं मिल जाती । पहले प्रकार का आरक्षण एक समवर्ती विधायी शक्ति का होना चाहिए । इसी कारण उस शक्ति का प्रयोग करके बनाई गई विधियों के संबंध में वह उसी प्रकार प्रभावी होगी जैसे कि यह लेटर्स पेटेंट जारी नहीं किया गया हो । वह आरक्षण लेटर्स पेटेंट के सम्पूर्ण निरसन को लागू नहीं होता । यहां तो संसदीय अधिनियम द्वारा क्राउन की शक्ति मानी गई है ।

7. इन कारणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि न तो **केम्पबेल वाला निर्णय**, न सांविधानिक पाठ्यपुस्तकों और न क्राउन द्वारा कालोनियों और अन्य कब्जाधीन क्षेत्रों को प्रतिनिधित्वात्मक शासन प्रदान करने में क्राउन द्वारा प्रयुक्त प्ररूप पर आधारित तर्कों का आश्रय इस प्रतिपादना को सिद्ध करने के लिए लिया जा सकता है कि 12.8.1936 को प्रधान लेटर्स पेटेंट के निरसन के बाद क्राउन को माल्टा के विषय में कोई विधायी प्राधिकार नहीं रह गया सिवाय संभवतः उन विषयों के जो प्रधान लेटर्स पेटेंट द्वारा अभिव्यक्त रूप से आरक्षित किए गए थे । इस समस्या का समाधान परिस्थितियों पर विचार करके किया जाना है, जिनमें से कुछ माल्टा के एक किला होने के नाते विशिष्टता रखती है । उन मामलों की प्रकृति की सावधानी से परीक्षा करनी है जो माल्टा की सीनेट और विधान सभा को 1921 में सौंपे गए और उन विषयों द्वारा भी जिनका आरक्षण क्राउन ने लोक सुरक्षा और साम्राज्य रक्षा की दृष्टि से किया था तथा क्राउन की उस प्रजा की सामान्य हित भी जो वहां आए या रहें, और यह भी पूछना है कि यह निष्कर्ष निकालकर यदि लेटर्स पेटेंट वापस लिए जाएं तो माल्टा के निवासी विधानमंडल-विहीन छोड़ दिए जाएंगे और उनके पास स्थानीय प्रयोजनार्थ राजस्व वसूलने का साधन भी नहीं होगा जब तक कि अंग्रेजी पार्लियामेंट हस्तक्षेप न करे । ऐसी बात हो सकती है कि पार्लियामेंट

द्वारा अधिनियम पारित किए जाने के बहुत पहले ही तुरंत आवश्यकता गवर्नर तथा स्थानीय प्रशासन की हो । इसके अतिरिक्त यह बहुत असम्भाव्य लगता है कि लेटर्स पेटेंट द्वारा दोहरे शासन की संश्लिष्ट पद्धति स्थापित करने के बाद आशय यह रहा हो कि यदि प्रतिनिधि निकाय को विधि बनाने और प्रशासनिक शक्ति का भाग दिया जा रहा है तो उसके समाप्त होने पर क्राउन के पास केवल बची-खुची और कटी-छंटी शक्तियां ही रह जाएंगी और माल्टा की शासन व्यवस्था और सुशासन का उपबंध करने का साधन नहीं रहेगा । इस कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि इस बात के लिए कोई आधार या सिद्धांत नहीं है और न कोई प्रमाण है कि यह निर्णय किया जाए कि 1921 के प्रधान लेटर्स पेटेंट जारी किए जाने पर शाही परमाधिकार इतना निर्वापित हो गया कि उन लेटर्स पेटेंट के निरसन पर वह परमाधिकार ही नहीं रह गया । निस्संदेह स्थानीय विषयों के संबंध में विधायन करने का अधिकार लेटर्स पेटेंट के प्रवृत्त रहने के दौरान इसी कारण से निलंबित रहा कि उस दौरान क्राउन द्वारा विधायन उस शक्ति-प्रदायी लिखत के ही विरुद्ध होगा, किंतु उसमें ऐसा कुछ नहीं है जो लेटर्स पेटेंट के प्रवृत्त न रहने पर शाही परमाधिकार के प्रयोग का वर्जन करे ।

उपर्युक्त कारणों से हम हिज मैजेस्टी को यह सलाह देना उचित समझते हैं कि अपील मंजूर करें और प्रथम प्रक्रम के विद्वान् न्यायाधीश का आदेश पुनः स्थापित करें ।

अपील मंजूर की गई ।

सूनी राम रामनिरंजन दास.....अपीलार्थी

बनाम

अलगिया नचियार कोइल (मंदिर).....प्रत्यर्थी

(रंगून उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 71
सन् 1937)

निर्णीत : 5.7.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड रोमर, सर शादी लाल व सर जार्ज रैंकिन

प्रेसिडेन्सी नगर दिवाला अधिनियम, 1909 – धारा 86 व अनुसूची 2 नियम 25 – शासकीय समनुदेशिती की हैसियत दिवालिए की सम्पत्ति के स्वामी की होती है जो उसे लेनदारों के फायदे के लिए धारण करता है – वह उस संपत्ति में किसी दावे का न्यायनिर्णयन नहीं कर सकता – न ऐसी किसी न्यायनिर्णयन के विरुद्ध अपील में उस साक्ष्य के आधार पर कार्य किया जा सकता है जो शासकीय समनुदेशिती के समक्ष दिया गया, न कि न्यायालय के समक्ष ।

भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 – धारा 5 – इस विषय में साक्षियों की राय साक्ष्य में ग्राह्य नहीं है कि अमुक व्यापारिक पद्धति का विधिक प्रभाव क्या होगा और उसके अधीन फायदाग्राहियों के अधिकार क्या होंगे ।

भारतीय न्यास अधिनियम, 1882 – धारा 6 – एक फर्म ने मंदिर के लिए राशि दान करके अपने पास कारबार में लगाए रखी और मंदिर के न्यासी को वचन दिया कि वे जब चाहें वह राशि फर्म से ले सकते हैं – इससे फर्म राशि की देनदार हुई, किंतु न्यासी नहीं – न्यास के लिए आवश्यक है कि न्यास के सृजन का आशय हो – यहां देनदारी न्यास के रूप में न होकर ऋण के रूप में रही ।

हिंदू विधि – विन्यास (एण्डाओमेंट) – हिंदू विधि में धार्मिक विन्यास का सृजन किसी लेख के बिना, कोई न्यासी नियुक्त किए बिना तथा सम्पत्ति देवता से भिन्न किसी व्यक्ति में निहित किए बिना हो सकता है ।

निर्णय

जस्टिस सर जार्ज रैंकिन – रंगून उच्च न्यायालय ने 1.4.1933 को प्रेसिडेन्सी दिवाला अधिनियम, 1909 के अधीन (जिसे यहां आगे अधिनियम

कहा गया है) न्याय निर्णयन एक फर्म के विरुद्ध किया जो उसने एस.ए.आर.एम. चेट्टियर फर्म कही गई थी और जिसके बारे में यह बताया गया था कि वह रंगून में बैंककारी और धन उधार देने का कारबार करती है। यह आदेश अपीलार्थियों सूनी राम रामनिरंजन दास के अनुरोध पर किया गया। वे अर्जीदाता लेनदार हैं। न्यायनिर्णयन के आदेश की तारीख को दिवालिया फर्म में तीन भाई थे जो रमास्वामी चेट्टियर के पुत्र थे। रमास्वामी चेट्टियर की मृत्यु कुछ समय पहले हो गई थी। यह कारबार संयुक्त हिंदू कुटुम्ब का कारबार था। एक समय में वह एस.ए.एम. फर्म के नाम से ज्ञात था और रमास्वामी के पिता द्वारा और उसके बाद रमास्वामी द्वारा कुटुम्ब के कर्ता के रूप में चलाया जाता था। 19.12.1933 को दिवालिया के कामकाज की सूची दाखिल की गई। उसमें अप्रतिभूत लेनदारों की सूची में क्रम संख्या 85 पर एक हिंदू मंदिर का नाम था, जो मद्रास के रामनद जिले में ओसिरुवायाल नामक स्थान में स्थित था। वह स्थान चेट्टियर कुटुम्ब का मूल स्थान था। मंदिर अलगिया नाचियार मंदिर कहलाता है। ऋण की राशि 48,915/- रु. 10 आ. दिखाई गई। ऋण लेने की तारीख अप्रैल, 1932 दिखाई गई और उसका प्रतिफल निक्षेप लिखा गया है। जून, 1934 में मंदिर के एक न्यासी के रूप में अन्नामलाई की ओर से उक्त राशि के ऋण का सबूत पेश किया गया। किंतु जुलाई, 1937 में वह दूसरे सबूत द्वारा अनुपूरित किया गया जिसमें अन्नामलाई ने देवता के उपासक की ओर सभी उपासकों के प्रतिनिधि की हैसियत से साबित करने का दावा किया। इस संशोधित सबूत में न्यायनिर्णय की तारीख तक का ब्याज दिवालिया की लेखाबहियों में दिखाई गई राशि में जोड़ दिया गया था जिससे कुल ऋण 51,488/- रु. 12 आ. 3 पा. हो गया। ऋण का वर्णन इस प्रकार है : “चालू खाते में देय राशि जो राशि दिवालिया फर्म ने उक्त अलगिया नाचियार कोइल मंदिर को दान दी थी किंतु अभिरक्षक के रूप में उक्त फर्म वह राशि अपने पास रखे रही।”

2. दिसंबर, 1935 में एक ही रूप के सात शपथपत्र दाखिल किए गए। प्रत्येक में शपथी ने मंदिर का न्यासी होने का दावा किया और यह स्पष्ट किया कि मंदिर का प्रशासन सात न्यासी करते हैं, जिनमें प्रत्येक एक “करई” का प्रतिनिधित्व करता है। उनका कहना था कि दिवालिया फर्म के पास मंदिर के स्वामित्व की राशि थी और वे सहमत हुए कि दिवालियों का निकट संबंधी अन्नामलाई ही उचित व्यक्ति माना जाए जो मंदिर की ओर

से न्यास निधि प्राप्त करे। अधिनियम की धारा 52 के अनुसार दिवालिए की लेनदारों में विभाजनयोग्य सम्पत्ति में वह संपत्ति नहीं आती जो दिवालिए द्वारा किसी व्यक्ति के लिए न्यास के रूप में धारित हो। इस सुविदित सिद्धांत के आधार पर 17.2.1936 को 85वें लेनदार – “अलगिया नचियार कोइल” के नाम से एक कार्यवाही प्रारंभ की गई जिसमें कि पूरे न्यास धन के रूप में 51,488/- रु. 12 आ. 3 पा. की वसूली का दावा किया गया था। अपीलार्थियों ने “न्यायनिर्णय लेनदारों” के रूप में आपत्तियां दाखिल कीं। उस पर शासकीय समनुदेशिती ने उस मामले का विनिश्चय करने के लिए अधिकरण के रूप में कार्य किया और फरवरी, 1936 में मौखिक साक्ष्य सुनने के बाद 12.5.1936 को एक लिखित निर्णय या आदेश दिया कि “दावेदार पूर्ण राशि की अदायगी के और इस प्रकार देय राशि के लिए दिवालिए की आस्तियों पर भारसाधन के हकदार हैं।”

3. इसे न्यायिक आदेश मानकर अपीलार्थियों ने अधिनियम की धारा 86 के अधीन तात्पर्यित कार्य करते हुए एक अपील का ज्ञापन दाखिल किया। न्यायालय की दिवालिया विषयक अधिकारिता का प्रयोग करने वाले न्यायाधीश के रूप में न्यायमूर्ति ब्राण्ड ने इस संबंध में कार्यवाही उसी आधार पर की। 29.6.1936 को उन्होंने अपील मंजूर करके घोषित किया कि मंदिर को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है कि प्रश्नगत राशि दिवालियों की संपदा में से निकाले अथवा उसे शासकीय समनुदेशिती के हाथ की दिवालियों की आस्तियों से अलग करें। तदनुसार उन्होंने शासकीय समनुदेशिती को दिया गया आवेदन खारिज कर दिया और अपीलार्थियों को उस आवेदन का और अपील का कुछ खर्चा दिलाया। इस आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय के अपील न्यायपीठ में अपील की गई। विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति और न्यायमूर्ति डंकले में (7.12.1936 को) हो जाने पर अपील तीसरे न्यायमूर्ति लीच को निर्देशित की गई। उन्होंने 21.1.1937 को निर्णय सुनाया, जिसमें वे मुख्य न्यायमूर्ति के इस निदेश से सहमत हुए कि अपील मंजूर की जाए और शासकीय समनुदेशिती का विनिश्चय प्रत्यावर्तित किया जाए। हिज मैजेस्टी को यह अपील उसी आदेश के विरुद्ध की गई है।

4. मंदिर का दावा चाहे ऋण साबित करने मात्र का माना जाए या शासकीय समनुदेशिती के हाथों में सम्पत्ति का दावा या उस पर भार का दावा माना जाए, हम उच्च न्यायालय द्वारा अनुसरित प्रक्रिया का संबंध अधिनियम के उपबंधों से जोड़ नहीं सके हैं। शासकीय समनुदेशिती वह

व्यक्ति होता है जिसमें कि दिवालिए की सम्पत्ति स्वामी के रूप में निहित होती है, यद्यपि वह दूसरों के फायदे के लिए होता है। यह दावा कि अमुक संपत्ति उसमें निहित नहीं हुई, अथवा उसमें निहित सम्पत्ति का भारसाधन का दावा अधिनियम के अधीन उसके द्वारा अधिकरण के रूप में किस प्रकार निपटाया जा सकता है यह जान पाना संभव नहीं है। ऐसे मामले में शासकीय समनुदेशिनी एक विवादी पक्षकार होता है। यदि ऐसे मामले को सबूत ग्रहण करने या अग्राह्य करने का भी मामला माना जाए, तो भी जब शासकीय समनुदेशिनी अनुसूची 2 के नियम 25 के अधीन कार्य करता है तो यह अधिक युक्तियुक्त और धारा 86 के सही अर्थ और उसी प्रकार की भाषा वाले कानूनी उपबंधों के अधीन अंग्रेजी पद्धति के अधिक अनुरूप प्रतीत होता है कि शासकीय समनुदेशिनी के “कार्य का विनिश्चय” से न्यायाधीश को “अपील” एक समावेदन (Motion) द्वारा हो और आवश्यक साक्ष्य स्वयं दिवाला न्यायालय के समक्ष लिया जाए। कम से कम इतना तो स्पष्ट है कि प्रस्तुत मामले का निर्णय शासकीय समनुदेशिनी को विचारण न्यायाधीश मानकर नहीं किया जा सकता, जिसका साक्षियों के साक्ष्य का मूल्यांकन प्रथमदृष्ट्या माना जाए। यहां ग्राह्य साक्ष्य अभिलेख पर है जैसे कि वह रूढ़ि का मान्य साक्ष्य हो और साक्षियों से ऐसे प्रश्न पूछे गए और उन्होंने उत्तर दिए जो विधि के प्रश्न हैं।

5. ग्राह्य और सुसंगत साक्ष्य बहुत ही कम होता है। प्रथमतः दिवालिया फर्म द्वारा रखी गई लेखाबहियां हैं। 1928 के पहले की लेखाबहियां उपलब्ध नहीं हैं। बताया गया कि वे जल गई हैं। किंतु 1928 और 1933 के बीच के कुछ वर्षों के खातों में एक खाता मंदिर के नाम में है जिसमें मंदिर को निक्षेपकर्ता (जमाकर्ता) दिखाया गया है, जिसकी जमा राशि 1928 में ब्याज-साहित 36,670/- रु. हो गई थी और वह पुनः-पुनः विराम के साथ चक्रवृद्धि ब्याज जोड़ने से (जो विराम भिन्न-भिन्न थे) बढ़ती रही और 1932 में 48,915/- रु. 10 आ. हो गई। प्रविष्टियों में ब्याज “थवनई” दर पर बताया गया, अर्थात् राशि नियत काल के लिए (दृश्यतः दो मास के लिए) ऐसे ब्याज पर जमा जो प्रत्येक अवधि के लिए उपयुक्त हो। यह पता चलाना संभव नहीं है कि जमा की पहली प्रविष्टि किस तारीख को की गई या उसकी ठीक शर्तें क्या थीं और पहली बार कितनी राशि जमा की गई। किंतु प्रत्यर्थियों की ओर से संकेत किया गया कि ये प्रविष्टियां अधिसंभाव्यतः रमास्वामी के पिता के समय से हैं। रोजमर्रा में भी कुछ प्रविष्टियां उसी आशय की हैं। लेखाओं में मंदिर द्वारा कभी कोई रुपया

निकाला जाना नहीं दिखाया गया है । मंदिर द्वारा या उसकी ओर से रखी गई कोई लेखाबहियां पेश नहीं की गई हैं ।

6. दिवालिए की लेखाबहियों की प्रविष्टियों के अतिरिक्त एक साक्षी सुब्रमण्यम् चेट्टियर का बयान है जो शासकीय समनुदेशिनी के समक्ष दिया गया था । वह दावेदारों में से एक था क्योंकि वह उन सात व्यक्तियों में से एक था जिन्होंने मंदिर के न्यासी होने का दावा करते हुए शपथपत्र दाखिल किए थे । उसने बयान दिया कि प्रत्येक न्यासी मंदिर के कामकाज का प्रबंध चक्रानुक्रम से एक वर्ष तक करता है । उसने बताया कि वह ओसिरुवायाल का है और दिवालिए के पिता रमास्वामी को जानता था । उसने स्पष्ट किया कि इस देवता की पूजा सात कुल करते हैं ; प्रत्येक कुल का आयु में ज्येष्ठतम सदस्य न्यासी के रूप में कार्य करता है, आय-व्यय का हिसाब रखता है, किंतु मंदिर को दिए गए दान का हिसाब नहीं रखा जाता । उसके बयान में मुख्य बात यह थी कि दिवालिए के पिता रमास्वामी ने उसके समक्ष 20 वर्ष पूर्व कहा था “एस. ए. आर. एम. फर्म रंगून में अलगिया नचियार के नाम में धन है और मैंने वह राशि पूर्ण प्रयोजनार्थ अपनी फर्म में अलग रखी है और मैं जब भी अपेक्षा की जाए वह राशि मंदिर के खर्चों के लिए भेज सकता हूं ।”

7. साक्षी ने स्पष्ट किया है कि रमास्वामी सबसे बड़ा भाई था और अन्य भाई अवयस्क थे, अतः वही एस. ए. कुटुम्ब के कामकाज का प्रबंध 5-6 वर्ष तक करता रहा और उसकी मृत्यु (1936 से) 16-17 वर्ष पूर्व हो गई है । साक्षी ने आगे कहा कि उसके द्वारा बताई गई बातचीत के बाद वह दो बार रमास्वामी के पास गया और उससे मंदिर के प्रयोजनार्थ धन प्राप्त किया । इस धन की बाबत कोई हिसाब पेश नहीं किया गया और न कोई विवरण बताया गया । यह बयान बहुत संदिग्ध है, विशिष्टतः इस कारण कि यह उचित तौर पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूर्ति के प्रबंधक फर्म की लेखाबहियों में राशि जमा होने की बात से अनभिज्ञ थे । यदि उन्होंने हाल के वर्षों में कोई दावा किया होता या धन प्राप्त किया होता तो उसे साबित करने के लिए साक्ष्य सरलता से उपलब्ध होता । न्यायमूर्ति डंकले के अनुसार यह उभयपक्ष को मान्य है कि प्रबंधक राशि जमा होने की बात से पूर्णतः अनभिज्ञ थे। किंतु, जैसा कि उन विद्वान् न्यायाधीश ने लिखा, सुब्रमण्यम् का बयान जितना हानि-रहित है उतना ही अविश्वसनीय भी है ।

8. दिवालियों के लिपिक का बयान भी कोई सहायता नहीं करता ।

किंतु दो चेट्टियर व्यापारी बुलाए गए । दृश्यतः ऐसा यह स्पष्ट करने के लिए किया गया कि चेट्टियर फर्मों की खैरात और मंदिरों के लिए राशि अपनी लेखाबहियों में जमा दिखाने की पद्धति क्या थी और उसका आशय क्या होता था । उनके बयानों की सही तौर पर लेने पर उनका आशय हमें यह प्रतीत होता है कि फर्म प्रायः कुछ राशि पूर्ण प्रयोजनार्थ जमा दिखाती हैं ; यदि कोई विशिष्ट राशि किसी विशिष्ट देवता के नाम जमा की जाती है तो आशय यह होता है कि उस देवता को कतिपय अधिकार प्राप्त होते हैं ; उस समय यह आशय नहीं होता कि कोई धन अलग से विनिहित किया जाए या फर्म के कारोबार में उपयोग से निकाल लिया जाए ; उस देवता को देय राशि पर ब्याज उस सामान्य दर पर जमा किया जाता रहता है जो फर्म के ग्राहकों को अनुमत होता है ; यह उस दर से कम होती है जो कि फर्म अपने धन के उपयोग से प्राप्त करती है ; देवता के प्रबंधकों को यह अधिकार नहीं होता कि जब चाहें तब धन मांग लें, किंतु धन का व्यय फर्म के विवेकानुसार जब भी अवसर आए देवता के लिए किया जाना चाहिए ; दूसरे शब्दों में नियंत्रण फर्म के पास रहता है । यह साक्ष्य इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि यह मंदिर की ओर से प्रस्तुत किए गए पक्ष के प्रति संकेत करता है और क्योंकि देवता के पक्ष में राशि जमा होना स्वतः स्पष्ट नहीं होता, अतः हम इस साक्ष्य को अग्राह्य नहीं मानते । यह दूसरी बात है कि वह सही है या नहीं । यहां विचारणीय एकमात्र प्रश्न के प्रयोजनार्थ उसे सही मान लिया जाए । किंतु साक्षियों की उनके द्वारा वर्णित संव्यवहार के विधिक प्रभाव के बारे में राय अग्राह्य और अनुपयोगी भी है ।

9. अपीलार्थियों के विद्वान् अधिवक्ता ने मंदिर के न्यासियों के इस अधिकार का विरोध नहीं किया है कि प्रश्नगत जमा राशि के विषय में वे अप्रतिभूत लेनदारों में गिने जाएं । किंतु वे अपील न्यायपीठ के उस विनिश्चय का विरोध करते हैं जिससे शासकीय समनुदेशिनी का यह निष्कर्ष प्रत्यावर्तित कर दिया जाए कि ये राशियां दिवालिए की आस्तियों में से पूरी की पूरी देय हैं । अतः हमें इस तर्क की परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है कि दिवालिए की लेखाबहियों में की गई ये प्रविष्टियां किसी विधिक दायित्व का सृजन नहीं करती । यह प्रश्न गंभीर हो सकता है और जटिल भी । अवधारणार्थ एकमात्र प्रश्न यह है कि दिवालिया फर्म का जो करना साबित किया गया है क्या वह इस बात के लिए पर्याप्त था कि उन्हें मंदिर के फायदे के लिए किसी निधि का न्यासी बनाए या क्या वह हिंदू विधि में देवता के लिए विन्यास की कोटि में आता है । चूंकि हिंदू

विधि में विन्यास का सृजन किसी लेख के बिना, कोई न्यासी नियुक्त किए बिना तथा अपनी सम्पत्ति देवता से भिन्न अन्य व्यक्ति में निहित किए बिना किया जा सकता है, अतः प्रत्यर्थियों के विद्वान् अधिवक्ता ने हिंदू विधि पर ही अपना पक्ष आश्रित करना पसंद किया । किंतु यह विवादित नहीं हो सकता कि प्रत्यर्थियों का पूरी की पूरी अदायगी का अधिकार तब तक साबित नहीं हो सकता जब तक कि कोई न्यास या विन्यास न हो ।

10. हमें यह उचित तौर पर स्पष्ट लगता है कि प्रस्तुत मामले में किसी सम्पत्ति का विन्यास नहीं था और न दिवालिया फर्म का यह आशय था कि वह सम्पत्ति देवता के न्यासों के रूप में धारण करे । इस दृष्टिकोण से हम न्यायमूर्तिगण श्री ब्राण्ड और श्री डंकले से सहमत हैं । इस मान्यता (कल्पना) से भी बचना उचित है कि क्योंकि संव्यवहार का दूसरा पक्ष देवता था अतः दिवालियों ने अवश्य ही अपने को न्यासी बनाया होगा । यदि रमास्वामी के पिता ने अपनी लेखाबहियों में पूर्त के रूप में या वचन के रूप में जमा राशि दिखाने की बजाय यह दिखाया होता कि फर्म मंदिर के न्यासियों को इतनी राशि की किराए के रूप में देनदार है और उसे ब्याज जोड़कर बाद में देने की अनुमति है तो यह स्पष्ट है कि फर्म न्यासी नहीं होती । न्यासियों का धन देने की प्रसंविदा से कोई न्यासी नहीं हो जाता । दिवालियों की लेखाबहियों की प्रविष्टियां प्रथमदृष्ट्या फर्म का यह आशय प्रकट करती हैं कि फर्म अपने को मंदिर का ऋणी मानती है, जिस ऋण की राशि समय के साथ बढ़ती जाएगी । वे ऋणी होने को सहमत हुए अतः वे न्यासी माने जाने चाहिए, यह निष्कर्ष औचित्य-विहीन ही नहीं अपितु उनके उस आशय से असंगत भी होगा जो उनके इस आचरण से प्रकट होता है कि उन्होंने कोई आस्तियां आबंटित नहीं की और वे पूरी राशि अपने कारबार में यथापूर्व प्रयोग करते रहे और ब्याज की गणना उस दर और ढंग से की जो मामूली ग्राहक को लागू होते हैं । यदि प्रत्यर्थियों के साक्षियों का कहना सही हो तो ये प्रविष्टियां दिवालियों को एक प्रकार से ऋणी ही बनाती हैं और वह उनसे कम दुर्भर शर्तों पर जो मामूली ग्राहक के संबंध में लागू होती हैं ऐसी शर्तें जिससे कि उनकी मंदिर के प्रति बाध्यता उनके विरुद्ध अप्रवर्तनीय हो जाए या न हो जाए । इससे यह और भी अयुक्तियुक्त लगता है कि यह निर्णय किया जाए कि उनका आशय न्यासी की बाध्यताएं अंगीकार करने का था । इस बात का कोई साक्ष्य नहीं है कि किसी समय स्वयं दिवालिया फर्म को मंदिर की ओर से कोई राशि स्वयं दी गई । प्रत्यर्थियों के साक्षी ने चेट्टियर फर्मों का हवाला दिया है जो विशिष्ट देवता के नाम में राशि पूर्त के रूप में जमा करती हैं और किसी दशा में

इससे किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी कि धन को अलग किया जाए और फिर उसे मिलाया जाए, सिवाय उस दशा के जब कि फर्म का आशय न्यास-भंग दिखाने का हो ।

11. यही कारण इस बात को भी नासाबित करने के लिए उतने ही जोरदार हैं कि ये प्रविष्टियां देवता के लिए सम्पत्ति के विन्यास का सृजन करती हैं । उस पर उठने वाला पहला प्रश्न यह है कि कौन-सी सम्पत्ति देवत्तर बनाई गई है या मूर्ति के पक्ष में भारित की गई है ? दूसरा प्रश्न है कि ऐसे किसी आशय का सबूत क्या है ? दिवालिया फर्म के आचरण से निष्कर्ष निकालने पर विन्यास की धारणा पूर्णतः ध्वस्त हो जाती है और उसी प्रकार से यह धारणा भी कि फर्म का आशय अपने को मंदिर का न्यासी घोषित करने का था । अतः इस पर विचार करना अनावश्यक है कि क्या इस मामले की परिस्थितियों में प्रत्यर्थियों के इस प्रयास में अजेय कठिनाइयां आती हैं कि न्यस्त धन का दिवालियों के हाथों में पता लगाएं जिससे कि यह प्रकट हो सके कि वे आस्तियां दिवालिया न्यायनिर्णयन की तारीख को विद्यमान थीं । प्रत्यर्थी यह नहीं साबित कर सके कि दिवालियों ने किसी न्यास निधि का सृजन किया, या उन्होंने ऐसी किसी निधि के या मंदिर की किसी सम्पत्ति के अभिरक्षकों या न्यासियों के रूप में कार्य किया । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील मंजूर की जानी चाहिए, अपीलकृत आदेश अपास्त किया जाना चाहिए और न्यायमूर्ति ब्राण्ड का 19.6.1936 का आदेश प्रत्यावर्तित किया जाना चाहिए । प्रत्यर्थी अपीलार्थियों का पूरी कार्यवाही का खर्चा अदा करें जिसमें कि शासकीय समनुदेशिती के समक्ष कार्यवाही का खर्चा भी है ।

अपील मंजूर की गई ।

राना उमानाथ बख्श सिंह.....अपीलार्थी

बनाम

जंग बहादुर.....प्रत्यर्थी

(अवध मुख्य न्यायालय के निर्णय¹ के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 29 सन् 1938)

निर्णीत : 8.7.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड रोमर, सर शादी लाल और सर जार्ज रैंकिन

न्यास — पिता द्वारा अपनी सम्पत्ति का पुत्र के हक में उन शर्तों पर त्यजन जो पुत्र द्वारा निष्पादित विलेख में दी गई हैं — पुत्र द्वारा निष्पादित विलेख में शर्त कि वह पिता द्वारा दी गई सम्पत्ति में जो उसकी उपपत्नी से जन्मे दो पुत्रों को एक-एक गांव और अमुक धनराशि देगा — निर्णय किया गया कि उपपत्नी से जन्मे पुत्र उक्त लिखत का पक्षकार न होते हुए भी उसके आधार पर वाद कर सकता है क्योंकि उससे उसके पक्ष में एक न्यास का सृजन हुआ ।

शब्दार्थ — “इताअत” — इसका अर्थ आज्ञाकारिता किया जाए या निष्ठा, प्रस्तुत मामले में इसका अभाव नहीं माना गया — हिंदू पिता की मुसलमान पत्नी से जन्मे दो पुत्रों को सम्पत्ति देने का वचन इस आधार पर कि वह “इताअत” करे — पिता की मृत्यु के बाद उपपत्नी और उसके दोनों पुत्र गांव छोड़कर अपने यहां चले गए और दोनों पुत्र भी मुसलमान हो गए — इस बात का कोई सबूत नहीं कि वचनदाता ने उन्हें कभी बुलाया और वे नहीं आए — पुत्रों के हिंदू त्यौहारों पर भेंट आदि न देने से “इताअत” का अभाव नहीं माना गया ।

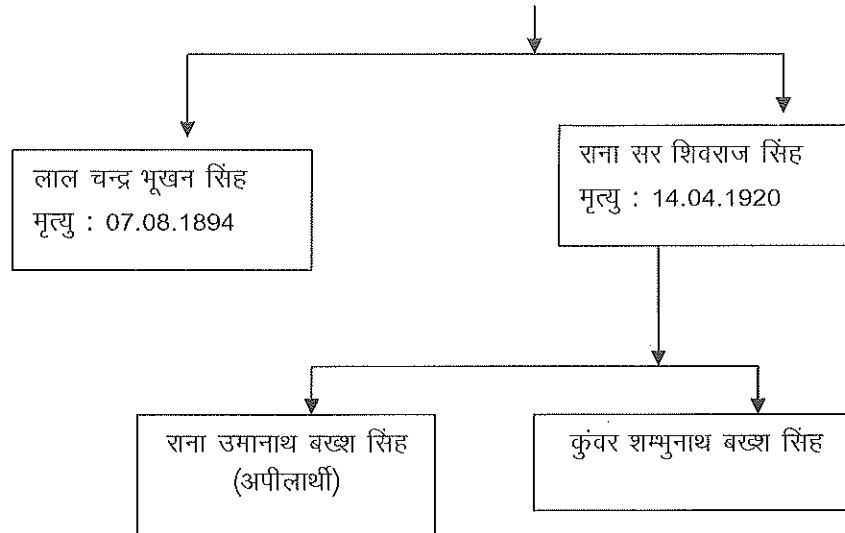
निर्णय

राना सर शंकर बख्श सिंह

जन्म : 1840

मृत्यु : 1897

¹ आ. इ. रि. 1937 अवध 99.



राना सर शंकर बख्श सिंह खजूरगांव के ताल्लुकेदार थे । 1890 में उन्होंने एक वसीयत लिखी जिसमें अपने बड़े पुत्र लाल चन्द्र को अपना उत्तराधिकारी बनाया । किंतु लाल चन्द्र की 1894 में मृत्यु हो जाने पर सर शंकर बख्श सिंह ने 1.11.1894 को एक क्रोडपत्र (कोडीसिल) द्वारा नया व्ययन किया । इस क्रोडपत्र द्वारा उन्होंने अपने छोटे पुत्र शिवराज को अपनी जंगम और स्थावर सब सम्पत्ति दी, जिसमें खजूरगांव वाली सम्पदा भी शामिल थी, किंतु उन्होंने साथ ही यह व्यवस्था भी कर दी कि शिवराज अपने बड़े पुत्र उमानाथ सिंह को छोड़कर किसी को अपनी उपस्थिति में सम्पदा का स्वामी और उत्तराधिकारी नहीं बनाए । इस उपबंध की विधि की दृष्टि से प्रभाव की चर्चा अनावश्यक है । सर शंकर बख्श सिंह की मृत्यु 1897 में हो गई । शिवराज सिंह उनके उत्तराधिकारी हो गए और फिर वह सर शिवराज सिंह के.सी.आई.ई. हो गए । 9.5.1913 को दो लिखतें लिखी गई । पहली, एक दस्तबरदारी थी जिसके पक्षकार शिवराज, प्रतिवादी-अपीलार्थी उमानाथ और उसके भाई शम्भुनाथ थे । इस विलेख द्वारा शिवराज सिंह ने अपने सब अधिकार और सम्पत्ति प्रतिवादी अपीलार्थी के पक्ष में त्यक्त कर दिए जिनमें तत्काल कब्जा देना तात्पर्यित किया। विलेख में उपबंध है कि प्रतिवादी अपीलार्थी शिवराज का ऋण अदा करे और वह शिवराज को देय सब ऋण प्राप्त और वसूल करने का हकदार होगा । उसके छठे खंड में एक समकालीन लिखत का उल्लेख है :—

“(6) मैं घोषणाकर्ता सं. 2 (उमानाथ) एतद्द्वारा सहमत होता हूं कि मैं आज अपने द्वारा घोषणाकर्ता सं. 1 (शिवराज) के पक्ष में निष्पादित विलेख में दी गई शर्तों का पालन करता रहूंगा ।”

2. दूसरी लिखत इकरारनामा या करार कही गई है। वह केवल उमानाथ ने लिखी। उसमें कहा गया है कि उसके पिता शिवराज ने उसको उत्तराधिकारी नियुक्त करके कब्जा दे दिया। उसमें उपबंध है कि एक गांव शिवराज के भरण पोषण के लिए अलग रखा जाएगा। शिवराज को उसके अतिरिक्त नकद 7,045/- रु. मिलेंगे और अन्य राशि भी उसके सब ऋण चुक जाने के बाद मिलेगी। उमानाथ ने इस विलेख में यह भी वचन दिया कि शिवराज की पत्नी को 3,000/- रु. वार्षिक और श्रीमती सरवर को 2,000/- रु. वार्षिक देगा। श्रीमती सरवर एक उपपत्नी थी जो खजूरगांव में ही रहती थी और जिसके शिवराज से दो पुत्र थे एक वादी जंग बहादुर और दूसरा बम बहादुर। इकरारनामे का खंड (4) निम्न प्रकार था :—

“(4) मैं निष्पादी उपर्युक्त वेश्या श्रीमती सरवर के अवयस्क पुत्रों जंग बहादुर और बम बहादुर को उनके वयस्क होने पर 50,000/- रु. निम्नलिखित प्रकार से दूंगा ; शर्त यह है कि वे आज्ञाकारी रहें। जंग बहादुर को 30,000/- रु. और बम बहादुर को 20,000/- रु.। उनके वयस्क होने पर मैं जंग बहादुर को मठियापुर गांव, परगना डलमऊ तथा बम बहादुर को गांव उधवामऊ, परगना सरेनी का कब्जा दे दूंगा। उन्हें विरासत का अधिकार होगा, किंतु अंतरण करने की शक्ति नहीं होगी। उक्त व्यक्ति और उनके वारिस अपने कब्जे की तारीख से भू-राजस्व, उपकर और ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन व केनिंग कालेज के चन्दे देते रहेंगे और भू-राजस्व के लिए 10 प्रतिशत की अतिरिक्त राशि मालिकाना अधिकार के रूप में मुझ निष्पादी और मेरे वारिसों को देते रहेंगे। उपर्युक्त राशि नकद प्राप्त करने और गांवों का कब्जा रखने के अतिरिक्त उक्त व्यक्ति संपदा से कोई गुजारा या भत्ता प्राप्त करने के हकदार नहीं होंगे। यदि किसी कारणवश मैं जंग बहादुर को मठियापुर गांव का कब्जा न दे पाऊं तो उपर्युक्त शर्त के अनुसार उसे दूसरे गांव का कब्जा दे दूंगा, जिसका मुनाफा उतना ही हो और जो उसी किस्म का हो।”

3. इन विलेखों के तुरंत बाद नामांतरण कार्यवाही हुई जिसमें राजस्व अभिलेखों में शिवराज के स्थान पर उमानाथ का नाम प्रतिस्थापित किया गया। 14.4.1920 को शिवराज की मृत्यु हो गई। दृश्यतः 1924 और 1927 के बीच किसी समय श्रीमती सरवर और पुत्र दूसरे गांव में अपने लोगों के साथ रहने के लिए खजूरगांव छोड़कर चले गए और उस समय वादी प्रत्यर्थी जंग बहादुर और उसका छोटा भाई बम बहादुर दोनों ही

अवयस्क थे। जंग बहादुर 2.5.1930 को वयस्क हो गया। 7.9.1931 को जंग बहादुर ने एक वाद दायर किया जिससे यह अपील उद्भूत हुई। वाद अपीलार्थी उमानाथ के विरुद्ध था जिसमें 9.5.1913 के विलेख के खंड (4) के अधीन 30,000/- रु. की राशि तथा उस विलेख की शर्तों के अनुसार मठियापुर गांव अथवा समान मूल्य के अन्य गांव के कब्जे का दावा था। विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने अनेक विवाद्यक विरचित किए और विचारण में उन पर बहस हुई; किंतु अंत में विद्वान् न्यायाधीश इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि वादी गांव के कब्जे की या उस पर हक की घोषणा की किसी डिक्री का हकदार नहीं है। उन्होंने यह भी पाया कि वादी दावाकृत 30,000/- रु. की डिक्री का भी हकदार नहीं है क्योंकि उसने उपर्युक्त खंड (4) में वर्णित इताअत अर्थात् आज्ञा-पालन की शर्त पूरी नहीं की थी। अवध मुख्य न्यायालय को अपील की जाने पर न्यायमूर्तिगण नानावती और जिया-उल-हुसैन ने वह अपील मंजूर कर दी और वादी को मठियापुर गांव के कब्जे की तथा 30,000/- रु. की कुछ ब्याज, अंतःकालीन लाभ और खर्च सहित, डिक्री प्रतिवादी के विरुद्ध दे दी। इसी डिक्री के विरुद्ध प्रतिवादी ने हिज मैजेस्टी को अपील की है।

4. इस तथ्य को देखते हुए कि वादी जंग बहादुर 9.5.1913 की दो लिखितों में से किसी में पक्षकार नहीं था पहला प्रश्न यह उठता है कि केवल अपीलार्थी द्वारा निष्पादित लिखत का ऊपर उद्धृत खंड (4) जंग बहादुर के पक्ष में ऐसे न्यास की कोटि में आता है या नहीं जिससे कि वह इस बात का हकदार हो कि न्यास के पालन का दावा करे। जैसा कि भारत के न्यायालय ने निर्णय किया है, दोनों लिखतें मिलाकर एक साथ पढ़ी जानी चाहिए, और अपीलार्थी द्वारा अपने ऊपर ली गई बाध्यताएं वे हैं जिन पर उसके पिता सारी सम्पत्ति के तत्काल कब्जे का त्यजन उसके पक्ष में कर रहे थे। इसके अतिरिक्त जंग बहादुर के लिए गांव और 30,000/- रु. की व्यवस्था उस सम्पत्ति में से दी जाने को आशयित थी जिसका त्यजन किया जा रहा था। इन परिस्थितियों में इस बोर्ड के अनेक निर्णयों (नजीरों) ने अपीलार्थी के विद्वान् अधिवक्ता के लिए इस प्रतिपादना का विरोध करना कठिन कर दिया है कि उन लिखतों ने जंग बहादुर के पक्ष में न्यास का सृजन किया : नवाब उमजद अली खां बनाम श्रीमती मोहम्मदी बेगम¹, श्री लक्ष्मी नारायण अनंग गारू बनाम श्री दुर्गा माधव देव गारू²,

¹ [1866-67] 11 मूर्स इंडियन अपील्स 517.

² [1893] 16 मद्रास 268 = 20 इंडियन अपील्स 9.

नवाब ख्वाजा मोहम्मद खां बनाम हुसैनी बेगम¹, राजा रामनद बनाम सुन्दर पंढियामासी तेवर² तथा सुलेमान कादिर बनाम सलीमुल्ला बहादुर³ । हम मुख्य न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों के इस निष्कर्ष से सहमत हैं कि ऊपर उद्धृत खंड (4) का प्रभाव वादी द्वारा प्रवर्तनीय उसके पक्ष में न्यास के सृजन का था । इसके बाद अपीलार्थी के लिए प्रतिष्ठा के रूप में केवल वह शर्त बचती है जो उस खंड में हमारे समक्ष के अनुवाद में इन शब्दों में है “provided they remain obedient” (शर्त यह है कि वे आज्ञाकारी रहें) । विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश की राय थी कि शब्द “इताअत” से प्रायः विनम्र आज्ञा-पालन अभिप्रेत होता है जिसे वे यह कहकर स्पष्ट करते हैं :-

“ऐसी सविनय और स्नेहपूर्ण परिचर्या और कर्तव्य-परायणता जिसकी आशा कोई अपने बड़े निकट और प्रिय संबंधी से करेगा ।” विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने निष्कर्ष निकाला कि वादी 30,000/- रु. की राशि के बारे में इस कारण असफल होगा कि उसने इताअत करना साबित करने के लिए कोई साक्ष्य पेश नहीं किया और क्योंकि उसने प्रतिवादी की प्रांत परीक्षा नहीं की, जिसने कि इस रूप में शिकायत की थी कि वादी ने न तो होली या दशहरा या अन्य त्यौहारों के अवसर पर कोई नजर दी और न प्रतिवादी के बीमार होने पर भी वह उसे देखने आया । मुख्य न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीशों ने खंड की इस शर्त का यह अर्थ लगाया कि वादी और उसके भाई धन के हकदार इस शर्त पर होंगे कि वे प्रतिवादी के प्रति निष्ठावान् रहें। उनका विचार था कि ऐसा कुछ नहीं है जो यह प्रकट करे कि वादी ने निष्ठाहीनता का कोई कार्य किया । हम यह निर्णय करने में असमर्थ हैं कि वादी द्वारा प्रतिवादी की उसके प्रति आचरण के संबंध में की गई शिकायतें इस शर्त का भंग सिद्ध करती मानी जा सकती हैं “शर्त यह है कि वे आज्ञाकारी रहें ।” वादी की मां और उसके भाई के इस आशय के बयान का कि शिवराज की मृत्यु के 4-6 वर्ष बाद उसे तथा उसके दोनों लड़कों को प्रतिवादी ने घर से निकाल दिया था, इस प्रश्न पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है, जैसा कि मुख्य न्यायालय ने भी विचार करके मत व्यक्त किया । यह उचित तौर पर स्पष्ट है

¹ [1910] 37 इंडियन अपीलस 152.

² [1918] 46 इंडियन अपीलस 564 = ए. आई. आर. 1918 प्रि. कौ. 156.

³ 49 इंडियन अपीलस 153 (आ. इ. रि. 1922 प्रि. कौ. 107).

कि उस महिला और उसके पुत्रों की स्थिति खजूरगांव में बहुत शोचनीय थी और उसके मुसलमान होने के कारण और भी परेशानी थी और यह अस्वाभाविक नहीं था कि उसके पुत्र मुसलमान हो गए ।

5. इस धर्म-परिवर्तन से वे आज्ञाकारिता विषयक शर्त के पालन से मुक्त नहीं हो जाएंगे ; किंतु परिस्थितियों को समग्र रूप से लेने पर प्रतिवादी की शिकायत सही होने में संदेह होता है । यह संदिग्ध ही लगेगा कि त्यौहार के अवसर पर वादी के आने पर उसका स्वागत होता और किसी भी दशा में इस बात का कोई संकेत नहीं है कि प्रतिवादी ने वादी से कोई अनुरोध किया या उसे सूचना दी कि प्रतिवादी उसका साथ या उसकी उपस्थिति चाहता है । अतः केवल मात्र शिकायत कि वादी ने उस स्थान से आकर जहां उसकी मां रह रही थी हिंदू त्यौहारों के अवसर पर प्रतिवादियों के प्रति सम्मान प्रकट नहीं किया, बिल्कुल प्रभावहीन है ; और शब्द “इताअत” का अनुवाद “आज्ञाकारिता” किया जाए या “निष्ठा”, हमारा समाधान हो गया है कि प्रस्तुत मामले में इस शर्त से अपीलार्थी को कोई प्रतिरक्षा उपलब्ध नहीं होती । हमारी राय में यह अपील असफल होती है और खारिज की जानी चाहिए । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तदनुसार है । अपीलार्थी प्रत्यर्थी का खर्चा अदा करें ।

अपील खारिज की गई ।

एटार्नी जनरल, एल्बर्टा.....अपीलार्थी

बनाम

एटार्नी जनरल, कनाडा और अन्य.....प्रत्यर्थी

(कनाडा के उच्चतम न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध प्रि. कौ. अपील सं. 48
सन् 1938)

निर्णीत : 14.7.1938

उपस्थित : जस्टिस लार्ड चांसलर (लार्ड माघम), लार्ड एटकिन, लार्ड
थेंकरटन, किलोवेन के लार्ड रसेल व लार्ड मैकमिलन

ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट, 1867 – धारा 91 व 92 (2) – जब विधायन की विषय-वस्तु धारा 91 के अंतर्गत आ जाए जो डोमीनियन विधानमंडल के लिए है तो राज्य विधानमंडल धारा 92(2) के अधीन विधायन नहीं कर सकता – एल्बर्टा विधानमंडल द्वारा पारित बैंकों पर कर लगाने का कानून शक्ति बाह्य होगा ।

विधायन की न्यायिक समीक्षा – कर लगाने वाली विधि के विषय में न्यायालय कर की मात्रा को सामान्यतः प्रश्नगत नहीं कर सकता, किंतु जब कर इतना अधिक हो कि वह कार्य-संचालन ही बंद हो जाए तो कर अविधिमान्य होगा । निर्वचन – अधिनियम को जो उद्देश्य उसकी भाषा से प्रकट नहीं होता वह विधेयक पर किसी सदस्य के भाषण से नहीं निकाला जा सकता ।

प्रक्रिया – प्रिवी काउंसिल – प्रिवी काउंसिल ऐसे प्रश्न का निर्णय नहीं करती जो किसी विद्यमान विवाद के विषय में नहीं हैं – जब अधिनियम इस कारण निष्प्रभाव हो गया कि जिस अन्य अधिनियम पर वह आधारित था वही निरसित हो गया तो प्रिवी काउंसिल उस अधिनियम की संवैधानिकता के प्रश्न पर विचार नहीं करेगी ।

निर्णय संक्षेप

जस्टिस लार्ड माघम – एल्बर्टा के एटार्नी जनरल ने यह अपील कनाडा के उच्चतम न्यायालय के 4.3.1938 के निर्णय के विरुद्ध की है । कनाडा के सुप्रीम कोर्ट ऐक्ट की धारा 55 के अधीन निर्देश में उस न्यायालय ने एल्बर्टा विधानमंडल द्वारा पारित तीन विधेयक शक्ति-बाह्य

घोषित किए हैं। ये विधेयक गवर्नर ने गवर्नर जनरल की अनुमति के लिए आरक्षित कर लिए थे और गवर्नर जनरल ने उक्त निर्देश कर दिया था। ये विधेयक हैं :—

(क) विधेयक सं. 1 जो बैंकों के कराधान के विषय में था।

(ख) विधेयक सं. 8 जो एल्बर्टा उधार विनियमन अधिनियम के संशोधन के लिए था।

(ग) विधेयक सं. 9 जो सही समाचार और जानकारी के प्रशासन के लिए था।

2. इनमें से विधेयक सं. 8 और 9 क्रियान्वयन के लिए एल्बर्टा सामाजिक उधार अधिनियम, 1937 (एल्बर्टा सोशल क्रेडिट ऐक्ट) पर निर्भर थे। इस अपील की कार्यवाही के दौरान उक्त अधिनियम निरसित कर दिया गया है। अतः इन दोनों विधेयकों की संवैधानिकता पर विचार की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। “यह इस बोर्ड की बहुत समय से सुस्थापित पद्धति के विपरीत है कि ऐसी अपील ग्रहण करे जो सृजित या सृजित करने के लिए तात्पर्यित विद्यमान अधिकारों से संबंधित न हो।” अतः हमने इन दोनों विधेयकों के बारे में बहस नहीं सुनी।

3. प्रश्न विधेयक सं. 1 शेष है। यह बैंकों पर कराधान के विषय में है। इसके द्वारा एल्बर्टा में स्थित बैंककारी कंपनियों और बचत बैंकों पर एल्बर्टा राज्य के प्रयोजनार्थ एक कर लगाया गया है जो उस बैंक की सारी समादत्त पूंजी का 1/2 प्रतिशत और आरक्षित निधि तथा अविभक्त लाभ पर 1 प्रतिशत की दर से है। यह विधेयक ब्रिटिश नार्थ अमेरिका ऐक्ट की धारा 92(2) द्वारा प्रदत्त शक्ति के प्रयोग में बताया गया है। उसका विषय है — “प्रांतीय प्रयोजनार्थ राजस्व उगाहने के लिए प्रांत के अंतर्गत प्रत्यक्ष कराधान।” यह उल्लेखनीय है कि इसके लिए केवल बैंकों को चुना गया है। यह भी स्मरणीय है कि केवल धन की आवश्यकता अथवा पूर्ति कानून को विधिमान्य नहीं बना देगी। परस्पर विरोधी कराधान करके राज्य विधानमंडल इस प्रकार कार्य कर सकता है कि जो क्रियाकलाप डोमीनियन विधानमंडल की अधिकारिता में हैं उन्हें अपने राज्य में असंभव बना दे। स्पष्ट यह है कि इस प्रकार का राज्य विधेयक संवैधानिक नहीं होगा। जो प्रांतीय अधिनियम डोमीनियन की शक्तियों में कुछ हस्तक्षेप करता है वह शक्ति-बाह्य है या नहीं, इसका निर्णय प्रत्येक मामले के अपनी तथ्यों के आधार पर करना होगा क्योंकि कोई सामान्य सिद्धांत नहीं बताया जा

सकता : जान डियर प्लाओ कं. लि. बनाम व्हार्टन¹ और ग्रेट वेस्ट सेडिलरी कं. बनाम राजा² निर्णय दोनों पक्ष के हैं। एबट बनाम सिटी आफ सेण्ट जॉन³, फोर्ब्स बनाम एटार्नी जनरल, मनीटोबा⁴ व ससकशेवान जजेज बनाम एटार्नी जनरल, ससकशेवान⁵ इनमें विधि विषयक मतभेद कोई नहीं है। प्रत्येक निर्णय अपने तथ्यों पर आधारित है।

4. प्रस्तुत प्रश्न के लिए हमें इन दो धाराओं द्वारा दी जाने वाली शक्तियों के वितरण की योजना देखनी होगी। दोनों धाराओं के विषयों को स्वतंत्र रूप से देखने पर एक की दूसरे में अतिव्याप्ति प्रतीत होगी। अतः स्थिति समग्र रूप में देखनी होगी। इसके अतिरिक्त धारा 91 में कथन किया गया है कि उसकी किसी प्रविष्टि में आने वाला विषय किसी राज्य की अधिकारिता में नहीं माना जाएगा। यह भी निर्णय किया जा चुका है कि यदि कोई विषय धारा 91 के अंतर्गत आता है तो वह धारा 92 के अंतर्गत आने वाला नहीं माना जाएगा, देखिए – एटार्नी जनरल ओण्टेरियो बनाम एटार्नी जनरल, कनाडा⁶ तथा ग्रे वेस्ट सेडिलरी कंपनी⁷ वाला निर्णय। अतः दोनों धाराओं की तुलना करनी होगी। उससे ही तो निष्कर्ष नहीं निकल आएगा, किंतु निष्कर्ष निकालने में सहायता अवश्य मिलेगी। फिर देखना होगा कि प्रश्नगत विधेयक का प्रभाव क्या है यूनियन कोलियरी कं. ऑफ बी.सी. लि. बनाम ब्राइडेन⁸ उसके लिए बहुत-सी पिछली बातों की न्यायिक अवेक्षा करनी होगी तथा साक्ष्य भी लिया जा सकता है। इसके लिए संबंधित अधिनियम भी देखा जा सकता है। प्रस्तुत अधिनियम का उद्देश्य कसाधान बताया गया है। किंतु इतना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि डोमीनियम के या प्रान्तीय विधानमंडल को यह अनुमत नहीं है कि अपनी शक्ति के प्रयोग के आवरण में ऐसे उद्देश्य की पूर्ति करे जो उसकी शक्ति के बाहर है : एटार्नी जनरल, ओण्टेरियो बनाम रेसीपोकल इंश्योरेंस⁹ व

¹ [1915] अपील केसेज 330.

² [1921] 2 अपील केसेज 91.

³ [1908] 40 कसा. सु. को. रिपोर्ट 260.

⁴ [1937] अपील केसेज 260.

⁵ [1937] 2 डो. ला. रिपोर्ट 209.

⁶ [1896] अपील केसेज 348.

⁷ [1921] 2 अपील केसेज 91.

⁸ [1899] अपील केसेज 584.

⁹ [1924] अपील केसेज 328.

इंश्योरेंस ऐक्ट ऑफ कनाडा¹ का मामला । यहां भी यह देखना होगा कि किन बातों की न्यायिक अवेक्षा की जा सकती है और साक्ष्य भी लिया जा सकता है । यह स्मरणीय है कि अधिनियम का जो उद्देश्य उसकी भाषा से प्रकट नहीं होता है वह किसी एक सदस्य के भाषण से नहीं निकाला जा सकता, क्योंकि अधिनियम संयुक्त चिंतन का परिणाम होता है ।

5. उक्त दृष्टिकोण से हम प्रश्नगत विधेयक की परीक्षा करें । यह स्पष्ट है कि कर केवल बैंकों और बचत बैंकों पर लगाया गया है जबकि धारा 91 के अनुसार बैंककारी और बचत बैंक अनन्य रूप से डोमीनियन के प्राधिकार में हैं । फिर, यह भी विचित्र लगता है कि केवल बैंकों को चुना गया । वस्तुस्थिति इस प्रकार प्रतीत होती है कि प्रांतीय वित्तीय व्यवस्था के पुनर्गठन के क्रम में बैंकों पर कर बहुत बढ़ाया जा रहा है । 1937 में ही बैंकों को चुना गया । 1937 में ही बैंकों पर कुल कर 72,200 डालर वार्षिक था । चेप्टर 57 द्वारा उसमें 1,40,000 डालर वार्षिक की वृद्धि कर दी गई और प्रश्नगत विधेयक द्वारा 20,81,925 डालर प्रतिवर्ष अतिरिक्त कर वसूलने की प्रस्थापना है । उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों का यह निष्कर्ष सही था कि प्रश्नगत कर इतना अधिक है कि यदि प्रत्येक प्रांत बैंकों पर कर लगा दे तो बैंक ही बंद करने होंगे । यह पुनः उल्लेखनीय है कि कर बैंक की एल्बर्टा की ही नहीं अपितु संपूर्ण समादत्त पूंजी और आरक्षित निधि पर है ।

6. अपीलार्थी का यह तर्क सही है कि न्यायालय विधानमंडल की बुद्धिमत्ता की परीक्षा नहीं कर सकता और उस विषय में विधानमंडल के विचार के स्थान पर अपने विचार नहीं रख सकता । किंतु जहां कर इतना अधिक है कि कारबार ही रुक जाए वहां वह सिद्धांत लागू नहीं होता । वास्तव में इस विषय के इतिहास के अध्ययन से प्रकट होगा कि एल्बर्टा का यह विधायन वित्तीय पुनर्गठन की दृष्टि से है और उसमें बैंक पर नियंत्रण की विचारधारा भी अभिव्यक्त रूप से कार्य कर रही है । उस दिशा में कई विधेयक पारित किए गए हैं । ये विधेयक वास्तव में कराधायी होने की बजाय एक विधायी योजना के भाग हैं कि इन प्रांतों में वे बैंककारी संस्थाएं कार्य न कर सकें जो कनाडा की संसद् के प्राधिकार से अस्तित्व में आईं और क्रियाशील हैं । यह आधार विधेयक को असंवैधानिक ठहराने के लिए पर्याप्त है ।

¹ [1932] अपील केसेज 41.

7. बैंक ऑफ टोरण्टो बनाम बानम लेम्बे (1887) अपील केसेज 575 का अनेक बार आश्रय लिया गया । किंतु वहां प्रस्तुत प्रश्न नहीं था । वहां यह नहीं कहा गया था कि क्वेबेक का प्रश्नगत अधिनियम डोमीनियन विधानमंडल की अधिकारिता का अतिक्रमण करता है और न यह कहा गया था कि इसका उद्देश्य राजस्व की वसूली के अलावा कोई और है । उसके संदर्भ में की गई उक्ति यहां लागू नहीं होगी ।

8. उपर्युक्त कारणों से ही हम हिज मैजेस्टी को विनम्र सलाह देने को प्रेरित हुए कि यह अपील खारिज कर दें ।

अपील खारिज की गई ।

कार्यालय आदेश तारीख 13 फरवरी, 2017 के अनुसार विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों पर छूट देने की सूची

क्रम सं.	पुस्तक का नाम, लेखक का नाम व प्रकाशन वर्ष (संस्करण)	पुस्तक की मुद्रित कीमत (रुपयों में)	7 वर्ष से पुराने संस्करण पर 35% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)	8 से 15 वर्ष पुराने संस्करण पर 50% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)	15 वर्ष से अधिक पुराने संस्करण पर 75% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)
1.	भारत का विधिक इतिहास - श्री सुरेन्द्र गधुकर - 1989	30	—	—	8
2.	माल विक्रय और परक्राम्य लिखत विधि - डा. एन. वी. पराजपे - 1990	40	—	—	10
3.	वाणिज्य विधि - डा. आर. एल. भट्ट - 1993	108	—	—	27
4.	अपकृत्य विधि के सिद्धांत - श्री शर्मन लाल अग्रवाल - 1993	40	—	—	10
5.	अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय - डा. एस. सी. खरे - 1996	115	—	—	29
6.	श्रम विधि - श्री गोपी कृष्ण अरोड़ा - 1996	452	—	—	113
7.	संविदा विधि - डा. रामगोपाल चतुर्वेदी - 1998	275	—	—	69
8.	चिकित्सा न्यायशास्त्र और विष विज्ञान - डा. सी. के. पारिख - 1999	293	—	—	74
9.	आधुनिक पारिवारिक विधि - श्री राम शरण माथुर - 2000	429	—	—	108
10.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय) - विधि साहित्य प्रकाशन - 2000	225	—	—	57
11.	हिन्दू विधि - डा. रवीन्द्र नाथ - 2001	425	—	—	106
12.	भारतीय भागीदारी अधिनियम - श्री माधव प्रसाद वशिष्ठ - 2001	165	—	—	41
13.	प्रशासनिक विधि - डा. कैलाश चन्द्र जोशी - 2001	200	—	—	50
14.	भारतीय दंड संहिता - डा. रवीन्द्र नाथ - 2002	741	—	—	185
15.	विधिक उपचार - डा. एस. के. कपूर - 2002	311	—	—	78
16.	विधि शास्त्र - डा. शिवदत्त शर्मा - 2005	580	—	290	—
17.	मानव अधिकार - डा. शिवदत्त शर्मा - 2006	120	—	60	—

**विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001**

भारत के समाचारपत्रों के रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्ट्रीकृत रजि. सं. 16288/68

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं – उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है। उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिकाओं में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के क्रमशः चयनित सिविल और दांडिक निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है। इन पत्रिकाओं को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए इनमें जनवरी, 2010 के अंक से महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिनियमों का प्राधिकृत हिन्दी पाठ पाठकों की सुविधा के लिए शृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका को उपादेय और ज्ञानवर्द्धक बनाने के लिए प्रिवी काउंसिल के निर्णयों को भी समाविष्ट किया जा रहा है। उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 195/- उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- है। तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ के भागी बन कर अनुगृहीत करें।

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105